मानवजाति
का
संघर्ष और प्रगति

मिलने का पता

हिन्दी भवन,

अनारकली,

लाहौर

२॥≡)

३।=)

मानव जाति का

संघर्ष और प्रगति

१. अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियां

२. भारतवर्ष स्वराज्य की ओर

३. वैज्ञानिक प्रगति

—:❀:—

लेखक—

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

प्रकाशचन्द्र सूरी एम. ए.

रामस्वरूप थापर एम. एस-सी.

दूसरा संस्करण] अगस्त १९४१ [मूल्य २॥)

प्रकाशकः—

साहित्य भवन

१५, फेन रोड, लाहौर



मुद्रकः—

ला० देसराज चोपड़ा,

चोपड़ा प्रिंटिंग प्रेस, लाहौर

भूमिका

संसार का भविष्य आज अनिश्चित है। परिस्थितियां बड़ी तेज़ी से बदल रही हैं। कोई नहीं कह सकता कि निकट-भविष्य में क्या होने वाला है। मानव जाति का संघर्ष आज अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है। एक बार तो यह भय प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग की संपूर्ण सभ्यता कहीं इस महायुद्ध में नष्ट-भ्रष्ट न होजाय।

पिछले महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की नींव डाली गई थी। उस महायुद्ध से, पुराण-वर्णित समुद्र मन्थन के परिणाम के समान, विष की एक बड़ी मात्रा के साथ-साथ इतना ही अमृत निकला था। संसार के विचारकों को इस बात की आशा बंध गई थी कि शायद अब उत्कट राष्ट्रीयता की भावना का स्थान अन्तर्जातीयता लेले; शायद मानव जाति में मानव-प्रेम और अन्तर्जातीयता का भाव पनप उठे। परन्तु वैसा नहीं हुआ। महायुद्ध के बाद पहले कुछ वर्ष तो युद्ध का प्रभाव मिटाने में लग गए। उसके बाद संसार के सभी राष्ट्र अपनी सम्पत्ति और शक्ति बढ़ाने में तत्पर होगए। राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा की भावना दिन दूनी

और रात चौगुनी बढ़ने लगी । इसी राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा ने तानाशाही को जन्म दिया और आज, पिछले महायुद्ध की समाप्ति के सिर्फ़ २१ वर्ष बाद ही, संसार के दो प्रमुख प्रजातंत्रों और संसार की विकटतम तानाशाही में पुनः महायुद्ध जारी है ।

इस पुस्तक में हमने उन सब परिस्थितियों पर प्रकाश डालने का भरसक प्रयत्न किया है, जिन्होंने वर्तमान महायुद्ध को जन्म दिया । पिछले महायुद्ध से लेकर आज तक संसार में जो बड़ी-बड़ी घटनाएं और महान आन्दोलन हुए, उन सबका दिग्दर्शन इस पुस्तक के प्रथम भाग में किया गया है । इस तरह इस पुस्तक के प्रथम भाग को हम "अन्तर्राष्ट्रीय प्रगतियों और प्रवृत्तियों" का भाग कह सकते हैं ।

दूसरे भाग में भारतवर्ष के वर्तमान शासनविधान और नागरिक तन्त्र पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है । भारतवर्ष जिस प्रकार क्रमशः स्वराज्य के पथ पर अग्रसर हो रहा है, उसका वर्णन इस भाग में है । भारतीय शासन विधान पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालना इसलिए आवश्यक समझा गया, कि वर्तमान भारतीय शासन-विधान का एक भाग, संघ-शासन, तो अब सरकारी तौर पर ही स्थगित कर दिया गया है । उस के स्थान पर संघ-शासन का अब कौन-सा स्वरूप निश्चित होगा, यह नहीं कहा जा सकता । शासन विधान का दूसरा भाग, प्रान्तीय शासन, भी आज भातवर्ष के सात प्रान्तों में स्थगित हो चुका है । सम्भव है कि यह प्रान्तीय शासन-विधान पुनः कार्य-रूप में आने लगे । परन्तु वर्तमान महायुद्ध के बाद भी प्रांतीय शासन विधान का यही रूप रहेगा, यह कहना कठिन है ।

पुस्तक के तीसरे भाग में वैज्ञानिक प्रगति पर प्रकाश डाला गया है। सृष्टि रचना के प्रारम्भ से लेकर मानव जाति के विकास और उसके द्वारा किए गए आविष्कारों का, अत्यन्त संक्षिप्त, परन्तु मनोरंजक वर्णन इस भाग में है। वैज्ञानिक प्रगति की इस सम्पूर्ण कहानी को एक सिलसिले में बांधने का प्रयत्न किया गया है।

मुझे विश्वास है कि हिन्दी में इस पुस्तक का यथोचित आदर होगा।

आशानिकेतन, लाहौर
१२ दिसम्बर १६३६

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

———

विषय सूची

प्रथम खण्ड

अन्तरार्ष्ट्रीय प्रवृत्तियां

(लेखक—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)

द्वितीय खण्ड

भारतवर्ष स्वराज्य की ओर

(लेखक—प्रकाशचन्द्र सूरी एम. ए.)

तृतीय खण्ड

विज्ञान की प्रगति

(लेखक—प्रो० रामस्वरूप थापर एम० एस०-सी०)

कुल पृष्ठ २०२ + १३४ + ६२ = ३९८

प्रथम अध्याय

पिछले महायुद्ध की समाप्ति पर

यूरोप में आज जो महायुद्ध हो रहा है, उसका परिणाम क्या होगा, इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह युद्ध कितने समय तक चलेगा, कौन-कौन देश इस युद्ध में सम्मिलित होंगे, इस सम्बन्ध में भी अभी निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता।

आज से करीब २५ बरस पहले भी एक महायुद्ध हुआ था। उस महायुद्ध से मानवजाति को जो भारी धक्का लगा था, उसे संसार केवल एक चौथाई सदी में ही भूल गया! ऐसा क्यों हुआ, इस पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। कतिपय विचारकों की राय है कि वर्तमान महायुद्ध की नींव पिछले महायुद्ध में ही पड़ी थी। इस अध्याय में हमें पिछले महायुद्ध की समाप्ति पर उत्पन्न हुई परिस्थितियों के सम्बन्ध में विचार करना है।

जो विश्वव्यापी महायुद्ध, सन् १९१४ में प्रारम्भ होकर सन् १९१८ के अन्त में समाप्त हुआ था, उसके सम्बन्ध में आज यह कहना भी कठिन है कि उस महायुद्ध का उद्देश्य क्या था। संसार की विभिन्न जातियों के ८० लाख से ऊपर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट मनुष्य उस महायुद्ध की भेंट हुए। लगभग १½ करोड़ युवक इस महायुद्ध में ज़ख्मी हुए, जिनमें से एक बहुत बड़ी संख्या जीवन भर के लिए पंगु बन गई। महायुद्ध के बाद, युद्ध के परिणामस्वरूप, इन्फ्लूएन्जा (उस युग का युद्धज्वर) नाम की जिस संक्रामक बीमारीका आविर्भाव हुआ, लगभग दो करोड़ मनुष्य उसकी भेंट हो गए। उक्त महायुद्ध पर जो व्यय हुआ था, उसकी संख्या सोलह अंकों तक जा पहुंचती है। उतने रुपयों से अमेरिका इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, इटली, कैनाडा और आस्ट्रेलिया में रहने वाले प्रत्येक परिवार के लिए पृथक्-पृथक् नई कोठियां बन सकती हैं!

इस सब का, इतने भयंकर जन-धन-संहार का उद्देश्य क्या था, यह कहना आज बहुत कठिन है। उस महायुद्ध को बीते अभी २१ बरस ही हुए हैं। उस महायुद्ध के समय मानव-जाति के शक्तिशाली राष्ट्रों की बागडोर जिन व्यक्तियों के हाथ में थी, उन में से बहुत से लोग आज भी जीवित हैं। उन महापुरुषों से आज, जब यह प्रश्न किया जाता है कि पिछले महायुद्ध का उद्देश्य क्या था, तो वे इस प्रश्न का वे कोई सीधा और समझ आने वाला उत्तर नहीं दे सकते। वे कहते हैं कि उन्हें युद्ध करने के लिए बाधित किया गया। महायुद्ध के कारणों में अपना कम से कम उत्तरदायित्व सिद्ध करने का गल्त या सही प्रयत्न ये

पुराने राजनीतिज्ञ करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उतना भयंकर जनसंहार करने की इच्छा तो किसी की भी न थी, परन्तु परिस्थितियों ने उन्हें वह लड़ाई लड़ने को बाधित कर दिया। और यह भी कि यदि उनका बस चलता तो वे उस महा-युद्ध को और भी भयंकर बनाने का प्रयत्न करते, और भी अधिक जन तथा धन का संहार करते।

संक्षेप में बात इतनी ही थी कि जर्मनी विश्व में अपना प्रभुत्व बढ़ाना चाहता था और मित्रराष्ट्र उसकी इस दुष्कल्पना की सज़ा उसे देना चाहते थे। कुछ समय के लिए मित्रराष्ट्रों को अपने उक्त उद्देश्य में सफलता भी मिली। जर्मनी हार गया। मित्रराष्ट्रों द्वारा प्रस्तावित सभी दण्ड जर्मनी ने सिर झुका कर स्वीकार कर लिए; जैसे यह सब, एक राष्ट्र का यह दमन, सार्थक था। अभी २३ बरस ही तो बीते हैं और जर्मनी आज फिर से संसार की एक महान शक्ति बन कर इंग्लैण्ड, अंग्रेज़ी साम्राज्य और अमेरिका की सम्मिलित शक्ति के साथ लोहा लेने उठ खड़ा हुआ है।

मतलब यही हुआ कि पिछले महायुद्ध से कोई उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। न तो जर्मन का और न मित्रराष्ट्रों का ही। जर्मनी अपना साम्राज्य नहीं बढ़ा सका और मित्रराष्ट्र जर्मनी को सदा के लिये निश्चल नहीं बना सके। मानव-जाति ने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक महाभयंकर परीक्षण किया था। उस परीक्षण से लाभ कुछ भी नहीं हुआ और कौन कह सकता है कि वर्तमान महायुद्ध में भाग लेने वाले एक भी देश को किसी तरह का लाभ

पहुंचने की सम्भावना है। फिर भी मानव समाज, जैसे अपने पिछले परीक्षण की भारी असफलता से खिन्न कर इस शताब्दि के पूर्वार्ध में ही पुनः उसी परीक्षण को और भी अधिक भयंकरता के साथ दोहराने लगा है।

जानकार लोग हमें बताते हैं कि यह सब परिस्थितियों का प्रभाव है। परिस्थितियों ने ही पिछला महायुद्ध करवाया और परिस्थितियों के प्रभाव ही से वर्तमान महायुद्ध हो रहा है। जर्मनी की प्रभुत्व-लालसा फिर से पहले की अपेक्षा भी अधिक उत्कट लालची रूप धारण कर गई, वह कतिपय छोटे राज्यों को हड़प कर गया और इन परिस्थितियों ने मानव-समाज को लड़ने के लिये विवश कर दिया। वह विवेकहीन होकर, लाभालाभ और फलाफल की चिन्ता छोड़ कर, अजस्त्र नर-बलि देने को तत्पर हो गया है।

इन पृष्ठों में हमें देखना है कि वे परिस्थितियां कौन-सी हैं, जो आज तक मनुष्य पर राज्य किये चली जा रही हैं। यह एक पुरानी कहावत है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। परिस्थितियों की यह दासता विभिन्न राष्ट्रों में बँटे हुए मनुष्य-समाज पर और भी अधिक उग्रता और पूर्णता के साथ अपना आधिपत्य स्थापित किए हुए है। अगले पृष्ठों में हमें विश्व की उन परिस्थितियों से अपने पाठकों को परिचित कराना है, उन की विवेचना करनी है और उन के सम्भावित परिणामों का अन्दाज़ा लगाना है।

वर्साई की सन्धि

जर्मनी का आत्म-समर्पण—११ नवम्बर १९१८ को पिछला महायुद्ध समाप्त हुआ, संसार के सभी राष्ट्र तब तक महायुद्ध से तंग आ चुके थे। दोनों ओर के सैनिकों की बुरी दशा थी। खाइयों में लड़ने वाले सैनिक अनेक बार युद्ध के खिलाफ़ विद्रोह कर देने का इरादा करते थे। देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति और कर्तव्य-पालन आदि की भावना, महायुद्ध के हृदय-विदारक दृश्यों की तुलना में, क्षीण पड़ती चली जाती थी। जर्मनी की दशा विशेष चिन्ताजनक थी। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी में राज्य-क्रान्ति हो गई। राजा कैसर को राजत्याग कर देना पड़ा। जर्मनी में सोशल डैमोक्रेटिक सरकार की स्थापना हो गई और ११ नवम्बर १९१८ को इस नई सरकार ने सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए।

विलसन का स्वप्न-भंग—इसी वर्ष के आरम्भ में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने, संसार में शान्ति स्थापित करने की इच्छा से एक घोषणा की थी। इस घोषणा में १४ धाराएं थीं। सन्धि करते हुए, जर्मनी ने यद्यपि मित्रराष्ट्रों की बहुत ही कठोर शर्तें भी स्वीकार कर ली थीं, तथापि जर्मनी को विश्वास था कि स्थायी सन्धि का आधार राष्ट्रपति विलसन के १४ सिद्धान्त ही बनेंगे।

अस्थायी सन्धि स्थापित होने के लगभग एक महीना बाद राष्ट्रपति विल्सन यूरोप में पहुंचे। उन्हें विश्वास था कि वह मित्र-राष्ट्रों से अपने १४ सिद्धान्त बखूबी स्वीकार करवा सकेंगे। परन्तु

यूरोप में परिस्थिति ही बदल चुकी थी। इंग्लैण्ड में उन्हीं दिनों पार्लियामैण्ट का नया चुनाव हुआ था और श्री लायडजार्ज इस आधार पर इस चुनाव में विजयी हुए थे कि वह विजित राष्ट्रों से महायुद्ध का पूरा हर्जाना वसूल करेंगे। उधर फ्रान्स के तत्कालीन राष्ट्रपति मि० पोइन्कारे ने जैसे यह इरादा कर रक्खा था कि वह जर्मनी को संसार के नक़शे से ही उड़ा देंगे। फ्रान्सीसी प्रधान मन्त्री मि० क्लीमेन्शो इतने उग्र तो न थे, परन्तु वह भी मि० विल्सन के १४ सिद्धान्तों से सहमत न थे। उन्होंने तो एक बार मज़ाक में कहा था—"देखो तो, अमेरिकन राष्ट्रपति अपनी चौदह आज्ञाएं ले आया है, जब कि परमात्मा की आज्ञाएं भी दस से अधिक नहीं!" इटली, यूनान, रूमानिया आदि देशों के प्रधान-मन्त्री भी विल्सन के सिद्धान्तों के पक्ष में नहीं थे। मित्र राष्ट्रों को जर्मनी से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति में से कुछ हिस्सा मिलने की उन्हें भी आशा थी।

शान्ति-परिषद् की बैठकें—सन् १६१६ की १८ जनवरी को पेरिस में परिषद् की पहली बैठक हुई। पेरिस का उत्तेजित वातावरण मि० विल्सन के शान्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं था। इस परिषद् में जर्मनी और रूस के प्रतिनिधियों को निमन्त्रित नहीं किया गया, इस से राष्ट्रपति विल्सन का काम और भी अधिक कठिन हो गया। परिषद् में मित्रराष्ट्रों के ५३ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। बहुत शीघ्र १० सदस्यों की एक उपसमिति इस उद्देश्य से नियत करदी गई कि वही सन्धियों के रूप-निर्माण का कार्य करे। इस उपसमिति में अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली और जापान के ही प्रतिनिधि थे।

परन्तु यह १० सदस्यों की उपसमिति भी कुछ बोझल-सी सिद्ध हुई। कामकाज की रफ़्तार बहुत ही मन्द थी। राष्ट्रपति विल्सन तो इस उपसमिति के भी पक्ष में नहीं थे कि एक दिन विल्सन की अनुपस्थिति में लायडजार्ज ने सन्धि-परिषद् से यह प्रस्ताव स्वीकार करा लिया कि रूप-निर्माण का सारा कार्य विल्सन, लायड जार्ज, क्लीमेन्शो और ओरलेण्डों पर ही छोड़ दिया जाय। इन चार व्यक्तियों में विल्सन की स्थिति सब से अधिक निराली थी। उन्हें अपना एक भी समर्थक नज़र न आता था। लायड जार्ज जर्मनी से मिलने वाले हर्जाने के विभाजन तक की पूरी स्कीम पहले से बना चुके थे। इटली के प्रतिनिधि मि० ओरलेण्डो का सारा ध्यान उसी बात की ओर केन्द्रित था कि इटली को एड्रियाटिक अवश्य मिले। क्लीमेन्शों को एक ही धुन थी कि जर्मनी पर कतई विश्वास न किया जाय। उसे कुचल दिया जाय, इतना अधिक कुचल दिया जाय कि वह फिर कभी सिर न उठा सके।

परिणाम यह हुआ कि मि० विल्सन के १४ सिद्धान्तों की ओर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। जर्मनी से पूरा बदला निकालने की भावना को लेकर सन्धिपत्र तैयार किया गया और उस पर हस्ताक्षर कराने के लिए जर्मनी के प्रतिनिधियों को वर्साई बुला भेजा गया।

जर्मनी की सहमति—प्रजातन्त्र जर्मनी के परराष्ट्र सचिव का नाम था, काउण्ट बौकडाफ़ राजू। अपने कुछ सहकारियों के साथ वह वर्साई पहुंचा। ये लोग अपने भाग्य के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी नहीं जानते थे। ७ मई १९१९ को जर्मनी के ये सब

प्रतिनिधि कैदियों की-सी दशा में शान्ति-परिषद् के सन्मुख लाए गए। उन्हें लक्ष्य करके क्लीमैंशो ने एक भयंकर भाषण दिया, जिस में गत महायुद्ध का सारा दोष जर्मनी को दिया गया। जर्मन परराष्ट्र-सचिव ने अपने जवाब में एक बात की ओर विशेष निर्देश किया—"पिछले ६ महीनों में जब सम्पूर्ण जर्मनी एक-एक पल गिन कर आपके निर्णय की प्रतीक्षा करता रहा है, वहां हज़ारों लाखों निर्दोष नागरिकों ने भूख से, तकलीफ़ से, बीमारी से, तड़प-तड़प कर प्राण दिए हैं। ऐसे नागरिक, जिन का युद्ध से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। जब आप हमारे अपराध और उसकी सज़ा की बात कहते हैं, तो उन हज़ारों, लाखों निरपराध जर्मन नागरिकों का भी कुछ ध्यान रख लीजिएगा।"

जर्मन परराष्ट्र-सचिव के इस भाषण को गुस्ताख़ीभरा माना गया। सफ़ेद चमड़े की जिल्द से मढ़ी एक बड़ी-सी पुस्तक, जिसमें सन्धि की ४०० से ऊपर शर्तें दर्ज थीं, हस्ताक्षर के लिये उसके सामने कर दी गई।

सन्धि की शर्तें—आख़िरकार जर्मनी को सन्धि की शर्तों का पता लगा। ये शर्तें इतनी कठोर थीं कि जर्मनी में, कभी किसी ने उन की कल्पना तक भी न की थी। संक्षेप में ये शर्तें इस प्रकार थीं—"जर्मनी से उसके यूरोपियन स्थल-भाग का आठवां भाग छिन जायगा। अलसिस लोरेन और सार के कोयले के क्षेत्र फ्रान्स को मिलेंगे। कम से कम १५ वर्ष तक उन पर फ्रान्स का पूरा अधिकार रहेगा। पोलैण्ड को दक्षिण और पश्चिमी प्रशिया (२६० मील लम्बा और ८ मील चौड़ा भाग जो कौरीडोर नाम से प्रसिद्ध है) मिलेगा। सिलेशिया का ऊपर का भाग

ज़ैचोस्लोवेकिया को मिलेगा और शेष भाग पोलैण्ड को। यूपन-मलमेडी चाहें तो जर्मनी के साथ रहें और चाहें तो बेल्जियम के साथ। डेन्ज़िग और मैमललैण्ड को मित्रराष्ट्रों के द्वारा नियत एक कमीशन के अधीन रक्खा जायगा।"

जर्मनी के सम्पूर्ण खनिज तथा अन्य उपयोगी उपज पदार्थ उस से छिन गए। लोहे और कोयले की कानें भी उस के हाथ में न रहीं। अफ्रीका आदि में उस के जितने उपनिवेश थे, वे सब उस से छिन गए। उस के सम्पूर्ण जहाज़ भी उस से छीन लिए गए। अपनी नदियों पर भी उस का प्रभुत्व नहीं रहा। निश्चय हुआ कि अपनी रक्षा के लिए १ लाख १५ हज़ार से अधिक सेना (१००००० स्थल और १५००० नौ सेना) जर्मनी नहीं रख सकेगा। मई १६२१ तक जर्मनी मित्रराष्ट्रों को १४ अरब रुपया अदा करेगा। हर्जाने के तौर से जर्मनी कुल कितना रुपया देगा, इस का निर्णय बाद में होगा। सन्धि की २३१ वीं धारा थी—"पिछले महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों को जितनी जन और धन की क्षति उठानी पड़ी है, जर्मनी स्वीकार करता है कि उस का पूरा उत्तरदायित्व जर्मनी और उस के मित्र देशों पर है और वह उस हर्जाने को, मित्रराष्ट्रों की इच्छानुसार, पूरा करने का ज़िम्मा अपने ऊपर लेता है।"

निश्चय हुआ कि जर्मनी ५ दिनों के भीतर ही इस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दे, अन्यथा मित्रराष्ट्र चाहे जो कुछ कर सकेंगे। जर्मन राष्ट्रसचिव ने चाहा कि उसे कुछ समय और मिल जाय। उसे आशा थी कि इस बीच में, प्राप्त माल के बट-वारे के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्रों में परस्पर मतभेद पैदा हो जायगा। परन्तु इस कार्य में उसे सफलता नहीं मिली। २८ जून को इस सन्धि-पत्र पर जर्मनी के भी हस्ताक्षर हो गए।

आस्ट्रिया से सन्धि—इसी तरह आस्ट्रिया और हंगरी से भी विभिन्न सन्धिपत्रों पर हस्ताक्षर करवाए गए। इन दोनों राष्ट्रों को एकदम बलहीन तो अवश्य बना दिया गया, परन्तु विशेष ध्यान इसी ओर दिया गया कि इन राष्ट्रों को इतने टुकड़ों में बांट दिया जाय कि भविष्य में वे कभी जर्मनी की सहायता न कर सकें। आस्ट्रिया से सर्ब, क्रोट और स्लोवन पृथक कर दिए गए। ३० लाख जर्मन-भाषा-भाषी आस्ट्रियन ज़ैचोस्लोवेकिया के अधीन कर दिए गए। कुछ हिस्सा रूमानिया और यूगोस्लाविया को भी मिला। कुल मिला कर आस्ट्रिया का आधे से अधिक भाग आस्ट्रिया से पृथक् कर दिया गया। आस्ट्रिया कभी जर्मनी से नहीं मिलेगा, इस की भी घोषणा कर दी गई। ११ सितम्बर १९१९ को आस्ट्रिया के साथ उक्त सन्धि हुई।

हंगरी से सन्धि—हंगरी के साथ सन्धि ४ जून १९२० को हुई। हंगरी का भी बिल्कुल अंग-भंग कर दिया गया। हंगरी के अधिकांश प्रदेश इधर उधर के देशों (ज़ैकोस्लोवेकिया और रूमानिया आदि) को बांट दिये गए। परिणाम यह हुआ कि हंगरी के पास १२५००० वर्ग मील भूमि में से केवल ३५००० वर्ग मील भूमि ही बच रही। और उस की आबादी २ करोड़ १० लाख से केवल ८० लाख ही रह गई। हंगरी की लोहे की अधिकांश कानें भी उस से छीन ली गईं।

राष्ट्र संघ की स्थापना—इस तरह मित्रराष्ट्रों ने समझ लिया कि उन्होंने अपने शत्रुओं को सदा के लिए कुचल दिया है। वर्साई में जो कुछ हुआ, उस से राष्ट्रपति विल्सन इतने

खिन्न हुए कि सन्धिपत्र पर जर्मनी के हस्ताक्षर होते ही वह अमेरिका के लिए रवाना हो गए। विल्सन के प्रयत्न से और चाहे जो कुछ हुआ हो या नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्र-संघ की स्थापना अवश्य हो गई। इस संघ का मुख्य उद्देश्य संसार के विभिन्न राष्ट्रों में भ्रातृभाव और सहयोग की स्थापना करना था। यह भी सोचा गया कि सभी राष्ट्र मिल कर निश्शस्त्रीकरण की ओर ध्यान दें। विल्सन का ख्याल था कि हारे हुए राष्ट्रों के साथ विजयी मित्रराष्ट्रों ने चाहे कितनी क्रूरता से काम क्यों न लिया हो, राष्ट्रसंघ द्वारा घोषित होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव की प्रवृत्ति जब पनप जायगी, सन्धियों की प्रस्तावित क्रूरता और बदले की भावना स्वयं शिथिल पड़ जायगी। विल्सन ने समझा कि वह यूरोपियन प्रजातन्त्र-राष्ट्रों में राष्ट्र-संघ की स्थापना द्वारा पारस्परिक सहयोग और मित्रतापूर्ण विश्वास का बीजारोप कर चले हैं, अब यूरोप भूतकाल को भूल जायगा और सौहार्द्रथपूर्ण भविष्य की चिन्ता करने लगेगा। परन्तु इस से बड़ी गलती वह कर नहीं सकते थे। उन की यह धारणा एकदम गल्त थी और यह देख कर उन्हें असीम वेदना पहुंची कि सब से पहले अमेरिका ने ही राष्ट्रसंघ की प्रस्तावित योजना में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि संसार में मित्रता और भ्रातृभाव की वृद्धि तो नहीं हुई, शत्रु से पूरा बदला लेने की भावना ही विजयी रही।

—और इस के बाद सम्पूर्ण यूरोप महायुद्ध की क्षति पूर्ण करने, या यों कहना चाहिये कि वर्तमान महायुद्ध की तैयारी में सन्नद्ध हो गया।

———

दूसरा अध्याय

बोल्शेविक रूस

नवम्बर १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हो गई। संसार की अत्यन्त महत्वपूर्ण राज्यक्रान्तियों में से एक यही राज्यक्रान्ति इतनी कम नरहत्या के साथ हुई कि देखकर आश्चर्य होता है। संसार की परिस्थितियों पर इस राज्यक्रान्ति का बहुत गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा है। अठारहवीं सदी के अन्त में होने वाली फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति संसार के इतिहास की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है, परन्तु १९१७ की इस रूसी राज्यक्रान्ति की महत्ता भी उससे कम नहीं है। फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति जहां राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति थी, वहां यह रूसी राज्यक्रान्ति राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक तीनों ही थी। हमें देखना है कि इस रूसी राज्यक्रान्ति के कारण क्या थे और वर्त्तमान संसार पर उसका क्या प्रभाव पड़ा है।

क्रान्ति के कारण—उन्नीसवीं सदी में रूस मुख्यत: कृषिप्रधान देश ही था। वहां एक तरह की अर्ध-दासत्व प्रथा (Serfdom) प्रचलित थी। सन् १८६१ में ज़ार एलेक्ज़ैण्डर द्वितीय ने इस अर्धदासत्व प्रथा की समाप्ति कर दी। उसका कथन था—"इस से पहले कि अर्धदासत्व की प्रथा नीचे से बन्द हो, उसे ऊपर ही से स्वयं बन्द कर देना कहीं अधिक अच्छा है।"

रूस यदि पहले के समान कृषिप्रधान देश ही रहता तो शायद वहां उक्त राज्यक्रान्ति हुई ही न होती। परन्तु उन्नीसवीं सदी के अन्त में रूस को एक व्यवसायिक देश बनाने का गम्भीर प्रयत्न किया गया। तत्कालीन ज़ार ने फ्रान्सीसी और अंग्रेज़ व्यवसायियों को इस बात का अधिकार दिया, कि वे रूस में अपना व्यवसाय शुरू कर सकते हैं। विदेशों से पक्का माल अपने यहां मँगवाने की बजाय विदेशी व्यवसायियों को रूस में ही माल पैदा करने के लिए प्रोत्साहित करना तत्कालीन रूसी सरकार को अधिक श्रेष्ठ जान पड़ा। परिणाम यह हुआ कि सन् १९०४ के रूसी-जापानी युद्ध से पहले रूस एक अच्छा व्यवसायिक देश भी बन गया। सन् १९१४ तक करीब २५ लाख मज़दूर शहरों की मिलों तथा कानों में काम करते थे। इन रूसी मजदूरों की दशा बहुत ही दयनीय थी। इंग्लैण्ड के मज़दूर हाइडपार्क में जमा होकर अपने दुखड़ों का रोना रो सकते थे, वे इकट्ठे होकर पार्लियामैंट भवन के सन्मुख प्रदर्शन भी कर सकते थे, उन्हें ट्रेड यूनियन बनाने की भी अनुमति थी, वे अपने पत्र भी प्रकाशित करते थे। परन्तु रूस में इन में से एक भी बात की आज्ञा नहीं थी। वहां मज़दूरों की आर्थिक तथा सामाजिक दशा मध्य-कालीन

गुलामों से किसी भी तरह अच्छी नहीं थी। ज़ार को सदा राज्य-क्रान्ति का डर बना रहता था और क्रान्तिकारी संगठनों को दबाने के लिए उसने 'ओखाना' नाम की एक क्रूर पोलीस भर्ती की हुई थी। रूसी मज़दूर तहखानों में जमा होकर अपनी सभाएं करते थे और तहखानों के छोटे-छोटे छापेखानों में चोरी से अपना साहित्य छापते थे। इन दशाओं में उनका उद्देश्य स्वभावत: क्रान्ति ही होता था और 'ओखाना' पोलीस जब उन्हें पकड़ पाती थी, तो उन्हें प्राणदण्ड अथवा साइबेरिया में देश-निर्वासन का दण्ड मिलता था। यह साइबेरिया का देश-निर्वासन, कुछ अंशतक, प्राण-दण्ड से भी अधिक भयंकर माना जाता था।

दमनचक्र—सन् १८६६ में, एक स्कूल इन्स्पैक्टर के लेडिमीर इलिच उलिआनोव नामक पुत्र को, जिसने अपना दूसरा नाम लेनिन रक्खा हुआ था, साइबेरिया में देश-निर्वासन का दण्ड मिला। ३ वर्ष बाद साइबेरिया से लौट कर, लेनिन रूस छोड़ कर, यूरोप में चला गया और १८ वर्ष (सन् १६१७ तक) वह यूरोप में ही रहा। ट्राट्स्की (वास्तविक नाम—लेव डेविडोविच बैन्स्टीन) नाम के एक और युवक को १८ बरस की उम्र में देश-निर्वासन का दण्ड मिला। स्टालिन (वास्तविक नाम—जोसफ़ जुगाशिवली) नाम के एक अन्य युवक को करीब बारह बार जेल में ठूंसा गया और बारह बार ही वह जेल से भागा। मज़दूरों के आन्दोलनों पर भयंकर से भयंकर अत्याचार किये जाते रहे। शासन-व्यवस्था में सुधार करने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं किया गया।

क्रान्ति का प्रारम्भ—कार्लमार्क्स ने भविष्यवाणी की थी कि जब कभी पूंजीपति राष्ट्र आपस में लड़ेंगे, मज़दूरों को राज्यक्रान्ति करने का अवसर मिलेगा। मार्च सन् १६१७ में वह भविष्यवाणी पूरी हो गई। रूसी मजदूर स्त्रियों के किसी प्रदर्शन के अवसर रूस की राजधानी पेट्रोग्रेड (अब लेनिनग्रेड) में हड़ताल हो गई। हड़ताल के तीसरे दिन २,४०,००० मज़दूरों ने राजधानी की सड़कों का चक्कर लगाया। इन मज़दूरों को भगाने के लिए कज्जाक फौज बुलाई गई। कज्जाक सेना अपनी क्रूरता के लिए प्रसिद्ध थी। परन्तु अत्याचारों का प्याला इतना अधिक भर चुका था और देश की आन्तरिक दशा इतनी अधिक बिगड़ गई थी कि ये कज्जाक भी हड़ताली मज़दूरों से जा मिले। सम्पूर्ण नगर पर हड़तालियों का अधिकार हो गया। ज़ार पेट्रोग्रेड में वापस आने की हिम्मत नहीं कर सका और वहां कुछ संभ्रान्त व्यक्तियों की अस्थायी सरकार स्थापित हो गई।

लेनिन की वापसी—लेनिन उन दिनों जर्मनी में था। बड़ी कोशिशों के बाद जर्मन सरकार ने लेनिन को इस बात की अनुमति दी कि वह अपने साथियों के साथ एक स्पेशल ट्रेन में रूस वापस जा सकता है। एप्रिल में लेनिन जब पेट्रोग्रेड पहुंचा तो हज़ारों की संख्या में रूसी साम्यवादी उसका स्वागत करने पहुंचे हुए थे। जनता ने लेनिन का हार्दिक स्वागत किया। उसके जयकारों से अस्मान गुंजा दिया। जनता को आशा थी कि ज़ार का राज्य समाप्त कर देने के लिए उनका नेता लेनिन उन्हें बधाई देगा। परन्तु लेनिन ने स्टेशन पर ही जनता को उसकी इस बेवकूफ़ी के लिए खूब लताड़ा कि ज़ार की जगह उन्होंने साम्यवादी

जनता का राज्य स्थापित न कर पूंजीपतियों की सरकार क्यों कायम कर दी! लेनिन ने घोषणा की—"हमें एकदम एक और क्रान्ति करनी होगी। हम मज़दूरों के हाथ में शक्ति देंगे, हम भूमि पर किसानों का राज्य स्थापित करेंगे। हम भूखों को रोटी देंगे और देश में शान्ति स्थापित करेंगे।"

बोल्शेविकों ने समझा कि उनका नेता पागल हो गया है। उसे देश की परिस्थितियों का कुछ भी ज्ञान नहीं है। लेनिन की बात को किसी ने नहीं माना।

लेनिन की क्षणिक असफलता—उधर अस्थायी सरकार यूरोपियन महायुद्ध में पूरा सहयोग देने को तत्पर थी। रूसी सिपाहियों के पास न कपड़े थे, न पूरे अस्त्र शस्त्र और न खाद्यपदार्थ ही। हां, अस्थायी सरकार में युद्ध जीतने का अदम्य उत्साह ज़रूर था। जिस बात से ज़ार का पतन हुआ था, वही बात अस्थायी सरकार को भी ले डूबी। जून १९१७ में सरकार ने जर्मनी पर आक्रमण करने का निश्चय किया। परन्तु सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह बहुत शीघ्र व्यापक हो गया। मज़दूरों ने भी हड़ताल कर दी। अस्थायी सरकार ने इस विद्रोह का सारा उत्तरदायित्व साम्यवादी बोल्शेविकों पर डाला और इस बात का प्रचार शुरू किया कि लेनिन जर्मनी का भेदिया है, वह रूस को जर्मनी के हाथ बेच देना चाहता है। अस्थायी सरकार को अपने इस प्रयत्न में सफलता मिली। लोकमत लेनिन और बोल्शेविकों के विरुद्ध हो गया। लेनिन और उस के साथी भाग कर कहीं छिप गए और अधिकांश बोल्शेविक गिरफ़्तार कर लिए गए।

बोल्शेविक क्रान्ति—२३ अक्तूबर को लेनिन के हस्ताक्षरों से एक घोषणा प्रचारित की गई कि १५ दिनों के भीतर रूस में बोल्शेविक राज्य की स्थापना हो जायगी। और सचमुच पन्द्रहवें दिन पेट्रोग्रेड में बोल्शेविक राज्य कायम हो गया। हज़ार डेढ़ हज़ार सुशिक्षित क्रान्तिकारी बोल्शेविक युवक जिस किसी तरह राजधानी में पहुंच गए। रात के दो बजे से ये युवक शहर के प्रमुख स्थानों पर जाकर जमा होने लगे। प्रातः ५ बजे तक सभी नाकों पर उन का अधिकार हो गया। सरकार की किसी आज्ञा की उन्होंने कोई परवाह नहीं की। १० बजे उन्होंने घोषणा की कि सम्पूर्ण नगर पर बोल्शेविकों का अधिकार हो गया है। १० बजे लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक कांग्रेस की मीटिंग हुई। कुछ समय के बाद सरकारी पोलीस लेनिन और उसके साथियों को पकड़ने आई, परन्तु बोल्शेविकों ने उन सिपाहियों को ही गिरफ़ार कर लिया। सायंकाल लाखों व्यक्तियों ने मन्त्रि-मण्डल पर धावा कर दिया, जिन में तमाशबीनों की संख्या ही अधिक थी। सभी मन्त्री जान बचा कर भाग गए और इस तरह बिना किसी घटना के अस्थायी सरकार नष्ट हो गई। रात के १२ बजे तक पूर्णरूप से बोल्शेविक सरकार की स्थापना हो गई। यह सम्पूर्ण क्रान्ति इतनी चुपचाप हुई कि विदेशी सम्वाद-दाताओं को इस महान राज्य-क्रान्ति का पता तक भी नहीं चला। इस क्रान्ति में बहुत ही थोड़ा, नगण्य-सा रक्तपात हुआ।

मास्को में बोल्शेविक राज्य स्थापित करते हुए कुछ रक्तपात अवश्य हुआ। लेनिन ने यह घोषणा कर दी कि बोल्शेविक राज्य में ज़मीनों पर किसानों का ही अधिकार होगा। किसानों के लिए

यह लालच बहुत बड़ा था। उन्होंने बोल्शेविक राज्य स्थापित करने में बड़ी सहायता दी और ज़मीनों पर अपना अधिकार कर लिया। बाद में जब इन ज़मीनों पर बड़े पैमाने से खेतीबाड़ी करने की ज़रूरत अनुभव की गई, तो बोल्शेविक सरकार को बहुत दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा।

रूस में उन दिनों भीषण अकाल फैला हुआ था। लोग भूखों मर रहे थे। व्यापार, व्यवसाय, लेन-देन सब चौपट हो गया था। उधर जर्मनी हर समय रूस पर आक्रमण करने की धमकियां दे रहा था। लाचार हो कर लेनिन ने रूस के अनेक उपजाऊ और समृद्ध भाग जर्मनी को देकर उस से सन्धि कर ली। लेनिन के सौभाग्य से उस के थोड़े ही दिनों के बाद जर्मनी हार गया और उस सन्धि की कोई भी शर्त व्यवहार में नहीं लाई जा सकी।

श्वेत जातियों से संघर्ष—इस के बाद मित्र-राष्ट्रों ने रूस को परेशान करना शुरू किया। लेनिन जर्मनी के साथ सन्धि करने को तत्पर था, इस से मित्रराष्ट्र रूस को अपना शत्रु समझने लगे। रूस में जो बोल्शेविक सरकार स्थापित हुई थी, उसे मित्र-राष्ट्रों की पूंजीप्रधान सरकारें अपने लिए खतरे का कारण समझती थीं, इस कारण भी रूस के शत्रुओं की संख्या बहुत बढ़ गई। रूस में अंग्रेज़ों और फ्रैन्च लोगों ने जो रुपया व्यवसाय में लगाया था, वह सब का सब खतरे में पड़ गया। मित्रराष्ट्रों की सेनाएं महायुद्ध से निपट ही चुकी थीं। इन सब कारणों से मित्रराष्ट्रों की अनेक सेनाएं रूस पर आक्रमण करने के लिए भेज दी गईं। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, रूमानिया, डैन्मार्क, ज़ैचोस्लोवेकिया आदि की क़रीब दो लाख सेना ने रूस को अनेक ओर से घेर लिया। शीघ्र

ही दूसरी ओर से जापान ने भी रूस पर आक्रमण कर दिया और अमेरिका तथा इंग्लैण्ड ने उस की सहायता की।

बोल्शेविक सरकार की विजय—कुछ समय तक रूस की बोल्शेविक सरकार का भविष्य बहुत खतरे में रहा। परन्तु उसके बाद, वर्साई की सन्धि होते ही, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी सेनाएं अपने-अपने देशों को लौट गईं। रूस को कुछ हिम्मत हुई। जून १९१९ में लेनिन ने ट्राट्स्की को रूसी सेना का प्रधान सेनापति बना दिया। ट्राट्स्की एक बहुत प्रतिभाशाली संयोजक सिद्ध हुआ। थोड़े ही समय में उसने ४,००,००० सेना एकत्र कर ली, जिन में ३०,००० पुराने रूसी अफसर थे। ट्राट्स्की ने १६ मोर्चे बनाये। पूरे २½ वर्षों तक वह एक मोरचे से दूसरे मोरचे तक दौड़ता फिरा। अन्त में रूस की विजय हुई और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस विजय का सब से बड़ा श्रेय ट्राट्स्की को था। रूस की आपेक्षाकृत अशिक्षित और दरिद्र-सी सेना में २½ बरसों तक उत्साह का मन्त्र फूंकते रहने का कार्य ट्राट्स्की ने ही किया। इस युद्ध में दो लाख से ऊपर रूसी सैनिक मारे गए।

युद्ध और क्रान्ति के प्रभाव—युद्ध तो समाप्त हो गया, परन्तु हारी हुई श्वेत फौजें जब अपने-अपने देशों को वापस पहुंची, तब उन्होंने रूसी बोल्शेविक सरकार के सम्बन्ध में बड़े भयङ्कर समाचार अपने देशवासियोंको दिए। बताया गया कि ज़ार की ओख्राना फौज़ की तरह बोल्शेविक सरकार ने 'चेक' नामक फौज़ भरती की है। ये लोग बोल्शेविज़्म के विपक्षियों पर भयङ्करतम अत्याचार करते हैं। कैदियों को जान से मार देना, स्त्रियों पर बलात्कार

करना, बच्चों का बध कर देना आदि बातें वहां रोज़मर्रा होती हैं। जो रूसी अपने को पक्का क्रान्तिकारी सिद्ध नहीं कर सकता, उसे गोली से उड़ा दिया जाता है। इन समाचारों में कहां तक सच्चाई थी, यह कहना कठिन है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध के उन दिनों में रूसी बोल्शेविक सरकारने अपने आन्तरिक शासनमें बहुत कठोरता, बल्कि क्रूरता से भी, काम लिया। अनुमान है कि इस बीच में ७०,००० रूसियों को प्राणदण्ड दिया गया।

युद्ध का समाजवाद—इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए रूस में युद्ध का समाजवाद (War Communism) स्थापित किया गया। समाजवाद में जहां सब लोग समान हैं, वहां इस युद्ध के समाजवाद में डिक्टेटरशिप की स्थापना की गई। सम्पत्ति उत्पन्न करने के सभी साधन सरकारने अपने अधीन कर लिए। सन १९१८ के अन्त तक यह स्थिति आगई कि रूस की प्रत्येक उपज पर सरकार का अधिकार हो गया। किसानों से ज़बरदस्ती अनाज छीन लिया जाने लगा। बदले में उन्हें बहुत ही थोड़ी कीमत दी गई। कर्ज़े माफ कर दिये गए और देश भर की सम्पूर्ण वैयक्तिक सम्पत्ति पर सरकार का अधिकार हो गया। किसान लोग बोल्शेविक सरकार से घृणा करने लगे। बोल्शेविक सरकार सिर्फ़ मज़दूरों की ही सरकार रह गई। परिणाम यह हुआ कि परिस्थिति भयङ्कर से भयङ्करतम हो गई। देश भर में घोर अकाल फैल गया। सन १९२१ में करीब १० लाख किसानों ने भूख से तड़प-तड़प कर प्राण दे दिए। तंग आकर रूसी किसानों तथा रूसी नाविकों ने अनेक बार विद्रोह करने का प्रयत्न किया। परन्तु इन विद्रोहियों को बड़ी कठोरता से दबा दिया जाता रहा।

'नई आर्थिक नीति'—आख़िरकार लाचार होकर लेनिन ने तत्कालीन समाजवाद की व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया। लेनिन की यह नई नीति 'नई आर्थिक नीति' (न्यू इकोनौमिक पौलिसी) के नाम से प्रसिद्ध है। इस नीति के अनुसार साम्यवाद के पुराने रूप में परिवर्तन कर दिया गया। किसानों से ज़बरदस्ती अनाज लेने की प्रथा बन्द कर दी गई। उसकी जगह उपज के अनुमान से उन पर टैक्स लगाया जाने लगा। व्यवसाय पर भी सरकारी नियन्त्रण ढीला पड़ गया। लोगों को इस बात की अनुमति मिल गई कि वे अपने लाभ के लिए छोटे-छोटे कारखाने खोल सकें। यहां तक कि विदेशी कम्पनियों को भी रूसमें काम करने की अनुमति मिल गई। बड़े व्यवसायों का संगठन ट्रस्टों के आधार पर किया जाने लगा। उनके मुनाफे का बड़ा भाग उन्हीं को मिलने लगा। सरकारी नियन्त्रण बहुत कम हो गया। नफ़े में पूंजी और आय के अनुपात नियत कर दिए गए। भोजन के टिकट मिलने बन्द हो गए, उसके बदले नई मुद्रा-पद्धति शुरू की गई। सहोद्योग समितियों को सरकारी तौर से प्रोत्साहन मिलने लगा। गोश्वैंक के नाम से एक नए बैंक की स्थापना भी सन् १६२१ में की गई।

यह न्यू इकोनौमिक पौलिसी "एन० ई० पी०" के संक्षिप्त नाम से पुकारी जाने लगी और उसके अधार पर जिन व्यवसाइयों ने रूस में व्यवसाय प्रारम्भ किया, वे नैपमैन (Nep men) कहलाने लगे। क्रमश: अध्यवसायी और परिश्रमी पुरुषों ने पुनः कुछ धन संग्रह कर लिया और मेहनती किसान भी, क्रमश: अपनी ज़मीन का क्षेत्र बढ़ा कर कुछ सम्पन्न बन गए। इन सम्पन्न लोगों को 'कुलक' कहा जाने लगा और ग़रीबों को 'बैडनिक'।

नई आर्थिक नीति का प्रभाव—बोल्शेविक सरकार ने इन कुलकों पर भारी कर लगा कर उनका संचित धन ले लेना चाहा, परन्तु इस कार्य में उसे सफलता न मिली। इस नई आर्थिक नीति से रूस के साम्यवादी अपने आदर्श से तो अवश्य गिर गए, परन्तु इसके द्वारा तत्कालीन विषम परिस्थितियों पर उन्हों ने नियन्त्रण कर लिया। नगर और ग्राम दोनों की दशा सुधर गई। सन् १९२० में रूस का निर्यात १४ लाख रूबल मूल्य का था, १९२१ में वह २०२ लाखका हो गया, १९२२ में वह ८१९ लाख तक जा पहुँचा और चौथे ही वर्ष (१९२३ में) वह २०५८ लाख तक पहुँच गया। इस तरह अपने देश की आर्थिक दशा सम्भालने में लेनिन को आश्चर्यजनक सफलता मिली।

लेनिन की मृत्यु—सन् १९२४ के जनवरी महीने में बोल्शेविक क्रान्ति के जन्मदाता लेनिन का देहान्त हो गया। लेनिन की गणना संसार के सर्वकालीन इतिहास के सर्वश्रेष्ठ महापुरुषों में की जाती है। १९१७ की रूसी राज्यक्रान्ति का जन्मदाता तो शायद लेनिन को नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस क्रान्ति का सब से बड़ा नेता लेनिन ही था। फ्रांस को, उसकी राज्यक्रान्ति के बहुत समय पीछे नैपोलियन-सा महापुरुष मिला था। रूस को नैपोलियन से भी अधिक बड़ा एक नेता लेनिन के रूप में क्रान्ति का नेतृत्व करने के लिये मिल गया। लेनिन बहुत ही अनथक काम करने वाला था। वह अकेला अनेकों दफ्तरों से अधिक काम कर रहा था। सम्पूर्ण क्रान्ति को सफलतापूर्वक चलाने का श्रेय लेनिन को ही था। अत्यधिक परिश्रम करने का परिणाम यह हुआ कि सन् १९२३ में लेनिन बीमार पड़ गया।

लेनिन का व्यक्तित्व—लेनिन का देह पतला-दुबला था। उसका कद मझोला था। सिर गंजा था और चिबुक के अग्र-भाग पर वह लाल रंग की नोकीली-सी दाढ़ी रखता था। उसका स्वभाव शान्त था और प्रकृति मधुर थी। अपने सभी अनुयाइयों में मेल बनाये रखने का काम वही करता था। खान-पान और रहन-सहन के सम्बन्ध में उसकी आदतें पुराने ढंग की थीं। उसकी स्मरणशक्ति बहुत तेज़ थी। परमात्मा ने उसे असाधारण आध्यात्मिक आकर्षण-शक्ति भी दी थी। रूस कभी इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि लेनिन के बिना रूस ज़िन्दा रह सकता है। सन १९१८ में किसी ने लेनिन को गोली मारी थी। गोली लेनिन के गले पर लगी थी और उसे निकाला नहीं जा सका था। उसके बाद भी वह दिन रात अनथक काम करता रहा। १९२२ में वह बीमार पड़ा, उसके बाद उसे बीमारी के अनेक दौरे हुए। मार्च १९२३ में लेनिन की दशा बहुत बिगड़ गई, उसे अर्धांग का रोग हो गया। इस पर भी, रोग-शैया पर पड़े-पड़े वह रूसी राष्ट्र के इस नए परीक्षण का अत्यन्त सफलतापूर्वक संचालन करता रहा। लेनिन के देहान्त होजाने पर रूसभरमें अत्यधिक शोक मनाया गया।

लेनिन के उत्तराधिकारी—शोकमग्न रूस के सामने सब से महत्वपूर्ण प्रश्न यह था कि लेनिन का उत्तराधिकारी कौन हो। इस पद के लिए ४ व्यक्ति उमीदवार थे—ज़िनोवीफ़, जो एक बहुत उत्तम राजनीतिज्ञ था; कामनेव, जो अनिश्चित स्वभाव का होते हुए भी बहुत श्रेष्ठ वक्ता था; स्टालिन, जो समाजवादी दल का मन्त्री होते हुए भी बहुत कम ज्ञात था। स्टालिन के सम्बन्ध में किसी ने कहा था कि वह एक अत्यन्त उपयोगी नौकर है,

वह मालिक नहीं बन सकता। इन तीनों के सम्बन्ध में लोगों में धारणा थी कि वे नेता नहीं बन सकते। चौथा ट्राट्स्की, जो जन्म का एक नेता था। सारा रूस उसे जानता था। बल्कि लेनिन के बाद ट्राट्स्की का नाम ही दुनिया भर में प्रसिद्ध था। रूस के लाखों घरों में उसका चित्र लेनिन के साथ-साथ टांगा जाता था। वह एक बहुत श्रेष्ठ वक्ता, लेखक और प्रबन्धकर्त्ता था। परन्तु उसकी कमज़ोरी यह थी कि अपने तेज़ स्वभाव के कारण बहुत से लोगों को अज्ञान ही में उसने अपना शत्रु बना लिया था। लेनिन के देहान्त के बाद ट्राट्स्की के अतिरिक्त शेष तीनों व्यक्ति राष्ट्र का संचालन करते रहे।

रूस में क्रमशः नैपमैन और कुलकों की सम्पत्ति और उनका प्रभाव बढ़ता चला जा रहा था। जिन विदेशी व्यवसाइयों को वहां काम करने की अनुमति मिल गई थी, वे भी अच्छा धन कमा रहे थे। ट्राट्स्की ने इस परिस्थिति के विरुद्ध आन्दोलन शुरू किया। उसका कहना था कि हम लोग बड़ी शीघ्रता से अपने सिद्धान्त तथा आदर्श से पतित होते चले जा रहे हैं। साम्यवाद के नए परीक्षण करने की बजाय उसे और भी शिथिल करने की बात ट्राट्स्की को पसन्द न थी।

उधर स्टालिन इस परिणाम पर पहुंचा था कि रूस को आदर्श साम्यवादी बन कर रहने की आवश्यकता नहीं है। संसार की परिस्थितियों की उपेक्षा करने से काम न चलेगा। लेनिन के समय यह प्रयत्न शुरू किया गया था कि संसार के अन्य देशों में भी साम्यवादी क्रान्ति करने का कार्य किया जाय। स्टालिन इस

परिणाम पर पहुंचा कि अभी विश्व-क्रान्ति का समय नहीं आया। उसने वह प्रोग्राम स्थगित कर दिया।

राष्ट्रीय साम्यवाद (State Socialism)—स्टालिन ने रूस में राष्ट्रीय साम्यवाद को व्यावहारिक रूप दिया। इस कार्य का प्रारम्भ लेनिन ने ही किया था। व्यावसायिक उत्पत्ति के साधनों पर राष्ट्र का प्रभाव और आधिपत्य स्थापित करने का प्रबन्ध किया गया। नैपमैन के कार्य में स्टालिन ने यह बाधा दी कि कच्चे माल के उत्पादकों को राष्ट्र की सहायता से संगठित कर नैपमैन को कच्चा माल पहुँचाना बन्द कर दिया। क्रमशः उसने राष्ट्र भर के व्यवसाय-केन्द्रों और कारखानों को संगठित कर दिया। प्रत्येक कारखाने पर, उस में काम करने वाले मज़दूरों का ही आधिपत्य स्थापित कर दिया। कारखानों का प्रबन्ध करने के लिए पृथक्-पृथक् ट्रस्ट और कमेटियां बना दी गईं। उन सब पर राष्ट्र का कड़ा निरीक्षण रहने लगा।

स्टालिन की विजय—उधर ट्राट्स्की चाहता था कि रूस कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों का अनुसरण करे। स्टालिन चाहता था कि लेनिन के ढंग पर, परिस्थितियां देख कर ही, हम अपना कदम बढ़ाएं और आवश्यकता पड़ने पर अपने मार्ग में परिवर्तन भी करते जाएं। स्टालिन और ट्राट्स्की के ये पारस्परिक मौलिक मतभेद इतना अधिक बढ़े कि वे दोनों एक दूसरे के दुश्मन होगए। तब तक रूस का बहुमत स्टालिन के साथ हो गया था, इससे ट्राट्स्की को देश छोड़ कर भाग जाना पड़ा। रूस में लेनिन और स्टालिन के ढंग का परिवर्तित साम्यवाद ही स्थापित हो पाया।

समाजवाद का परीक्षण—सन् १९२३ में बोल्शेविक रूसी सरकार का नया शासन-विधान बना। इस विधान के अनु-सार रूस को एक व्यापक संघ का रूप दे दिया गया। इस संघ का नाम रक्खा गया—"साम्यवादी सोवियट प्रजातन्त्रों का संघ" (Union of Socialist Soviet Republics) जिसे संक्षेप में 'यू० एस० एस० आर०' कहा जाता है। इस रूसी संघ की आबादी १० करोड़ से ऊपर है और इस में ग्यारह स्वायत्त शासन वाले प्रजातन्त्र राष्ट्र हैं। इन में से उजबक एस० एस० आर० भारतवर्ष के सब से निकट है।

ज़ारशाही के ज़माने में सम्पूर्ण रूस में गहरी एकता की भावना भरने का प्रयत्न किया गया था। राष्ट्रीय भेद की सभी बातें उन दिनों प्रयत्नपूर्वक दूर की जा रही थीं। परन्तु बोल्शेविक सरकार इन राष्ट्रों का विकास उन के अपने-अपने ढंग पर ही कर रही है। इन सभी राष्ट्रों की सभ्यता, भाषा, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, साहित्य आदि का पृथक्-पृथक् विकास हो रहा है। एक तरह से इन सभी राष्ट्रों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त है। यहां तक कि शासन-विधान में ऐसी कोई धारा नहीं, जिस के आधार पर इन्हें 'यू० एस० एस० आर०' का सदस्य बनने के लिये भी बाधित किया जा सके; यद्यपि व्यवहार में इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इन में से कोई राष्ट्र कभी "यू० एस० एस० आर०" से अपना सम्बन्ध तोड़ना चाहेगा। इस तरह सभी राष्ट्रों को पूर्ण आन्तरिक स्वतन्त्रता देकर रूस ने अपनी पृथक् राष्ट्रीयता की समस्या का हल, बहुत अंश तक, कर लिया है। सभ्यता, शिक्षा, साहित्य आदि के सम्बन्ध में तो इन राष्ट्रों को पूर्ण स्वाधीनता है,

परन्तु आर्थिक संगठन और आर्थिक विकास की दृष्टि से एक ही ढंग के नियम इन सभी राष्ट्रों में जारी हैं। आर्थिक संगठन की दृष्टि से सम्पूर्ण रूस एक है।

श्रम-समितियां—(Soviets) बोल्शेविक रूस की सब से अधिक महत्वपूर्ण संस्थाएं वहां की श्रम-समितियां (सोविएट्स) हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान रूस की एकता का आधार जाति, देश या धर्म की एकता नहीं हैं, यह आधार तो कार्ल मार्क्स के समाजवाद के प्रति रूस की पूर्ण आस्था है। कार्लमार्क्स का कथन है कि एक पूंजीवादी समाजको समाजवादी समाज बनाने का कार्य हाथ से काम करने वाले मज़दूरों (प्रोलेटेरिएट–Proletariat) की डिक्टेटरशिप द्वारा ही हो सकता है। वास्तवमें रूसी राज्य-क्रान्ति इसी ढंग पर हुई थी। सन् १९२३ के रूसी शासन-विधान का आधार भी यही उपर्युक्त सिद्धान्त है। राज्यक्रान्ति के एकदम बाद रूस में श्रम समितियों (सोवएट्स) का जन्म हुआ। किसानों, सैनिकों और मज़दूरों ने अपनी-अपनी पृथक् श्रम-समितियां बना लीं।

वर्तमान बोल्शेविक सरकार का वास्तविक आधार यही श्रम-समितियां हैं। प्रत्येक गांव, कसबे, शहर, ज़िले, प्रान्त और राष्ट्र में पृथक्-पृथक् श्रम-समितियां हैं। इन सब के ऊपर सम्पूर्ण रूस की एक सोविएट है, जिस की बैठक वर्ष में एक बार होती है। सिद्धान्त रूप में यही सोविएट रूस की सब से अधिक महत्वपूर्ण और प्रामाणिक संस्था है। इन सम्पूर्ण श्रमसमितियों का निर्वाचन प्रतिवर्ष होता है, यद्यपि प्रतिवर्ष नए उमीदवार नहीं होते।

साथ ही इन श्रमसमितियों में किसानों की अपेक्षा मज़दूरों की महत्ता अधिक रहती है।

समाजवादी दल—रूसी सरकार का सब से अधिक महत्वपूर्ण और जीवित संगठन वहां का समाजवादी दल है। सन् १९१७ से लेकर अभी तक रूस में इसी दल का शासन है। शासन क्या इसे डिक्टेटरशिप कहना चाहिये। इसे एक तरह का स्वयं-सेवकदल कहा जा सकता है। इसके सदस्यों की संख्या लगभग २० लाख है। इसके प्रत्येक सदस्य से बहुत ऊँचे आदर्शपूर्ण व्यवहार तथा जीवन की आशा की जाती है। प्रायः सभी सरकारी ओहदों पर इसी पार्टी के सदस्य नियुक्त होते हैं। इन लोगों को अपना जीवन त्यागमय बनाना पड़ता है। अधिक वेतन उन्हें नहीं दिया जाता। पार्टी के सदस्यों पर काफ़ी कठोर नियन्त्रण और निरीक्षण रक्खा जाता है। अयोग्य व्यक्तियों से सदस्यता छीन ली जाती है। रूस में और किसी पार्टी की स्थापना करने की अनुमति नहीं है। रूस भर की प्रत्येक सोविएट में आप को इस समाजवादी दल के सदस्य अवश्य मिलेंगे।

परिणाम यह हुआ है कि सम्पूर्ण रूस पर इसी समाजवादी दल का शासन है। इस दल की केन्द्रीय कार्य-समिति के सदस्य ही रूस का मन्त्री-मण्डल बनाते हैं। सन् १९३८ तक स्टालिन इसी पार्टी के मन्त्री की हैसियत से ही सम्पूर्ण रूस का डिक्टेटर था। सन् १९३८ में रूस में जो प्रजातन्त्रात्मक शासन-सुधार किए गए, उनके अनुसार स्टेलिन अब उक्त दल का प्रधान-मन्त्री होने के साथ ही साथ रूस का राष्ट्रपति भी नियत हो गया है।

व्यवसाय-संघ—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सम्पूर्ण रूस में यदि किसी बात की एकता स्थापित की जा रही है, तो वह आर्थिक संगठन की। रूस के सभी उत्पादक कारखानों का नियन्त्रण और संचालन करने के लिए वहां व्यवसाय-संघ (Collectives) नाम की संस्थाएं बनी हुई हैं। कारखाने में काम करने वाले मज़दूर तथा अन्य सभी लोग इन व्यवसाय-संघों के सदस्यों का निर्वाचन करते हैं। कारखानों का पूरा प्रबन्ध इन्हीं संघों के हाथ में होता है। रूस का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन इन व्यवसाय-संघों के हाथ में है, इस से इन की महत्ता भी बहुत अधिक है।

"ओ०जी०पी०यू०"—पिछले अनेक वर्षों से बोल्शेविक रूस की जिस संस्था के सम्बन्ध में संसार भर में सब से अधिक चरचा रही है, वह वहां की "ओ० जी० पी० यू०" (संयुक्त राष्ट्र का राजनीतिक विभाग; United State political Depa-rtment) है। इस संस्था के कारनामों ने संसार भर में रूस की आन्तरिक परिस्थितियों के प्रति एक आतंक-सा स्थापित कर दिया है। यह संस्था एक तरह का सैनिक संगठन है, जिस में रूस का गुप्तचर-विभाग भी सम्मिलित है। इस संस्था का केन्द्र मास्को में है। संस्था की अपनी सेना है। उसे यह अधिकार प्राप्त है कि वह सम्पूर्ण रूस के किसी भी राष्ट्र में हस्तक्षेप कर सके। रूस भर में इस संस्था के गुप्तचरों का जाल-सा बिछा हुआ है। इस संस्था के सदस्यों को असाधारण अधिकार प्राप्त हैं। उन की रक्षा और उनके आराम का विशेष प्रबन्ध किया जाता है। सब से विचित्र बात यह है कि यह संस्था अपराधियों को स्वयं दण्डित भी कर सकती है और इस के दण्ड बहुत कड़े होते हैं।

संसार भर में प्रसिद्ध है कि "ओ० जी० पी० यू०" बहुत ही अत्याचारी संस्था है। स्वयं रूस में इस संस्था के कारनामों का आतंक और भी अधिक है। एक जानकार व्यक्ति, जो स्वयं इस संस्था का शिकार बन चुका है, (एलन मोंकहाउस) का कथन है कि यह संस्था जानबूझ कर, झूठी अफ़वाहें फैला कर, रूस में अपना आतंक स्थापित किए हुए है, ताकि लोग रूस के नए समाजवादी परीक्षण में, जिसका परिचालन बहुत ही व्यापक और कठिन है, बाधा डालने का साहस ही न करें।

पंचवार्षिक कार्यक्रम

रूस की राज्यक्रान्ति के बाद वहां जो भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, उसने वहां के साम्यवादी नेताओं के दिल पर इस बात की गहरी छाप डाल दी कि यदि रूस ने ज़िन्दा रहना है तो उसे अपने को आर्थिक और भौतिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाना होगा। उन दिनों संसार के प्राय: सभी शक्तिशाली राष्ट्र रूस के विरोधी थे, इस बात से रूसी सरकार को आत्मनिर्भरता की आवश्यकता और भी अधिक तीव्रता के साथ अनुभव हुई। वर्तमान रूस के पिता लेनिन ने रूस को व्यावसायिक देश बनाने का प्रयत्न भी किया। रूस का क्षेत्रफल बहुत बड़ा है, वहां उपजाऊ भूमि की भी कमी नहीं। वहां की वन्य तथा खनिज सम्पत्ति भी बहुत अधिक है। लेनिन ने प्रयत्न किया कि सम्पूर्ण रूस में बिजली का प्रसार कर दिया जाय, ताकि वहां छोटे-छोटे गृह-उद्योग और बड़े कल-कारखानों का सूत्रपात आसानी से किया जा सके। परन्तु इस तरह रचनात्मक आर्थिक

कार्य प्रारम्भ करने के कुछ समय के बाद लेनिन का देहान्त हो गया।

सन् १९२५ से रूस में आर्थिक निर्माण का कार्य बड़ी गम्भीरता के साथ शुरु किया गया। देशभर के प्रत्येक कारखाने, खान और ट्रस्ट से यह पूछा गया कि वे वर्ष भर में कितना माल पैदा करते हैं और प्रयत्न करने पर अपनी पैदावार वे कहां तक बढ़ा सकते हैं। उत्तर में जो आंकड़े प्राप्त हुए, उन्हें स्थानीय अर्थ-समितियों ने देख कर शुद्ध किया। उसके बाद वे संख्याएं केन्द्रीय अर्थ-समिति को भेज दी गईं। इस अर्थ समिति ने विशे-षज्ञों की एक और समिति नियत की, जिस का नाम गौस्प्लेन (Gosplan) था। इसके सदस्यों की संख्या ७०० थी। इस बड़े संगठन ने रूस की आवश्यकताओं के अनुसार अधिकतम पैदावार करने का प्रयत्न किया।

तीन सालों तक काम करते रहने के बाद उपर्युक्त संस्था का अनुभव बहुत बढ़ गया। इस बीच में स्टालिन ने ट्राट्स्की को रूस से भगा दिया था। देश में आन्तरिक शान्ति हो गई थी। इससे स्टालिन को रूस के आर्थिक पुनर्निर्माण की ओर विशेष ध्यान देने का खुला अवसर मिल गया। स्टालिन ने तीन बातों को अपना उद्देश्य बनाया।

१. रूस को पूर्णरूप से आत्मनिर्भर बनाना। तब तक रूस मुख्यतः कृषिप्रधान देश माना जाता था। स्टालिन ने निश्चय किया कि अब उसे व्यवसाय-प्रधान भी बनाना है। अपनी किसी भी आवश्यकता के लिए रूस को विदेशों का मुँह न देखना पड़े, यह स्टालिन का पहला ध्येय बना।

२. सम्मिलित कृषि का प्रारम्भ । ज़मीन और पशुओं पर से व्यक्तिगत स्वामित्व उठा दिया गया। उसकी बजाय बड़े-बड़े खेत बनाए गए। सभी किसान इन खेतों में काम करने लगे। आर्थिक दृष्टि से इस बात का उपयोग यह था कि बड़े खेतों में वैज्ञानिक ढंग से कृषि हो सकती है। इस बात का राजनीतिक उद्देश्य यह था कि किसानों में भी, बड़े ज़मीन्दारों की समाप्ति कर, पूर्ण समाजवाद का प्रारम्भ किया जाय।

३. सम्पूर्ण रूस को शिक्षित करना। देश भर में एक भी ऐसा व्यक्ति न रहे, जो पढ़ और लिख न सकता हो। रूस को व्यावसायिक देश बनाने के लिए ऐसा करना आवश्यक था।

क्रमश: स्टालिन की सरकार ने एक बहुत बड़ा प्रोग्राम रूस के सम्मुख रक्खा। इस प्रोग्राम पर बरसों तक विचार किया गया था और प्रत्येक विस्तार के सम्बन्ध में भी सभी तरह की प्रामाणिक संख्याएं मौजूद थीं, फिर भी यह प्रोग्राम, जिसे पांच वर्षों में पूरा करने की घोषणा की गई थी, इतना बड़ा और भारी प्रतीत हुआ कि लोगों को उस का पूरा हो-सकना लगभग असम्भव-सा कार्य जान पड़ा। कम्यूनिस्ट पार्टी ने यह काम अपने ज़िम्मे लिया और प्रथम अक्तूबर १९२८ को इस पंच-वार्षिक प्रोग्राम का श्रीगणेश कर दिया गया।

शुरू-शुरू में रूस के मज़दूरों को भी सन्देह था कि यह कार्यक्रम पूरा हो सकेगा या नहीं। रूस की सरकार के पास धन का अभाव था। दूसरा कोई देश रूस को धन उधार देगा, इस की कोई सम्भावना तक नहीं थी और धन के बिना काम शुरू न हो सकता था। इस समस्या का हल बहुत ही आश्चर्यजनक रूप से किया

गया। सरकार ने एक 'राष्ट्रीय ऋण निधि' का सूत्रपात किया और रूस भर के प्रत्येक मज़दूर से यह अनुरोध किया कि वह अपनी एक महीने की आय, चार किश्तों में, इस निधि में दे। बहुत शीघ्र रूस में राष्ट्रीय-ऋण को पूरा करने की यह कल्पना अत्यधिक लोकप्रिय बन गई। उन दिनों अन्य देश रूस के विरुद्ध जो आन्दोलन कर रहे थे, उनके कारण रूसी जनता की अभिरुचि अपने राष्ट्रीय ऋण की ओर और भी अधिक बढ़ी। सरकार के पास पर्याप्त धन जमा हो गया।

रूस के सम्पूर्ण व्यवसायों को उन्नत करने का काम ज़ोर-शोर से शुरू हो गया। मज़दूर स्वेच्छापूर्वक कई-कई घण्टे रोज़ अधिक काम करने लगे। विभिन्न कारखानों में एक दूसरे से अधिक पैदावार करने के लिए होड़-सी चल पड़ी। कुछ समय के बाद रूसी जनता का दृष्टिकोण बहुत आशापूर्ण हो गया। शीघ्र ही एक नया वाक्य रूस के एक छोर से दूसरे छोर तक गूंज गया-"पांच वर्षों का काम चार वर्षों में!" इस सम्बन्ध में सरकारी घोषणा भी होगई। अधिक काम करने वाले मज़दूरों का आदर बहुत अधिक बढ़ गया, उन्हें अनेक तरह की सुविधाएं दी जाने लगी।

विदेशी राष्ट्रों को रूस की सफलता बहुत सन्दिग्ध प्रतीत होती थी। वे इस बात का मज़ाक उड़ाते थे कि रूस जैसा पिछड़ा हुआ देश समाजवादी शासन में अमेरिका के व्यवसाय का मुकाबला करने चला है। परन्तु उन्होंने अपने एंजीनियरों को रूस में जाने से नहीं रोका। इन विदेशी एंजीनियरों ने रूस की बहुमूल्य सेवा की। सब से पहले रूस में बहुत बड़े पैमाने पर बिजली पैदा की गई। उस के बाद अनेक बड़े-बड़े व्यावसायिक नगर बसाए

गए, जिन में बहुत बड़ी-बड़ी मशीनें तैयार की जाने लगीं। रूस की कृषि को समुन्नत करने के लिये ट्रैक्टरों (नए वैज्ञानिक हल) का एक बहुत विशाल कारखाना खोला गया। इन सब के साथ ही साथ मिट्टी का तेल और पैट्रोलियम बहुत अधिक परिमाण में निकाला जाने लगा। बाकू (पैट्रोलियम की उत्पत्ति का केन्द्र) तथा उस के आसपास के तेल-क्षेत्रों को अत्यन्त आकर्षक और सुप्राप्य बनाने का रूसी सरकार ने भरभूर प्रयत्न किया।

व्यापार—व्यापार के क्षेत्र में भी इस पंचवार्षिक कार्य-क्रम ने भारी परिवर्तन कर दिया। सन् १९२८ तक रूस के कुल व्यापार का एक चौथाई भाग व्यक्तिगत रूप से लेनदेन करने वाले व्यापारियों के हाथ में था। वैसे भी राष्ट्र की तरफ़ से होने वाले व्यापार की दशा अच्छी नहीं थी। खरीददारों तक आवश्यकता की चीज़ें समुचित रूप से पहुँच नहीं पाती थीं। इन दिनों सरकार ने तीन तरह की समाजवादी व्यापारिक संस्थाओं को प्रोत्साहित किया—

१. खरीददारों के सहयोग-भण्डार। इन का प्रबन्ध भी खरीददारों के हाथ में रक्खा गया। सन् १९३२ तक रूस का २५ प्रतिशत व्यापार इन्हीं संस्थाओं के हाथ में चला गया।

२. सरकारी दूकानें। सन् १९३२ तक रूस में ७०,००० सरकारी दूकानें खुल गईं।

३. मज़दूरों की दूकानें। इस तरह की दूकानें बड़े-बड़े कार-खानों के साथ खोली गईं। इन का सम्पूर्ण लेनदेन कारखानों द्वारा वितीर्ण टिकटों से होने लगा।

परिणाम यह हुआ कि सन् १६३२ के अन्त तक रूस का कायाकल्प हो गया। राष्ट्रसंघ द्वारा प्राप्त की गई प्रामाणिक संख्याओं के अनुसार निम्नलिखित वस्तुओं की उत्पत्ति इस प्रकार बढ़ी—

पैदावार	सन् १६२७–२८	कार्यक्रम की अभिलषित मात्रा	सन् १६३२ में वास्तविक उत्पत्ति
कोयला	३,५४,००,००० टन	७,५०,००,००० टन	६,४२,००,००० टन
पैट्रोलियम	१,१६,००,००० टन	२,१७,००,००० टन	२,२२,००,००० टन
कच्चा लोहा	३३,००,००० टन	१,००,००,००० टन	६२,००,००० टन
पक्का लोहा	४०,००,००० टन	१,०४,००,००० टन	५६,००,००० टन
लोहे की चादरें	३२,००,००० टन	८०,००,००० टन	४२,००,००० टन
मशीनें	१,८२,२०,००,००० रूबल	४,६८,८०,००,००० रूबल	७,३६,१०,००,००० रूबल
रूई के कपड़े	२,६६,५०,००,००० मीटर	४,६७,००,००,००० मीटर	२,५५,००,००,००० मीटर
बूट और जूते	२,३०,००,००० जोड़े	८,००,००,००० जोड़े	८,००,००,००० जोड़े
बिजली	५,०५,००,००,००० किलोवाट	१७,१२,००,००,००० किलोवाट	१३,१०,००,००,००० किलोवाट

इन सभी तरह की दूकानों के भाव भिन्न-भिन्न तरह के थे। मज़दूरों की दूकानों पर सभी कुछ बहुत सस्ता मिलता था, । मगर वहां रुपये पैसे से कुछ भी नहीं खरीदा जा सकता था। वहां का लेनदेन टिकटों से होता था, और यह टिकट सब को प्राप्त नहीं हो सकते थे। खरीददारोंके सहयोग-भण्डारों से भी केवल सदस्य ही माल खरीद सकते थे। सरकारी दूकानोंके भी अनेक भेद थे। कुछ में माल बहुत महंगा था। धनियों को इन्हीं महंगी दूकानों से ही माल मिल सकता था। विदेशियों के लिए पृथक् दूकानें खोली गईं।

मज़दूरों को पहले टिकट दिये जाते थे, बाद में उन्हें मुद्रा में वेतन मिलने लगा। सब का वेतन एक बराबर नहीं रक्खा गया। वेतन कार्य के अनुसार मिलने लगा।

भूमि का एकत्रीकरण—रूस की राज्यक्रान्ति के दिनों में वहां के बड़े-बड़े ज़मींदारों को समाप्त करने का उपाय लेनिन ने यह किया कि उसने घोषणा कर दी कि जो भूमि जिस किसान के हाथ में है, उस पर उसी का अधिकार माना जायगा। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने ज़बरदस्ती ज़मींदारों से ज़मीनें छीन लीं और जिस व्यक्ति का जितनी ज़मीन पर दाँव लगा, वह उसे अपनी बना कर बैठ गया। रूस मुख्यत: कृषिप्रधान देश है। राज्यक्रान्ति के बाद वहां के ८० प्रतिशत निवासी खेतीबाड़ी करते थे। इनमें से अधिकांश किसानों के हाथ में प्राय: बहुत थोड़ी ज़मीन आई थी। सन् १९२७ में रूस की कृषियोग्य भूमि ढाई करोड़ खेतों में, जिनके मालिक पृथक्-पृथक् थे, बँटी हुई थी। इन किसानों के खेती करने के ढंग पुराने थे, उनकी उपज बहुत कम

होती थी। परन्तु फिर भी ये किसान अपने हाल से लगभग सन्तुष्ट ही थे।

परिणाम यह हुआ कि किसानों पर से रूसी साम्यवाद का प्रभाव बहुत शीघ्र मिटने लगा। मेहनती और समझदार किसान क्रमशः सम्पन्न बनते चले गए और आलसी तथा भीरू प्रकृति के किसान पुनः अमीर किसानों के यहां नौकरी करने लगे। रूस की समाजवादी सरकार को यह परिस्थिति असह्य मालूम हुई। इससे जहां एक ओर खेतीबाड़ी के साधनों में सुधार करना कठिन हो गया, वहां भूमि पर इन किसानों का पूर्ण स्वामित्व स्थापित होजाने के कारण, रूसी किसानों पर से समाजवादी सिद्धन्तों का प्रभाव कम होने लगा। अतः कम्यूनिस्ट पार्टी को इन परिस्थितियों में परिवर्तन करना नितान्त आवश्यक जान पड़ा।

इस समस्या को हल करने के लिए दो उपाय बरते गए। पहला यह कि कुछ भूमियों पर राष्ट्र का प्रभुत्व मान लिया गया। इन भूमियों को बड़े-बड़े खेतों में विभक्त कर खेतीबाड़ी के वैज्ञानिक साधन जुटाने का कार्य सरकार ने अपने ज़िम्मे लिया। किसान लोग इन खेतों में उसी ढंग पर काम करने लगे, जिस ढंग पर रूसी मज़दूर वहां के कारखानों में काम करते हैं। दूसरा यह कि विभिन्न गांवों में पूरी ज़मीन को वैज्ञानिक ढंग के खेतों में विभक्त कर, उसे गांव भर के सम्पूर्ण किसानों की भूमि मान लिया गया। ये किसान अपने औज़ार और अपने पशु बरतते थे।

पंचवार्षिक प्रोग्राम का एक बहुत महत्वपूर्ण भाग रूस की कृषि की उपज बढ़ाना भी था। भूमि का एकीकरण इस बात

के लिए पहला क़दम माना गया। परन्तु परिणाम उल्टा ही निकला। ज्यों-ज्यों समाजवादी प्रचारक गांवों में जाकर उन्हें भूमि के एकत्रीकरण के लाभ समझाते थे, त्यों-त्यों किसानों का डर बढ़ता जाता था। किसानों ने अपनी पुरानी उपज, गेहूँ, चना आदि, सब गाढ़ कर छिपा दी। बहुत जगह वे अपने पशुओं को मार कर खा गए, इस भय से कि वे भी उनसे छिन जाँयगे। जो किसान अमीर हो गए थे, जिन्हें वहां 'कुलक' कहा जाता था, उन्होंने इस एकत्रीकरण का घोर विरोध किया। इस बात के लिए उन्होंने भयंकर कुचक्र और षड्यन्त्र रचे। समाजवादी प्रचारकों की, जिन्हें गाँवों में एकत्रीकरण का प्रचार करने के लिए भेजा गया था, संगठित रूप से हत्या की जाने लगी। एक तरह से रूस भर में पुनः गृहयुद्ध शुरु होगया।

इन सब बातों का नतीजा यह निकला कि भूमि की उपज बढ़ने के स्थान पर और भी घट गई। आखिर मार्च १६३० में एक घोषणा प्रकाशित कर स्टालिन ने भूमि के एकत्रीकरण की स्कीम में बहुत ढील दे दी। तब से केवल उन्हीं लोगों की भूमि का एकत्रीकरण किया जाने लगा, जो खुशी से इस परीक्षण के लिये तैयार थे। परन्तु इस समय तक अधिकांश कुलक नष्ट कर दिए जा चुके थे।

उस के बाद परिस्थितियां बदलीं। धीरे-धीरे किसानों को स्वयं भूमि के एकत्रीकरण के लाभ समझ आने लगे। एकत्रित भूमियों की उपज की बिक्री में सरकार बड़ी सहायता देती थी। उन्हें अन्य सहूलियतें भी प्राप्त थीं; इस से सहज रूप से, भूमियों के एकत्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। सन् १६३२ के अन्त तक

भूमियों की पैदावार बढ़ी तो, परन्तु बहुत अधिक नहीं। उन दिनों खाद्य पदार्थों का मूल्य इतना घट गया कि यह बात स्वयं एक समस्या बन गई। परन्तु कम्यूनिस्ट प्रचारकों की मेहनत से क्रमशः किसानों ने अपनी आय का स्टैण्डर्ड ही नीचा कर लिया।

शिक्षा—रूस में पुनर्जीवन का संचार करना बिलकुल असम्भव हो जाता, यदि वहाँ अशिक्षा को दूर करने का प्रयत्न न किया जाता। पंचवर्षिक कार्यक्रम का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग था। अशिक्षा को दूर करने में सब से बड़ी बाधा रूस में भाषाओं की अधिकता का होना था। वहां कुल मिला कर ६० विभिन्न भाषाएं बोली और लिखी जाती थीं। भाषाओं की अधिकता के कारण सभी स्थानों पर अनेक भाषाओं के स्कूल खोलने का प्रबन्ध करना अनिवार्य था। उदाहरणार्थ अकेले खरकोब में ग्रीक, आर्मेनियन, जर्मन, तारतार, यूक्रेनियन और रूसी भाषा के स्कूल खोले गए। इस सम्बन्ध में रूसी सरकार ने अनथक प्रयत्न किया। गांव के गांव को एक साथ शिक्षित करने का प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि जहाँ सन् १६१४ में रूस में पढ़े-लिखे लोगों की संख्या सिर्फ २७ प्रतिशत थी, वहां सन् १६३२ में यह संख्या बढ़ कर ६१ प्रतिशत तक जा पहुँची। सन् १६३८ में यह संख्या लगभग १०० प्रतिशत हो गई। सन् १६१४ में जहां रूस में प्राइमरी स्कूलों के विद्यार्थियों की संख्या ७० लाख और हाई स्कूल के विद्यार्थियों की संख्या ५ लाख थी, वहां १६३२ में यह संख्या बढ़ कर क्रमशः १ करोड़ ६० लाख और ४५ लाख ५० हजार तक जा पहुँची।

शिक्षा का उद्देश्य केवल लिखना-पढ़ना भर सिखाना ही नहीं रक्खा गया। हाई स्कूलों में शिल्प, व्यवसाय, श्रम, एंजीनियरिंग, व्यापार, आदि की शिक्षा भी साथ ही दी जाने लगी। स्कूलों के साथ कल-कारख़ाने खोल दिए गए। १५ से लेकर १८ वर्ष तक की आयु के विद्यार्थियों के लिए इन कारखानों में काम करना आवश्यक बना दिया गया।

उच्च शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। रूस की सरकार रिसर्च के काम पर बहुत धन व्यय करने लगी। एंजीनियरिंग तथा चिकित्सा के विज्ञान की ओर विशेष ध्यान दिया गया। धर्म और इतिवृत्त आदि की पढ़ाई तो बन्द कर दी गई, परन्तु पुरातत्व, शिल्प, कला, भाषाएं तथा इतिहास के अध्ययन की ओर विशेष रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया।

रूसी सरकार का पूरा ध्यान अपने सिद्धान्तों के प्रचार की ओर था। लेखकों और कलाकारों से भी यह आशा की जाती थी कि वे समाजवाद के प्रचार के उद्देश्य से ही लिखें। इस से साहित्य की प्रगति को वहां बहुत धक्का पहुँचा। सम्पूर्ण साहित्य का निरीक्षण करने के लिए रूस में एक समिति (R. A. P. P.) बनाई गई। सन् १९३२ तक यह समिति कायम रही। इस समिति ने रूस के साहित्य और कला को जो हानि पहुंचाई, उस की कोई सीमा ही नहीं। सन् १९३२ में यह समिति तोड़ दी गई।

द्वितीय पंचवार्षिक कार्यक्रम—यह कहा जा सकता है कि परिणाम की दृष्टि से रूस के प्रथम पंचवार्षिक प्रोग्राम में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। परन्तु उन दिनों कारखानों से जो माल तैयार हुआ, वह बहुत ही घटिया दर्जे का था। ख़ास तौर

से कपड़े और बूट दोनों ही बहुत घटिया थे। अंग्रेज़ लोग सत्रहवीं सदी में जिस दर्जे का माल तैयार करते थे, उस दर्जे का माल रूस ने अपने इन प्रथम पंचवार्षिक कार्यक्रम के दिनों में तैयार किया। यातायात का प्रबन्ध बहुत ही दोषपूर्ण था, यहां तक कि बड़े-बड़े लोह-क्षेत्रों तक भी रेल की इकहरी लाइन थी। मज़दूरों के रहने का प्रबन्ध बहुत अपर्याप्त और असन्तोषजनक था। सन् १६२५ में मास्को की ३० प्रतिशत आबादी प्रत्येक कमरे में पांच व्यक्तियों की औसत से निवास करती थी। बोल्शेविक सरकार ने इस कमी को दूर करने का प्रयत्न तो किया, परन्तु १६३२ तक इस दिशा में उसे विशेष सफलता नहीं मिली।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के उद्देश्य से सन् १६३३ से १६३७ तक के लिए एक नया पंचवार्षिक कार्यक्रम बनाया गया। इस कार्यक्रम की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :—

सन् १६३२ की अपेक्षा—

१. खरीददारों के साधारण व्यवहार की वस्तुओं की उपज को तीन गुना करना।

२. रूसी व्यापार को ढाई से तीन गुना तक बढ़ाना।

३. कीमतों को ३५ से ४० प्रतिशत तक घटाना।

४. राष्ट्र की ओर से भोजन प्राप्त करने वाले आदमियों और किसानों की संख्या को दो से ढाई गुना तक बढ़ाना।

५. रूस भर के वेतनों को २$\frac{१}{१०}$ गुना बढ़ाना।

६. राष्ट्रीय और सहयोग-भण्डारों की संख्या को ३७ प्रतिशत बढ़ाना।

दो वर्षों तक इस कार्यक्रम को बहुत उत्साह के साथ निभाया गया। उस के बाद यह उत्साह कुछ शिथिल हो गया। स्टालिन ने यह अनुभव कर लिया कि समाजवादी सिद्धान्तों को रूस में पूरी तरह से प्रयुक्त करना हानिकर है, अतः उसने बहुत से क्षेत्रों में कुछ ढील दे दी। यहां तक कि 'कुलकों' को भी नागरिकता के अधिकार दे दिए गए।

रूसी राज्यक्रान्ति से लेकर सन् १९२८ तक अधिकांश विदेशों का जनमत रूस की बोल्शेविक सरकार का तीव्र विरोधी रहा। लोगों को विश्वास था कि रूसी सरकार फ़ेल हो जायगी, अथवा उसे समाजवाद का मार्ग छोड़ देना पड़ेगा परन्तु इन दोनों में से एक बात भी न हुई। हां, रूस ने अपने सिद्धान्तों में थोड़ी ढील अवश्य दी। इस के बाद क्रमशः ससार का जनमत बदलने लगा, रूस का भूत लोगों पर से उतर गया, और रूस को दूसरे देशों से सभी तरह से सम्बन्ध बनाने का अवसर मिलने लगा। क्रमशः फ़ासिज़्म और नाज़ीइज़्म के प्रसार से विश्व भर का ध्यान इन दोनों नई समस्याओं, जो वास्तव में एक ही श्रेणी की हैं, की ओर आकृष्ट हो गया। उधर चीन में जापान ने जो ज़्यादती शुरू की, उस से संसार का ध्यान उस ओर भी खिंचा।

रूस को इन परिस्थितियों से और भी लाभ पहुँचा। उस का व्यापार बहुत बढ़ गया और बरसों के अनुभव से उपज की वृद्धि के साथ-साथ उस की किस्म में भी बहुत सुधार हो गया। दूसरे पंचवार्षिक कार्यक्रम के कुछ भाग को शिथिल कर रूसी सरकार ने अपना ध्यान अपनी सैनिक-शक्ति बढ़ाने की ओर लगाया। युद्ध का सामान बहुतायत से तैयार किया जाने लगा।

रूसी सरकार ने अपनी वायु-शक्ति बढ़ाने और ज़बरदस्त हवाई बेड़ा बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। सन् १६३६ में, रूस का दावा था कि उस की वायुशक्ति का मुक़ाबला संसार भर का कोई राष्ट्र नहीं कर सकता।

वर्तमान महायुद्ध के प्रारम्भ ही में, परिस्थितियों से लाभ उठा कर रूस ने पोलैंड के काफ़ी भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। यह भाग पिछले महायुद्ध तक रूस के ही पास था। अपनी सीमा बढ़ा कर रूस आज अपने को चारों ओर से सुरक्षित करने का गम्भीर प्रयत्न कर रहा है। लोगों को भय प्रतीत होता है कि इतनी शक्ति बढ़ा कर कहीं रूस समाजवादी सिद्धान्तों को भुला कर साम्राज्यलोलुप देश न बन जाय। रूस ने जिस तरह फिनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया उस से यह आशंका और भी बढ़ गई।

यह मानना ही पड़ेगा कि रूस का समाजवाद, कार्लमार्क्स के आदर्शों की दृष्टि से बहुत शिथिल होता जा रहा है। भविष्य में वहां क्या होगा, यह कहना कठिन है। शुरू-शुरू में रूसी सरकार अन्य देशों में समाजवाद के प्रचार का गम्भीर प्रयत्न करती रही है, परन्तु इस कार्य में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। संसार के किसी भी अन्य देश में समाजवाद का प्रभुत्व नहीं हो सका। अब बहुत समय से रूस का ध्यान अपनी आन्तरिक उन्नति की ओर ही केन्द्रित हो गया है!

तृतीय अध्याय

फ़ासिस्ट इटली

पिछले महायुद्ध में इटली मित्रराष्ट्रों के साथ था। मित्रराष्ट्र उस युद्ध में विजयी हुए, परन्तु इटली की दृष्टि से यह जीत भी हार के बराबर थी। इटली को उस युद्ध में बहुत अधिक क्षति पहुंची। अक्टूबर १९१७ में शत्रुसेना ने इटली के दांत खट्टे कर दिये थे। वह क्षणिक पराजय इटली पर एक तरह का स्थायी प्रभाव छोड़ गई और युद्ध की समाप्ति पर, विजयी मित्रराष्ट्रों की तरफ़ होते हुए भी इटली विशेष हर्ष नहीं मना सका। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि महायुद्ध के बाद भी इटली को कोई विशेष महत्ता प्राप्त नहीं हुई।

युद्ध से पूर्व इटली की आस्ट्रिया और जर्मनी से एक सन्धि थी। परन्तु मित्रराष्ट्रों की सहायता से अपनी सीमा बढ़ाने के लालच से इटली युद्ध में सम्मिलित हो गया था। उसकी निगाह अल्बानिया, टर्की के एडालिया तथा जर्मनी के अफ़्रीकन साम्राज्य पर थी। इसी कारण सन् १६१५ में अंग्रेज़ों से एक गुप्तसन्धि कर टर्की युद्ध में सम्मिलित हुआ था। कुल मिला कर ६० लाख इटैलियनों ने उस युद्ध में भाग लिया था, जिनमें से ७ लाख मारे गए थे।

इतना बलिदान देकर इटली की आशाएं बहुत बढ़ गईं, परन्तु मित्रराष्ट्रों ने इटली को दो-एक बहुत छोटे प्रदेश ही देना स्वीकार किया। उसे न अल्बानिया मिला, न फ़्यूम और न जर्मनी के अफ़्रीकन उपनिवेश। इस बात से इटली भर में घोर असन्तोष व्याप्त हो गया। इटली का प्रतिनिधि मो० ओर-लैण्डो बहुत नाराज़ होकर सन्धि-परिषद् में से उठ गया।

इस असफलता और निराशा की प्रतिक्रिया इटली भर में अव्यवस्था और अशान्ति फैल जाने के रूप में प्रगट हुई। युद्ध इटली को बहुत मंहगा पड़ा था। इटली के व्यापार को महायुद्ध ने भारी धक्का पहुँचाया था। उसके बदले में जब इटली को मिला कुछ भी नहीं, तो लोगों के दिल में तत्कालीन सरकार के प्रति तीव्र असन्तोष के भाव पैदा हो गए। दुर्भाग्य से उन दिनों की सरकार वैसे भी बहुत कमज़ोर और दक़ियानूसी लोगों के हाथ में थी।

इटली भर में बीसियों छोटे-बड़े राजनीतिक दल बन गए। नैशनलिस्ट, फ़ासिस्ट, बोल्शेविस्ट आदि नामों से जो दल संगठित

हुए, उनके कारनामें रोज़मर्रा के षड्यन्त्रों, हत्याओं और राजनीतिक दंगों के रूप में प्रकट होने लगे। निर्वाचन में पुराने वैध राजनीतिक दलों को बहुमत प्राप्त हुआ, परन्तु वे दल इन नए क्रान्तिकारी और आतंकवादी दलों के सन्मुख अशक्त से सिद्ध हुए; वे उन का दमन नहीं कर सके। सन् १६१६ तथा २० में हड़तालों का ज़ोर रहा। इटली भर में अराजकता और पूर्ण अव्यवस्था छाई रही।

सन् १६२१ में फ़ासिस्ट पार्टी का प्रभाव कुछ अंश तक बढ़ा। ये फ़ासिस्ट एक तरह के आतंकवादी थे। मई के चुनाव में २१ फ़ासिस्ट इटैलियन पार्लियामैण्ट में निर्वाचित होकर पहुँच गए। इन्हीं में मुसोलिनी भी था।

उन दिनों फ़ासिस्ट पार्टी एकदम असंगठित थी। कोई किसी की न सुनता था। उनका परस्पर एक दूसरे पर भी विश्वास नहीं था। दंगे कराना, हड़तालें कराना और हत्याएं करना उन का मुख्य कार्य था! पार्टी में नियन्त्रण का अभाव देखकर मुसोलिनी ने उसके नेतृत्व से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु कुछ ही महीनों के बाद फ़ासिस्टों ने उसे पुनः अपना नेता चुन लिया और उस के अनुशासन में रहने का वचन दिया।

रोम पर आक्रमण—मुसोलिनी ने अब बहुत संभाल कर कदम रखने शुरू किए। उसने घोषणा की कि वह राजतन्त्रवादी है और यह भी कि फ़ासिस्टों का सब से बड़ा उद्देश्य इटली से बोल्शेविज़्म की जड़ें उखाड़ना है। अगस्त १६२२ में फ़ासिस्टों और बोल्शेविकों की परस्पर खुली लड़ाई हुई। इस लड़ाई में फ़ासिस्टों ने बोल्शेविकों को मोटे डण्डों की मार से तथा ज़बर-

दस्ती एरंड का तेल पिला कर परास्त कर दिया। उससे पहले इस तरह के दंगों में बोल्शेविक सदा जीता करते थे।

मुसोलिनी का फ़ासिस्ट संगठन बहुत शीघ्र एक ज़बरदस्त संस्था बन गई। हज़ारों नौजवान उसकी वर्दी वाली स्वयंसेवक सेना में भर्ती हो गए। अवसर पाकर अपनी इस ग़ैरसरकारी सेना के साथ मुसोलिनी ने राजधानी की ओर प्रस्थान करने की घोषणा कर दी। यह घोषित किया गया कि २७ अक्टूबर को फ़ासिस्ट लीडर मुसोलिनी रोम में पहुँचेगा, उस दिन यदि राज्य की बाग-डोर उसके हाथ में न दे दी गई, तो वहां राज्यक्रान्ति हो जायगी। इस घोषणा से डर कर प्रधान मन्त्री ने त्यागपत्र दे दिया। इटै-लियन राजा विक्टर ने चाहा कि मुसोलिनी अन्य दलों के साथ मिल कर अपना मन्त्रि-मण्डल बनाए, परन्तु मुसोलिनी अपने इस आग्रह पर स्थिर रहा कि वह अपनी इच्छा से अपना मन्त्रि-मण्डल बनाएगा। यह बात भी मान ली गई। २७ अक्टूबर को ५० हज़ार फ़ासिस्टों के साथ, एक बड़ा शानदार जलूस लेकर मुसोलिनी रोम में पहुँचा और उसी दिन उसने इटली में फ़ासिस्ट मन्त्रि-मण्डल, जिस में १५ सदस्य अन्य दलों के भी थे, क़ायम कर दिया। फ़ासिस्ट स्वयंसेवक क्रमशः इटली की राष्ट्रीय सेना में भर्ती हो गए।

अन्य देशों में अब तक मुसोलिनी का नाम लगभग अज्ञात-सा था। जब संसार ने सुना कि एक लोहार का पुत्र, जिस ने कहीं बाक़ायदा उच्च शिक्षा नहीं ली, जो ११ बार जेलख़ाने की हवा खा चुका है और जो कभी स्वयं साम्यवादी रह कर साम्य-वादियों का दुश्मन बन गया है, आज इटली का एकमात्र तानाशाह

(डिक्टेटर) बन गया है, तो सभी जगह यह समाचार एक बहुत बड़ा अचम्भा-सा जान पड़ा। किसी को आशा नहीं थी कि मुसोलिनी को सफलता प्राप्त होगी।

सब से अधिक आश्चर्य इस बात का था कि अक्टूबर १९२२ से लेकर १९२५ तक फ़ासिस्ट पार्टी का ध्येय किसी को मालूम ही नहीं हो सका। इन तीन बरसों में फ़ासिस्टों का एक ही काम था और वह यह कि अपने प्रतिद्वन्दी दलों को समाप्त करना। इस बीच में मुसोलिनी ने पार्लियामैण्ट के सब अधिकार फ़ासिस्ट ग्रैण्ड कौन्सिल को दे दिये। इटली भर के फ़ासिस्ट संगठनों को इस बात की छुट्टी थी कि वे अन्य दलों के साथ चाहे जैसा बरताव करें। राज्य की बागडोर अपने हाथ में लेकर भी फ़ासिस्ट आतंकवादी बने रहे। अपने दुश्मनों को उन्होंने पकड़-पकड़ कर ज़बरदस्ती एरण्ड का तेल पिलाया। उन्हें डण्डों से पीटा। इस बीच में हत्याकांड भी जारी रहे। क्रमशः मुसोलिनी ने सभी दलों को पूरी तरह कुचल दिया और तब उस ने अपना ध्यान रचनात्मक कार्य की ओर दिया।

राष्ट्र-निर्माण का कार्य—इटली पर फ़ासिस्ट पार्टी का प्रभुत्व तो स्थापित हो गया, परन्तु उसे कायम रखने का एकमात्र उपाय यह था कि जनता फ़ासिस्ट शासन से सन्तुष्ट और समृद्ध बने। उन दिनों तक इटली बहुत गरीब था। इटली का दो-तिहाई भाग पहाड़ी और अनुपजाऊ है, वहां पर अपनी आवश्यकता के बराबर भी अनाज पैदा नहीं होता। वहां खनिज द्रव्य भी पर्याप्त नहीं। इटली के उपनिवेश भी तब तक नहीं के बराबर थे। कोइला, लोहा, पैट्रोल और रूई जैसी अत्यन्त आवश्यक चीज़ें इटली को

अन्य देशों से मंगानी पड़ती हैं। इटली का निर्यात फल, शराब, ओलिव, शीशा, लकड़ी और चमड़े की चीज़ें हैं। परन्तु यह निर्यात आयात के बराबर नहीं। युद्ध से पहले विदेशी यात्रियों की आय से इटली का कामलायक़ गुज़ारा हो जाता था, परन्तु युद्ध के दिनों में यात्री आने बन्द हो गए। इस से इटली की गरीबी बहुत अधिक बढ़ गई।

मुसोलिनी को सब से अधिक महत्वपूर्ण ये तीन काम जान पड़े:—

१. गेहूँ की उत्पत्ति बढ़ाना।

२, कोइले की कमी पूरी करने के लिये बिजली अधिक पैदा करना।

३. हड़तालों को रोकना।

इस का एकमात्र उपाय यह था कि कृषि, व्यवसाय, अर्थ और श्रम पर किसी तरह का केन्द्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाय। मुसोलिनी ने पुराने व्यापार-संघ (Trade Unions) तो बन्द कर दिए, उन की जगह वह श्रमियों और पूँजी-पतियों के सिण्डीकेटों को प्रोत्साहित करने लगा। श्रमियों के पृथक् संगठनों को स्वीकार करने से उन का असन्तोष घटने लगा। इन संगठनों में सरकार द्वारा उन्हीं को महत्ता दी जाती थी, जिन का संचालन फ़ासिस्टों के हाथ में था। इस तरह बहुत शीघ्र व्यापार और व्यवसाय के अधिकांश संगठनों पर फ़ासिस्टों का नियन्त्रण स्थापित हो गया। हड़तालें होनी बन्द हो गईं।

तदनन्तर मुसोलिनी ने कृषि, व्यवसाय, व्यापार, बैंक, बीमा, सामुद्रिक यातायात आदि के १३ केन्द्रीय कौन्फिडरेशन्स

बनाए। इन सब की प्रतिनिधि संस्था कौरपोरेशन्स की राष्ट्रीय सभा (National Council of Corporations) नाम से बनाई गई। इस तरह मुसोलिनी ने व्यापार, व्यवसाय, कृषि आदि का बहुत ज़बरदस्त संगठन कर दिया।

इस के बाद मुसोलिनी ने इटली के शासन-विधान में परिवर्तन किए। प्रधानमन्त्री (मुसोलिनी) को असीम शक्तियां दे दी गईं। पार्लियामैंट से भी उसे पदच्युत कर सकने का अधिकार छीन लिया गया। प्रधानमन्त्री केवल इटेलियन राजा के सन्मुख ही उत्तरदायी रह गया। एक और कानून द्वारा मन्त्रिमंडल को ही नियम बनाने के पूरे अधिकार दे दिए गए। पार्लियामैण्ट की महत्ता बिल्कुल नष्ट हो गई, उस की जगह ग्रैण्ड फ़ासिस्ट कौन्सिल' की महत्ता स्थापित हो गई, जिस का प्रधान स्वयं मुसोलिनी था। यद्यपि शासन-विधान में इस फ़ासिस्ट कौन्सिल का ज़िक्र तक भी न था। सन् १९२९ में उसे शासन-विधान में भी ले आया गया। तब शासन-विधान को पूर्णरूप से बदल दिया गया। यहां तक कि चुनाव की विधि भी नए ढंग की बनाई गई। देश भर के व्यापार-संगठनों से हाउस आफ़ कौमन्स (जिसका नाम अब बदल कर 'कोरपोरेट चैम्बर' कर दिया गया था) के सदस्यों के नाम पूछे जाते थे। ग्रैण्ड फ़ासिस्ट कौन्सिल इन नामों में से अथवा बाहर से, ४०० व्यक्तियों के नामों की सूची तैयार करती थी और देश के मतदाताओं से पूछा जाता था कि वे उस पूरी की पूरी सूची को स्वीकार करते हैं या नहीं। मतदाताओं के लिए उसे स्वीकार करने के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या था ?

और इस 'कोरपोरेट चैम्बर' के अधिकार भी नहीं के बराबर रक्खे गए। वास्तविक शक्तियां तो 'ग्रैण्ड फ़ासिस्ट कौन्सिल' के ही पास रहीं। इस कौन्सिल में मुसोलिनी, उस के द्वारा नियुक्त मन्त्रिमण्डल के सदस्य और उस के अन्य सहकारी शामिल हैं। इस कौन्सिल के अधिवेशन गुप्त रूप से होते हैं। एक बार इस कौन्सिल ने मुसोलिनी का उत्तराधिकारी भी निश्चित कर दिया था।

फ़ासिस्ट ध्येय—फ़ासिज़्म की स्थिरता का सब से प्रमुख साधन उन का प्रचार है। उन में स्वतन्त्र-विचार के लिए ज़रा भी स्थान नहीं। फासिज़्म के प्रचार के लिए सभी सम्भव साधन वहां काम में लाए जाते हैं। बालकों को केवल फ़ासिस्ट स्कूलों में ही पढ़ाया जा सकता है। उनकी सभी पुस्तकें फ़ासिस्टों की लिखी हुई हैं। प्रत्येक स्कूल में मुसोलिनी के बड़े-बड़े फोटो और प्रस्तर-मूर्तियां रक्खी जाती हैं। स्कूलों की दीवारों पर लिखा रहता है—"मुसोलिनी सदैव ठीक है।" इसी आशय के गीत उन से गवाए जाते हैं। शिक्षा के साथ ही साथ बच्चों से सैनिक क़वायद भी कराई जाती है और उन्हें सिखाया जाता है कि वे फ़ासिस्ट सिपाही बनें।

अठारह बरस के विद्यार्थियों को फ़ासिस्ट पार्टी में शामिल होने की आज्ञा मिल सकती है, यद्यपि पार्टी में लिया किसी-किसी को ही जाता है। इटैलियन यूनिवर्सिटियों के प्रोफ़ेसरों को यह शपथ लेनी पड़ती है—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं राजा, उसके उत्तराधिकारियों तथा फ़ासिस्टों के प्रति हितचिन्तक रहूँगा और शासन-विधान तथा कानूनों की प्रतिष्ठा करूँगा। अध्यापक रह कर मैं

अपने विद्यार्थियों को ऐसे परिश्रमी नागरिक बनाने का प्रयत्न करूँगा, जो अपनी पितृभूमि तथा फ़ासिस्ट पार्टी के भक्त और उन के लिए उपयोगी होंगे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं किसी ऐसे दल का सदस्य न बनूँगा, जिस का कार्य-क्रम मेरी उपर्युक्त प्रतिज्ञा में बाधक बन सकता हो।"

इटली भर के समाचारपत्रों पर फ़ासिस्ट पार्टी का पूरा नियन्त्रण है। देश भर के प्रायः सभी अख़बार लगभग एक-सी बातों से भरे रहते हैं। उन के शीर्षक तथा उन की टिप्पणियां भी एक ही जैसी होती हैं। स्वाधीन विचार तथा स्वेच्छापूर्वक अपना मत प्रकट करने की उन्हें अनुमति नहीं है।

फ़ासिस्ट ध्येय को संक्षेप में इन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है—"मेरा राष्ट्र में पूर्ण विश्वास है। इस के बिना मैं पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। मेरा विश्वास है कि इटली का पवित्र भाग्य एक दिन सम्पूर्ण विश्व पर सब से महान आध्यात्मिक प्रभाव डालेगा। मैं ड्यूस मुसोलिनी की आज्ञा का पालन करूँगा, क्योंकि आज्ञा पालन के बिना समाज स्वस्थ नहीं बन सकता।" यह उद्धरण मुसोलिनी के अपने लेखों में से लिया गया है। फ़ासिज़्म क्या नहीं है, यही बताना शायद मुसोलिनी को अधिक आसान जान पड़ा। तभी उस ने कहा—

"फ़ासिज़्म अन्तर्राष्ट्रीयता नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय भाव फ़ासिज़्म के आन्तरिक अंग नहीं हैं। यह साम्यवाद नहीं है, क्योंकि यह मार्क्सिज़्म का विरोधी है, यह विभिन्न श्रेणियों के हितों के आधारभूत भेद को स्वीकार नहीं करता। यह प्रजातन्त्रवाद भी नहीं है, क्योंकि यह इस सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करता कि

समाज के सभी सदस्य, सदस्यत्व के नाते समाज पर शासन करने के योग्य भी हो जाते हैं। और यह शान्तिवाद (Pacifism) भी नहीं है, क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को न तो सम्भव मानता है और न वांछनीय ही। फ़ासिज़्म युद्धों की उपयोगिता को स्वीकार करता है।"

धर्म और राष्ट्र—फ़ासिस्ट पार्टी के अधिकांश सदस्यों का धर्म रोमन कैथोलिक था। मुसोलिनी स्वयं भी कैथोलिक था। उसने इटली से बोल्शेविज़्म तथा फ्रीमैसनिज़्म का नाश कर दिया था, इस कारण पोप उस से बहुत प्रसन्न था। एक लम्बे पत्र-व्यवहार के बाद सन् १६२६ में मुसोलिनी ने पोप के धार्मिक प्रभुत्व को बाकायदा स्वीकार कर लिया और पोप ने वचन दिया कि वह राजनीतिक बातों से कोई सरोकार न रक्खेगा।

परन्तु यह समझौता हो जाने पर भी अनेक समस्याएं बहुत शीघ्र उठ खड़ी हुईं। फ़ासिस्ट जिस क़िस्म की शिक्षा इटली के बालकों को दे रहे थे, उस से पोप को शिकायत पैदा हुई। साथ ही फ़ासिस्टों ने कैथोलिक ब्वाय स्काउटों को फ़ासिस्ट स्काउटों में शामिल कर लिया था। इन बालकों को भी, १४ बरस की उम्र में शपथ लेनी पड़ती थी कि—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि ड्यूस (मुसोलिनी) की आज्ञाओं का बिना किसी ननुनच के, अपनी पूरी शक्ति के अनुसार, पालन करूँगा। फ़ासिस्ट क्रांति के लिए, यदि आवश्यकता हुई तो अपने जीवन का बलिदान देने को भी तैयार रहूँगा।" पोप ने घोषणा की कि स्काउटों की उक्त प्रतिज्ञा उन्हें धर्म तथा ईसामसीह से दूर ले जाती है और उन में घृणा, हिंसा तथा उद्दण्डता के भाव भरती है, अतः यह प्रतिज्ञा

अवैध है। मुसोलिनी नाराज़ हो गया। उस ने कैथोलिकों की सब से महत्वपूर्ण शिक्षा-संस्था (एज़ोन कटोलीका) को बन्द कर दिया। सन् १६३१ तक वह संस्था बन्द रही। उस के बाद मुसोलिनी ने कटोलीका को खोल तो दिया, परन्तु उस पर बहुत-सी बन्दिशें लगा दीं। पोप अब मुसोलिनी के मुकाबले में अशक्त था।

विदेशी नीति—इटली में अपना एकमात्र प्रभुत्व स्थापित करते ही मुसोलिनी ने विदेशी राज-नीति पर प्रभाव डालना शुरू किया। सब से पहले उसने ग्रीस के एक टापू कोर्फू (Corfu) को धमकी दी। वहां ५ इटैलियनों की हत्या करदी गई थी। मुसोलिनी ने लीग आफ़ नेशन्स को शिकायत किए बिना उन से एक बहुत बड़ा हर्जाना मांगा। लाचार होकर कोर्फू को वह जुर्माना भरना पड़ा। इस के बाद उसने फ्यूम को स्वतन्त्र नगर मानने से इन्कार कर दिया। वर्साई की सन्धि के अनुसार उसे स्वतन्त्रता दे दी गई थी। फ्यूम के बारे में मुसोलिनी ने यूगोस्लाविया से एक निजू समझौता कर लिया।

तदनन्तर मुसोलिनी ने अल्बानिया से गत युद्ध की क्षतिपूर्त्ति के रूप में एक बड़ी रकम मांगी। गरीब अल्बानिया के लिए वह रकम देसकना असम्भव था। इस पर मुसोलिनी ने उस पर आर्थिक और सैनिक प्रभुत्व कायम कर लिया। सन् १६३८ में एक दिन चुपचाप इस सम्पूर्ण देश को मुसोलिनी ने अपने अधीन कर लिया। अल्बानिया के महाराज और महारानी को अपना देश छोड़ कर भाग जाना पड़ा।

इटली की इन सब ज़्यादतियों की ओर यूरोप ने विशेष ध्यान नहीं दिया। परन्तु शीघ्र ही एक ऐसा सवाल उठ खड़ा हुआ, जिसमें फ्रान्स और इटली के हितों का विरोध था। फ्रान्स में करीब १० लाख इटैलियन मेहनत-मज़दूरी का काम करते थे, इटली ने उनके सम्बन्ध में हस्तक्षेप करना चाहा। उधर फ्रान्स के ट्यूनिस उपनिवेश में फ्रांसीसियों की अपेक्षा इटैलियनों की संख्या अधिक थी, इस से वहां भी झगड़ा उठ खड़ा हुआ। आसपास के छोटे राष्ट्रों से फ्रान्स की जो सन्धि हो चुकी थी, इटली को वह भी बहुत नागवार प्रतीत होती थी। उक्त सन्धि के द्वारा यूगोस्लाविया, रूमानिया, आस्ट्रिया, ज़ैचोस्लोवाकिया आदि एक दूसरे से सहायता की आशा कर सकते थे, और इस तरह उन्हें बाह्य आक्रमणों का भय प्रतीत नहीं होता था। यह स्थिति मुसोलिनी की महत्वाकांक्षा में बाधक थी, वह उक्त राष्ट्रों पर अपना रोब कायम करना चाहता था। अन्त में वह आस्ट्रिया से पृथक् सन्धि करने में सफल हुआ। यद्यपि दक्षिण टिरोल के ढाई लाख आस्ट्रियनों की राष्ट्रीयता को वह नष्ट कर रहा था। उन्हें आस्ट्रियन की जगह इटैलियन पढ़ाई जाती थी। उक्त परिस्थितियों का प्रभाव यह हुआ कि इटली और फ्रान्स के राजनीतिक सम्बन्ध बहुत कटु बन गए।

इटली के फ़ासिज़्म का यूरोप पर सब से हानिकर प्रभाव यह पड़ा कि इटली की देखादेखी यूरोप के सभी राष्ट्र पुनः अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करने लगे। निश्शस्त्रीकरण की बजाय बड़ी तीव्रता से शस्त्रीकरण का कार्य सम्पूर्ण यूरोप में शुरू हो गया, और भय तथा आशंका का वातावरण

दिनोंदिन बढ़ने लगा। इटली में प्रतिवर्ष दो लाख नए सैनिक तैयार किए जाने लगे। मुसोलिनी ने १५०० लड़ाई के हवाई जहाज़ बनाए और जलसेना की दृष्टि से भी फ़ान्स का मुकाबला करने की महत्वाकांक्षा घोषित कर दी। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही बरसों में इटली को संसार की महान शक्तियों में गिना जाने लगा।

आर्थिक उन्नति—इटली को आर्थिक दृष्टि से उन्नत बनाने में भी मुसोलिनी को काफ़ी सफलता प्राप्त हुई। सब से पहले इटली में अच्छा खाद बहुत बड़े परिमाण में बनाने का प्रयत्न किया गया। साथ ही साथ किसानों को कृषि के नए वैज्ञानिक उपाय भी सिखाए गए। बहुत-सी अनुपजाऊ भूमियों को उपजाऊ बनाया गया। रूस की तरह बिजली अधिक पैदा करने की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। बिजली की रेल-गाड़ियां जारी की गईं। बिजली की मोटरें बनाने में तो इटली को विशेष सफलता प्राप्त हुई। सन १६३५ तक इटली अपनी पूरी आवश्यकता के बराबर गेहूँ स्वयं पैदा करने लगा। फ़ासिस्ट शासन के पहले १० सालों में १८,००,००,००,००० लीरे इटली को व्यवसाय तथा कृषि की दृष्टि से समृद्ध बनाने पर व्यय किए गए। इस धन से इटली में अधिकतम बिजली पैदा की गई, ४००० मील सड़कें बनी, ११ हज़ार स्कूल खोले गए, ५० मकान बनाए गए। १० लाख लीरे नई नहरें बनाने पर खर्च किए गए और १,६१,७०,००,००० लीरे बन्दरगाहों के निर्माण और सुधार पर व्यय हुए।

यह सब होने पर भी इटली के पास लोहा, कोइला, तेल और रूई की कमी बनी रही। ये अत्यन्त आवश्यक वस्तुएं उसे बाहर से लेनी पड़ती थीं। इटली की यह बहुत बड़ी शिकायत थी कि युद्ध के बाद उसे अफ्रीका में कोई ऐसा उपजाऊ मूल्यवान उपनिवेश क्यों नहीं दे दिया गया, जिस से वह अपनी उपर्युक्त आवश्यकताएं पूरी कर सकता। जब मुसोलिनी से और कुछ न बन पड़ा, तो उस की निगाह एबीसीनिया पर गई। उसने शुरू-शुरू में इंग्लैंड और फ्रांस को इस बात का लालच दिया कि एबीसीनिया को हम लोग आपस में बांट लें। परन्तु वे नहीं माने। सन् १६२३ में एबीसीनिया राष्ट्रसंघ का स्वतन्त्र सदस्य बन गया था। १६२८ में मुसोलिनी ने स्वयं एबीसीनिया के साथ एक सन्धि कर ली। कुछ समय तक इस सन्धि का पालन भी किया जाता रहा। परन्तु इटली को अपने उपनिवेशों का अभाव इतना अधिक खटकता था कि मुसोलिनी उपर्युक्त सन्धि पर कायम नहीं रह सका।

एबीसीनिया की विजय—आर्थिक दृष्टि से इटली को बहुत श्रेष्ठ कोटि का देश बनाने में मुसोलिनी सफल नहीं हो सका। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस कमी को दूर करने का एकमात्र उपाय यही था कि इटली किसी उपजाऊ उपनिवेश का मालिक बने। एबीसीनिया से बढ़ कर कोई और शिकार मुसोलिनी को नहीं सूझा; और चाहे जिस तरह भी सम्भव हो, उस पर अपना अधिकार जमा लेने का उसने निश्चय कर लिया। इस बीच में संसार में अनेक ऐसी घटनाएं हो गईं, जिन से राष्ट्रसंघ (League of Nations) की असमर्थता स्पष्ट प्रकट हो गई। मित्रराष्ट्र जर्मनी के पुनरुत्थान से

कुछ भयभीत प्रतीत होते थे और उन का ध्यान उसी ओर था। उधर जापान की ज़्यादतियों को राष्ट्रसंघ चुपचाप सहन कर रहा था। इन परिस्थितियों में इटली का साहस और भी बढ़ गया।

३ जनवरी १६३५ को एबीसीनिया के सम्राट ने राष्ट्रसंघ को सूचित किया कि इटली उस के साम्राज्य पर आक्रमण करने की धमकी दे रहा है। सन् १६०६ में इटली और इंग्लैण्ड की एक सन्धि हुई थी, उस के अनुसार दोनों देशों की सरकारों में यह समझौता हुआ था कि वे कालान्तर में एबीसीनिया को परस्पर बाँट लेंगे। परन्तु अब इटली को ज्ञात था कि यदि वह अकेला एबीसीनिया पर आक्रमण कर देगा, तब भी न तो एबीसीनिया उस का मुकाबला कर सकेगा और न कोई अन्य राष्ट्र उस की विजय के मार्ग में बाधा देने आएगा। मुसोलिनी ने सोचा कि क्यों न इटली अकेला ही सम्पूर्ण एबीसीनिया को हड़प कर जाय। उन दिनों से अधिक अनुकूल राजनीतिक परिस्थितियां शायद ही कभी मिल सकतीं। अतः ३ अक्तूबर १६३५ को इटली ने एबीसीनिया पर बाक़ायदा आक्रमण कर दिया।

उधर उन्हीं दिनों जिनेवा में राष्ट्रसंघ की बैठक हो रही थी। इटली के इस आक्रमण का समाचार सुन कर संसार भर के देश सन्न से रह गए। राष्ट्रसंघ ने बड़ी चिन्ता और खेद के साथ यह समाचार सुना और निश्चय किया कि राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध सभी राष्ट्र इटली का आर्थिक बहिष्कार कर दें। इस का अभिप्राय यह होना चाहिए था कि संसार के ५० राष्ट्र इटली का पूर्ण आर्थिक बहिष्कार कर देते। परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं हुआ। राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्र भी बाकायदा इटली को लोहा, इस्पात, कोइला और

सब से बढ़ कर, मिट्टी का तेल देते रहे। यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य सिर्फ़ इतना ही करते कि इटली के पास पैट्रोल (स्वच्छ किया हुआ मिट्टी का तेल) न पहुँचने पाए, तो इटली को अत्यन्त कमज़ोर कर देने के लिए यही काफ़ी था। एंग्लो-इटली और एंग्लो-ईजिप्शियन कम्पनियां दिन रात काम कर इटली की पैट्रोल की मांग पूरा करती रहीं और इटली विजयी होकर आगे बढ़ता चला गया।

मई सन् १६३६ में इटली ने एबीसीनिया की राजधानी एडिस अबाबा को भी विजय कर लिया। एबीसीनिया का सम्राट् हेलसिलासी इंग्लैण्ड भाग गया। एडिस अबाबा की विजय के साथ युद्ध लगभग समाप्त हो गया और एबीसीनिया पर इटली का शासन कायम हो गया। युद्ध-समाप्ति के लगभग एक मास बाद कागज़ी आर्थिक बहिष्कार भी हटा दिया गया और क्रमशः सभी राष्ट्रों ने एबीसीनिया को इटली के अधीन उपनिवेश स्वीकार कर लिया। राष्ट्रसंघ ने भी यही स्थिति स्वीकार कर ली।

मुसोलिनी का प्रभुत्व—इटली पर फ़ासिस्ट शासन स्थापित हुए आज १६ बरस बीत चुके हैं; वहां अब कोई दूसरा राजनीतिक दल मौजूद नहीं हैं। इस पर भी वहाँ भाषण और लेखन की स्वाधीनता अभी तक स्थापित नहीं हुई। फ़ासिस्ट विरोधी लोगों को अभी तक वहाँ दण्ड दिया जाता है और अभी तक इस ढंग के अपराधी वहां प्राप्त होते रहते हैं।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि मुसोलिनी और उसके फ़ासिस्ट दल ने इटली में नवजीवन का संचार कर दिया है।

इटली जैसे कमज़ोर और पुराने देश को फिर से शक्तिशाली और युवक बनाना मुसोलिनी का ही काम था।

जर्मन डिक्टेटर हिटलर और इटली का तानाशाह मुसोलिनी सन् १९३६ से अब तक परस्पर घनिष्ठ मित्र रहे हैं। दोनों देश अपने सभी काम एक दूसरे की सलाह से करते हैं। जर्मनी और इटली की सम्मिलित शक्ति का नाम 'एक्सिस पावर' प्रसिद्ध है। परन्तु वर्तमान महायुद्ध के प्रारम्भ में जर्मनी-इटली का, कम से कम बाह्य दृष्टि के उतना घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता था। उसके बाद इटली जिस प्रकार वर्तमान महायुद्ध में सम्मिलित हुआ, उस का ज़िक्र आगे चल कर किया जायगा।

———

चतुर्थ अध्याय

नाज़ी जर्मनी

पहले महायुद्ध के बाद प्रजातन्त्र की स्थापना—वर्तमान महायुद्ध की तरह पिछले महायुद्ध का उत्तरदायित्व भी जर्मनी पर ही था। उस युद्ध में जर्मनी हार गया। चार बरसों तक पूरी शक्ति लगा कर जर्मनी ने अनेक शक्तिशाली राष्ट्रों का लगभग अकेले मुकाबला किया था। परिणाम यह हुआ था कि जर्मनी के सभी साधन और सम्पूर्ण शक्ति युद्ध में नष्ट हो गई। उस पर युद्ध का पूरा हर्जाना जर्मनी से वसूल करने का निश्चय किया गया। जर्मनी में पूर्ण अव्यवस्था फैल गई। सरकार अशक्त बन गई। सम्राट् कैसर राज्य छोड़ कर विदेश में चला गया।

अनेक दिक्कतों के बाद सन् १६१६ के प्रारम्भ में जर्मनी में हीमर शासन-विधान बनाया गया। जिसके अनुसार वहाँ प्रति-

निधि सत्तात्मक ढंग से रीशस्टैग और रीशरैट नामक दो हाउसों की पार्लियामैण्ट स्थापित होनी थी। उधर जर्मनी की आन्तरिक दशा बहुत ही चिन्ताजनक थी। मित्र-राष्ट्रों ने चारों ओर से जर्मनी की नाकेबन्दी कर रक्खी थी। लोगों को सिर्फ़ रोटी और आलू ही खाने को मिलते थे, वह भी तोल कर। सप्ताह में प्रति बड़े व्यक्ति के हिसाब से केवल ढाई सेर। घी, मक्खन, खांड आदि का वहां नितान्त अभाव था। उन दिनों अकाल और अपूर्ण भोजन से जर्मनी में लाखों मौतें हुईं। ४ से लेकर १४ बरस के बालकों की मृत्यु संख्या विशेषरूप से अधिक थी। इन परिस्थितियों में भी अगस्त १६१६ में उक्त शासन-विधान को कानून का रूप दे दिया गया। इस क़ानून को व्यवहार में लाने में काफ़ी रुकावटें पेश आईं। परन्तु एक छोटी-मोटी क्रान्ति के बाद ह्वीमर शासन-विधान के अनुसार जर्मनी में दोनों सभाओं के बाकायदा निर्वाचन हो गए।

इन्हीं दिनों जर्मनी से यूपन मैलमेडी (Eupen Malmedy) का प्रान्त छीन कर बेल्जियम को दे दिया गया। मैमललैण्ड भी जर्मनी से छिन गया और लिथुआनिया को दे दिया गया। उधर सैलीशियामें इस बात पर सार्वजनिक मत (Plebisite) लिया गया कि वह जर्मनी के साथ रहना चाहता है या पोलैण्ड के साथ। ६० प्रतिशत वोट जर्मनी को मिले और ४० प्रतिशत पोलैण्ड को। यह सब वोटिंग फ्रान्स की देखभाल में हो रहा था। फ्रान्स ने सैलीशिया के सब से अधिक सम्पन्न और खनिज द्रव्यों वाले भाग पोलैंड को दे दिए और शेष भाग जर्मनी को। भौगोलिक दृष्टि से भी यह विभाग बहुत असुविधाजनक था।

उधर अल्सेस लोरेन तो फ्रान्स ले ही चुका था । जर्मनी से जो अन्य बड़े-बड़े प्रदेश छीने गए थे, उनका ज़िक्र प्रथम अध्याय में किया जा चुका है ।

क्षतिपूर्ति—युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी ने जो जुर्माना देना था, उसकी मात्रा का निश्चय वर्साई में नहीं हुआ था। यह काम एक कौन्फरैन्स के ज़िम्मे किया गया था, वह भी इस राशि को निश्चित नहीं कर सकी। २१ मई १६२१ को लण्डन में यह राशि ६५,००,००,००,००० रुपया निश्चित की गई । यद्यपि सभी लोगों को मालूम था कि जर्मनी के लिए ६५ अरब रुपया दे सकना नितान्त असम्भव है । कुछ जर्मन नेताओं की इच्छा थी कि जर्मनी इतनी बड़ी राशि देने से साफ़ इन्कार कर दे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। २१ अगस्त १६२१ को जर्मनी ने उस ऋणपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए।

रूहर पर फ्रैन्च आक्रमण—जर्मनी की आन्तरिक दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वहां का सम्पूर्ण आर्थिक संगठन अस्त-व्यस्त हो चुका था। लोगों के पास अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी कुछ नहीं था, तो वे युद्ध का जुर्माना कहां से अदा करते। इन परिस्थितियों में जर्मनी ने यह प्रार्थना की कि तीन वर्षों तक उसे युद्ध के जुर्माने की कोई किश्त अदा न करनी पड़े। इंग्लैण्ड इस बात के लिए तैयार हो गया, परन्तु फ्रान्स ने जर्मनी की यह प्रार्थना नहीं मानी। जर्मनी दो वर्षों तक प्रतिज्ञात धन अदा नहीं कर सका, इस पर फ्रान्स ने जर्मनी के रूहर प्रदेश पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया । खनिज

द्रव्यों की दृष्टि से रूहर जर्मनी का सब से अधिक सम्पन्न प्रान्त था।

नई मुद्रा—जर्मनी से रूहर प्रान्त छिन जाने के बाद जर्मनी की दशा और भी चिन्ताजनक हो गई। वहां का आर्थिक संगठन बिलकुल फ़ेल हो गया। मार्क की दर एकदम गिर गई। एक डौलर के बदले में ४५०० मार्क आने लगे। जर्मनी की मुद्रा और विनिमय-पद्धति एक तरह से नष्टभ्रष्ट हो गई। लोगों ने अब तक जो धन संग्रह किया था, उस की कोई भी कीमत बाकी न बची। सब ओर हाहाकार मच गया। क्रमशः संसार का जनमत फ़ान्स की मनोवृत्ति का विरोधी बन गया। इंग्लैण्ड की भी राय थी कि मित्रराष्ट्र जर्मनी को पुनर्निमाण का अवसर दें। उधर जर्मनी में स्ट्रैसमैन प्रधानमन्त्री बना और उसके अर्थ सचिव डा० शाश्त (Dr. Schacht) ने, जो वर्तमान युग का एक बहुत बड़ा अर्थशास्त्रज्ञ माना जाता है, जर्मनी में एक नई मुद्रापद्धति शुरू की। क्रमशः यह नई मुद्रापद्धति जर्मनी में सफलतापूर्वक चल निकली और इसी से मानो जर्मनी के पुनर्निर्माण का सूत्रपात हो गया।

देवास प्लैन और यंग प्लैन—सन् १९२४ से १९२८ तक जर्मनी ने करीब ११ अरब रुपया अन्य देशों से उधार लिया। इस के बिना जर्मनी के व्यवसाय का पुनर्निर्माण होना असम्भव था और अपने व्यवसाय का पुनर्निर्माण किए बिना जर्मनी अपना युद्ध-ऋण नहीं उतार सकता था। जर्मनी अपना जुर्माना किस तरह अदा करे, इस सम्बन्ध में 'देवास प्लैन' नाम की एक स्कीम बनी, जिस के अनुसार जर्मनी ने अनगिनत बरसों तक प्रति

सेकण्ड ८० मार्क और प्रति घण्टे २,८८,००० मार्क विदेशों को युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में देना था। देवास प्लैन को असम्भव योजना जान कर 'यंग प्लैन' नाम से एक नई योजना बनी, जिस के अनुसार २५,००० मार्क प्रति घण्टा देने का निश्चय हुआ।

एक नई आर्थिक समस्या—सन् १९२९ में अमेरिका में सभी माल बहुत अधिक मात्रा में बन जाने के कारण वहां वस्तुओं की कीमतें एकदम गिर गईं। परिणाम यह हुआ कि वहां बहुत-सी व्यवसाय-कम्पनियों को घाटा पहुँचा और उन के हिस्सों की दरें बहुत नीचे गिर गईं। जिन पूंजीपतियों ने तथा अन्य लोगों ने इन कम्पनियों के हिस्से ख़रीदे हुए थे, उन्हें इस बात से भारी घाटा हुआ और आर्थिक क्रान्ति के उन दिनों में अमेरिका का जनमत यह मांग करने लगा कि अब अमेरिका में बाहर से माल आना बन्द हो जाना चाहिए। उन का ख्याल था कि बाहर से सस्ता माल अमेरिका में आ रहा है, इसी से वहां सभी चीज़ों की कीमतें गिर गई हैं। इस भारी जनमत से प्रभावित होकर सन् १९३० में अमेरिका ने बाहर से आने वाले सामान पर इतना भारी तट-कर लगा दिया, जितना अमेरिका के इतिहास में पहले कभी न लगा था।

इस बात का सब से अधिक हानिकर प्रभाव जर्मनी पर पड़ा। अमेरिका संसार का सब से अधिक धनी देश है, जर्मनी ने अधिकांश ऋण अमेरिका से ही लिया था और उस ऋण को वह अपनी व्यावसायिक उपज का माल अमेरिका में भेज कर पूरा कर रहा था। अब अमेरिका में भारी तटकर लग जाने के कारण

जर्मनी का माल वहां जाना बन्द हो गया। इधर जब अमेरिका ने जर्मनी का माल ख़रीदना बन्द कर दिया तो जर्मनी में स्वभावत: सभी चीज़ों की कीमतें गिरनी शुरू हो गईं और बहुत शीघ्र वे पहले की अपेक्षा आधी रह गईं। इस का अभिप्राय यही हुआ कि जर्मनी का राष्ट्रीय ऋण स्वयमेव दुगना हो गया। इस बात को उदाहरण देकर समझाना ज़रूरी है। कल्पना कीजिये कि एक चमार ने १०० रुपये आपसे उधार लिए। वह जो बढ़िया जूते तैयार करता है, उन की कीमत बाज़ार में १० रुपया है। आपने उस से कहा कि वह अपनी उधार ली हुई राशि के बदले आप को १० जोड़े जूते और १०० रुपयों का सूद दे दे। अब यदि अचानक आज उस के जूतों की कीमत १०) रु० की बजाय ५) रु० हो जाय तो उसे आप को अब १० की बजाय २० जोड़े बना कर देने होंगे। यानी कल के हिसाब से उसे आपको १००) की बजाय २००) रुपये देने पड़ेंगे।

इन परिस्थितियों में जर्मनी की आन्तरिक आर्थिक दशा बहुत अधिक बिगड़ गई। जर्मनी ने अमेरिका से प्रार्थना की कि वह कुछ समय के लिए उस से युद्ध की क्षतिपूर्ति तथा ऋण के धन की कोई किश्त न मांगे। अमेरिका इस बात के लिए तैयार हो गया, इंग्लैण्ड ने भी इस बात की स्वीकृति दे दी, परन्तु फ्रांस ने जर्मनी के इस प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार नहीं किया। उधर जर्मनी की आर्थिक दशा प्रतिक्षण बिगड़ रही थी। १३ जुलाई १९३१ को जर्मनी का सब से बड़ा बैंक फ़ेल हो गया और देश भर के सभी बैंकों को दो दिन के लिए बन्द कर देना पड़ा।

नाज़ी पार्टी का प्रादुर्भाव—सन् १६३२ में जर्मनी की उपर्युक्त अत्यन्त शोचनीय अवस्था अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। चार वर्षों तक युद्ध में अपना सभी कुछ स्वाहा कर देने के बाद उन्हें अपने बहुत से प्रदेशों से हाथ धोना पड़ा। उस पर क्षतिपूर्ति का बोझ! और अब जर्मनी की सरकार का दिवाला भी निकल गया। उन दिनों जर्मनी में २० लाख आदमी बेकार थे।

बहुत समय से जर्मन मज़दूरों पर साम्यवाद का प्रभाव कायम था। साम्यवाद का दृष्टिकोण, सिद्धान्त की दृष्टि से राष्ट्रीय नहीं, सार्वभौम है। इधर पिछले १४ बरसों में जर्मनी को जो कटु अनुभव हुए थे, उनके कारण वहां के निवासियों में प्रति-हिंसा की भावना दिनों-दिन प्रबल होती जा रही थी। जिस पीढ़ी के हज़ारों लाखों बालक अर्ध- आहार प्राप्त होने के कारण बचपन में ही यह लोक छोड़ गए थे, उस पीढ़ी के बालक अब नौजवान बनने लगे थे और उन की रग-रग में प्रतिहिंसा और संसार के अन्य देशों के लिए तीव्रतम घृणा की भावना भरी हुई थी। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी से साम्यवाद का प्रभाव उठ गया। वहां राष्ट्रीय साम्यवादी दल (National Socialist Party) की जड़ें मज़बूती के साथ जमने लगीं। यही पार्टी 'नाज़ी पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध है।

हिटलर—नाज़ी पार्टी का इतिहास वास्तव में एक आदमी का इतिहास है। इस आदमी का नाम एडोल्फ हिटलर है। हिटलर का जन्म सन् १८८६ में आस्ट्रिया में हुआ था। जब वह १२ बरस का था, तब उस के पिता का देहान्त हो गया। अनाथ होकर वह वियाना के एक कला-विद्यालय में भर्ती होने गया,

परन्तु वहां उसे स्वीकार नहीं किया गया। तब वह मज़दूर बन कर राजगिरी का काम सीखने लगा। बरसों तक वह मकानों पर रंग करना आदि सभी काम करता रहा। अपने साथ के मज़दूरों से हिटलर की निभी नहीं, इस कारण वह वियाना से म्यूनिक आ गया। उन्हीं दिनों जर्मनी और मित्रराष्ट्रों में युद्ध शुरू हो गया और हिटलर फौज में भर्ती हो गया। इस युद्ध में अपने कार्य के बलपर वह कारपोरल तक जा बना। उसके बाद वह गोली खा कर ज़ख्मी हो गया और हस्पताल में दाखिल कर दिया गया। उन्हीं दिनों युद्ध समाप्त होगया और बेकार होकर हिटलर पुनः म्यूनिक जा पहुँचा। वह पहले के समान निर्धन बन गया। सन् १६२० में हिटलर एक छोटी-सी राजनीतिक पार्टी का सदस्य बना, जिस के केवल ६ सदस्य थे। हिटलर सातवां सदस्य बना। इस दल के २५ ध्येय थे, जिन में से अनेक—यहूदियों, धनियों, विदेशियों और वर्साई की सन्धि का घोर विरोध—आज भी नाज़ी पार्टी के गुरुमन्त्र माने जाते हैं।

सन् १६२० से लेकर १६३२ यक यह दल हिटलर के नेतृत्व में अधिक-अधिक शक्तिशाली बनता गया। अनेक प्रतिभाशाली और महत्वपूर्ण जर्मन नागरिक भी इस दल के सदस्य बन गए। जब यह दल कुछ संगठित हो गया तो उन्हों ने मुसोलिनी की देखादेखी, बर्लिन पर धावा बोलने का इरादा किया। परन्तु म्यूनिक से कुछ दूरी पर गोलियां चला कर इस दल को तितर-बितर कर दिया गया। कुछ नाज़ी मारे भी गये और हिटलर गिरफ़्तार हो गया। उसे ५ बरस की कैद की सज़ा मिली, परन्तु कुछ ही महीनों के कारावास के बाद उसे छोड़ दिया गया।

नाज़ी पार्टी का उत्थान—सन् १६२४ में ३२ नाज़ी रीशस्टैग में चुने गए। कुल मिला कर १६ लाख वोट नाज़ियों को मिले। हिटलर ने यह सिद्ध कर दिया कि उस में संगठन करने की असाधारण शक्ति है। देश की आन्तरिक परिस्थितियों के प्रभाव से ज्यों-ज्यों जर्मनी के निवासियों के हृदयों में प्रतिहिंसा के भाव पुष्ट होते चले गए, त्यों-त्यों हिटलर की शक्ति भी बढ़ती चली गई। सन् १६३० में ६५ लाख वोट नाज़ियों को मिले और १०७ नाज़ी रीशस्टैग में चुने गए।

हिटलर को अब अपना और अपनी पार्टी का भविष्य बहुत उज्ज्वल तथा आशामय प्रतीत होने लगा। म्यूनिक के एक बड़े मकान में पार्टी का प्रधान कार्यालय बनाया गया और नाज़ियों की एक फ़ौज भी संगठित की जाने लगी, जिन्हें बाक़ायदा सैनिक शिक्षा दी जाती थी।

हिटलर ने इन बातों का प्रचार जर्मनी में शुरू किया—जर्मन लोग प्राचीन आर्यों के विशुद्ध और श्रेष्ठतम वंशधर हैं, जिन की संस्कृति की आज सारा संसार नक़ल कर रहा है। यदि देश की बागडोर उस के हाथ में दे दी जाय तो वह पुनः जर्मनी को संसार का सब से अधिक उन्नत, शक्तिशाली और शिरोमणि राष्ट्र बना देगा। नाज़ी पार्टी जर्मनी में किसी को बेकार नहीं रहने देगी। वे स्त्रियों का क्षेत्र घर के भीतर सीमित कर देंगे, स्त्रियां बाहर काम नहीं करेंगी। उन का मुख्य कार्य सन्तानोत्पत्ति करना होगा और जर्मन राष्ट्र को बलिष्ठ जर्मन सन्तान की, जो आगे चल कर सम्पूर्ण संसार पर अपना शक्तिशाली प्रभाव स्थापित कर सके, सब से अधिक आवश्यकता है। जर्मनी के

भीतर ही उस के सब से बड़े शत्रु विद्यमान हैं, जो उस का सम्पूर्ण रक्त चूस कर उसे निश्शक्त बना रहे हैं; ये शत्रु यहूदी लोग हैं।

नाज़ियों की सफलता—जर्मन राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग के के विचार पुराने ज़माने के थे। उसे कोई नई बात जंचती नहीं थी। वह साम्यवाद और नाज़ीवाद दोनों का विरोधी था। इधर जर्मनों की दशा दिन-ब-दिन बिगड़ती जाती थी और उधर कोई शक्तिशाली सरकार वहां स्थापित न हो सकती थी। हिण्डनबर्ग ने वान पेपन को प्रधानमन्त्री बनाया और इससे आशा की कि पेपन के शक्तिशाली व्यक्तित्व के प्रभाव से, जो राष्ट्रवादी प्रसिद्ध था, जर्मनी में से साम्यवादियों और नाज़ियों का प्रभाव घटेगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। जुलाई १९३२ में रीश स्टैग का जो नया निर्वाचन हुआ, उसमें १ करोड़ ३७ लाख वोट नाज़ियों को मिले और रीश-स्टैग में २३० नाज़ी चुने गए। हिटलर और नाज़ी पार्टी का यह प्रभाव देखकर पेपन ने हिटलर से प्रार्थना की कि वह भी मन्त्रि-मण्डल का सदस्य बन जाय। परन्तु हिटलर ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस पर नाज़ीवाद को समाप्त करने के लिए पेपन ने रीश स्टैग को बर्ख़ास्त कर दिया और तब उसने जर्मनी पर राष्ट्रीय दल की डिक्टेटरशिप कायम करने का निश्चय कर लिया। जर्मनी के समाचारपत्रों और रेडियो पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। जनमत का रुख़ देख कर पेपन ने नाज़ियों का प्रोग्राम व्यवहार में लाना शुरू कर दिया। उसने यहूदियों से सरकारी नौकरियां छीन लीं और साम्यवादियों को जेल में डालना शुरू

किया। इन बातों का परिणाम यह हुआ कि अगले निर्वाचन में नाज़ी पार्टी के २० लाख वोट कम हो गए।

परन्तु नाज़ियों के पास जो संगठित सेना थी, उसका इलाज किसी के पास नहीं था। जब देखा गया कि इस सेना को काबू में रखना कठिन है, तो पेपन ने त्यागपत्र दे दिया। उसकी जगह शीलर को प्रधानमन्त्री बनाया गया। शीलर को भी जब सफलता नहीं मिली तो हिण्डनबर्ग ने ३० जनवरी १९३३ के दिन हिटलर को जर्मनी का प्रधानमन्त्री बनने के लिए निमन्त्रित किया।

हिटलर का कार्यक्रम—प्रधानमन्त्री बन कर हिटलर ने दो बातों को सब से पूर्व अपना ध्येय बनाया। पहला तो यह कि जर्मनी में सम्पूर्ण राजनीतिक दलों की समाप्ति कर वहां पूर्ण नाज़ी प्रभुत्व स्थापित करना और दूसरा यह कि जर्मनी की आर्थिक दशा को उन्नत करना। उन्हीं दिनों रीशस्टैग की इमारत जल कर ख़ाक हो गई। नाज़ियों ने कहा कि यह आग साम्यवादियों ने लगाई है। उधर कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण इंग्लैण्ड का जनमत भी साम्यवादियों के विरुद्ध हो गया था। जर्मनी का लोकमत घोर रूप से साम्यवादियों का विरोधी हो गया और रीश स्टैग के अगले निर्वाचन में नाज़ियों को बहुत बड़ा बहुमत मिला। २३ मार्च १९३३ को रीश स्टैग के एक प्रस्ताव के अनुसार हिटलर को जर्मनी का डिक्टेटर घोषित कर दिया गया। निश्चय ही इस सम्बन्ध में जर्मनी इटली के उदाहरण से प्रभावित हुआ था।

विरोधियों का दमन—डिक्टेटर बनते ही हिटलर ने साम्यवादियों की सभी संस्थाओं को ग़ैरकानूनी घोषित कर दिया। जर्मनी भर के सभी श्रमीसंघ तोड़ दिए गए । साम्यवादियों को जेल में डाल दिया गया और उन पर अनेक तरह के अत्याचार किए गए। उन्हें शारीरिक यातनाएं भी दी गईं। अन्य राजनीतिक दलों में से जिन्हों ने हिटलर के मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया था, उन्हें तो सहनकर लिया गया, परन्तु अन्य सभी राजनीतिक दल ग़ैरकानूनी बना दिए गए । हिटलर को कैथोलिक धर्म से कोई विरोध न था, परन्तु उस ने धार्मिक संस्थाओं से साफ़ शब्दों में कह दिया कि भविष्य में वे राजनीति अथवा शिक्षा के सम्बन्ध में कोई हस्ताक्षेप न कर सकेंगी। प्रोटेस्टैण्ट लोगों को भी चेतावनी देदी गई कि वे नाज़ीइज़्मके ख़िलाफ़ कुछ भी न कहें। जर्मनी की सभी शक्तियों और प्रान्तों को केन्द्रित करने का काम ज़ोरों से शुरू हो गया। जर्मन संघ के सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता एकदम छीन ली गई। छापाख़ाना, समाचार पत्र, सिनेमा, नाटक, रेडियो, सभा-भवन आदि सार्वजनिक शिक्षा और प्रचार के सभी साधनों पर नाज़ी सरकार का बहुत व्यापक नियन्त्रण हो गया। इन सब बातों के साथ-साथ यहूदियों पर बहुत बड़े-बड़े अत्याचार होने लगे। उन से सभी काम छीन लिए गए । जर्मनी की पूर्ण आबादी में यहूदियों की संख्या केवल एक प्रतिशत थी, परन्तु वहां के सम्पूर्ण डाक्टर, वकील, इंजीनियर और वैज्ञानिकों में से १० प्रतिशत यहूदी थे। इस कारण यहूदियों का यह दमन जर्मनी को काफ़ी मंहगा पड़ा।

फ्यूरर हिटलर—जर्मनीमें जब नाज़ी पार्टीका एकमात्र और अखंड आधिपत्य कायम होगया, तो हिटलर ने अपनी 'भूरी सेना' जिसने क्रान्ति को सफल बनाने में सब से अधिक भाग लिया था और जिस की संख्या २५ लाख तक जा पहुँची थी, को इस डर से बरख़ास्त कर देने का निश्चय कर लिया कि इतनी बड़ी सेना, देश में शान्ति व्याप्त हो जाने के बाद, कहीं उसी के विरुद्ध न उठ खड़ी हो। इस 'भूरी सेना', जो 'एस० एस०' के नाम से प्रसिद्ध थी, का नेता कैप्टिन रोहम था, जो हिटलर का सब से बड़ा मित्र माना जाता था। परन्तु हिटलर की उपर्युक्त आज्ञा से उस ने भी नेता के विरुद्ध विद्रोह करने का इरादा बना लिया। हिटलर ने उस समय बिजली की तेज़ी से काम किया। ३० जून १९३४ को उसने कुछ ही घण्टों में रोहम सहित, करीब २०० प्रमुख नेताओं को जान से मार डाला। वान शीलर और उस की पत्नी की भी लगे हाथ हत्या कर दी गई। उक्त घटना के दो ही महीने के भीतर राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग की मृत्यु हो गई और तब हिटलर फ्यूरर (महान नेता) के नाम से जर्मन राष्ट्र का प्रधान मन्त्री, राष्ट्रपति, नेता और डिक्टेटर बन गया। जर्मन प्रजा के ९० प्रतिशत वोट हिटलर के पक्ष में थे। हिटलर अब अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया।

नाज़ी जर्मनी के प्रमुख नेता हिटलर, गोयरिंग, गौबल्स और हेस हैं। हिटलर नाज़ी पार्टी की आत्मा है। गोयरिंग जर्मनी का फ़ील्ड मार्शल है, गौबल्स प्रचार मन्त्री है और हेस हिटलर का व्यक्तिगत सहकारी है, वह नाज़ी दल का उपनेता भी है।

रचनात्मक कार्य----नाज़ी जर्मनी ने साफ़ शब्दों में कह दिया कि वह अब युद्ध की क्षतिपूर्त्ति के रूप में एक पैसा भी किसी राष्ट्र को नहीं देगा। परन्तु जर्मनी ने जो ऋण अन्य राष्ट्रों से, विशेषत: अमेरिका से लिया था, उसका चुकाना बाकी था। इस कार्य के लिए जर्मनी को समृद्ध करना आवश्यक था। हिटलर ने इस दिशा में सब से पहला कार्य जर्मनी की कृषि उन्नत करने के रूप में किया। शहरों से हज़ारों-लाखों जर्मन नागरिकों को गावों और खेतों में लेजाकर बसा दिया गया, ताकि वे लोग खेती-बाड़ी का काम करें। उधर स्त्रियों को उत्पादन कार्य करने से रोका जाने लगा, ताकि बेकारी की समस्या दूर हो। परन्तु एक ही बरस में हिटलर ने यह अनुभव कर लिया कि इस तरह की मामूली मामूली बातों से जर्मनी के पुनर्निमाण और उसे समृद्ध बनाने का कार्य नहीं हो सकता। वह एक असाधारण महत्वाकांक्षी पुरुष है। उसने निश्चय किया कि बहुत शीघ्र, बड़ी तेज़ रफ्तार से वह बहुत-सी असाधारण बातें करके दिखाएगा, जिन की बदौलत जर्मनी की आर्थिक स्थिति स्वयमेव सुधर जायगी और हिटलर ने इस तरह के कामों का एक विस्तृत प्रोग्राम भी बहुत शीघ्र तैयार कर लिया।

राइनलैण्ड पर आक्रमण—इन्हीं दिनों मुसोलिनी ने एबीसोनिया को हड़प कर लिया और सम्पूर्ण सभ्य संसार इतने बड़े बलात्कार को चुप-चाप सहन कर गया। हिटलर ने देखा कि यही उपयुक्त अवसर है। मार्च १९३६ में हिटलर ने जर्मन सेना को राइनलैण्ड पर अधिकार करने के लिए भेज दिया। फ्रांस में हिटलरके इस कार्य के विरुद्ध घोर असन्तोष

फैल गया, परन्तु किया किसी ने कुछ भी नहीं। बिना एक भी हत्या किए हिटलर का राइनलैण्ड पर अधिकार स्थापित हो गया। और राइनलैण्ड एक बहुत ही सम्पन्न प्रदेश है।

इसके बाद तो मानो जैसे इस तरह के आक्रमणों का हिटलर को चस्का ही लग गया। इस महायुद्ध से पहले, बिना एक भी जर्मन का खून बहाए, जिस तरह हिटलर ने संसार के अनेक राष्ट्र चुपचाप हड़प कर लिए, उसका उदाहरण विश्व के इतिहास में मिलना कठिन है।

जर्मनी और इटली की मित्रता—इटली पर जिन दिनों आर्थिक प्रतिबन्ध लगाए गये थे, उन दिनों जर्मनी ने साफ़ शब्दों में कह दिया था कि वह इस तरह का कोई प्रतिबन्ध इटली पर नहीं लगाएगा। जब जर्मनी ने राइनलैण्ड में अपनी सेनाएं भेजीं, तब इटली ने भी स्पष्टरूप से प्रकट कर दिया कि उसे जर्मनी का यह कार्य आपत्तिजनक नहीं जान पड़ा। इन दोनों घटनाओं से दोनों देशों में घनिष्ट मित्रता का भाव पैदा हो गया। उस से पूर्व आस्ट्रिया के प्रश्न पर जर्मनी और इटली में कुछ मन-मुटाव आ चला था, अब दोनों देशों में एक गुप्त सन्धि हो गई। हिटलर और मुसोलिनी एक दूसरे से मिले और दोनों ने यह घोषणा कर दी कि सब परिस्थितियों में इटली और जर्मनी एक दूसरे का साथ देंगे। उधर रूस के साथ जर्मनी का विरोध भाव बढ़ता चला गया। रूस को कोसने के सम्बन्ध में मानों जर्मनी और इटली में परस्पर होड़ बँध गई।

एण्टी कोमिण्टरन पैक्ट—जर्मनी और जापान में एक समझौता सन् १९३५ में हुआ, जो एण्टी-कोमिण्टरन पैक्ट के

नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार रूस के आक्रमण के विरुद्ध जर्मनी ने जापान की सहायता करनी थी। इटली इस पैक्ट में मिल गया। अब इटली से मित्रता स्थापित हो जाने के बाद तीनों देश, जर्मनी, जापान और इटली, 'एक्सिस पावर्ज़' कहलाने लगे।

जर्मनी की सैनिक शक्ति इतनी तीव्रता से बढ़ रही थी कि सम्पूर्ण योरप में चिन्ता के बादल छा गए। नवम्बर १६३७ में अंग्रेज़ी मन्त्रिमण्डल के महत्वपूर्ण सदस्य लार्ड हैलीफैक्स हिटलर के उद्देश्यों का पता लगाने और सम्भव हो तो उस से मित्रता करने के उद्देश्यों से बर्लिन में गए। परन्तु वहां जाकर जब उन्हें हिटलर की महत्वाकांक्षाओं का पता चला तो वे सन्न-से रह गए। उसके बाद यूरोप में बड़ी तीव्रता के साथ जो घटनाएं वास्तव घटित हो गईं वे हिटलर की नवम्बर १६३७ की मांगों की अपेक्षा कहीं अधिक भयंकरता से रोमांचित करने वाली थीं।

आस्ट्रिया का अपहरण—पिछले महायुद्ध में आस्ट्रिया और जर्मनी एक साथ थे। परन्तु युद्ध के बाद आस्ट्रिया पर से क्रमशः जर्मन प्रभाव हटता चला गया। आस्ट्रिया और इटली में मित्रता स्थापित होती गई। डा० डौल्फ़स एक तरह से आस्ट्रिया का डिक्टेटर बन गया और उस के शासनकाल में आस्ट्रिया ने अच्छी उन्नति की। उधर जब जर्मनी में नाज़ी सरकार कायम हुई, आस्ट्रिया में भी नाज़ी दल संगठित होने लगा। आस्ट्रियन नाज़ी आस्ट्रिया को भी नाज़ी जर्मनी का आन्तरिक भाग बना देना चाहते थे, अतः डौल्फस ने उन के प्रभाव को रोकने का प्रयत्न किया। नाज़ियों ने एक षड्यन्त्र रच कर डौल्फस की हत्या कर दी। इस दुर्घटना से आस्ट्रिया का जनमत जर्मनी के और भी अधिक विरुद्ध हो गया।

डाल्फस का उत्तराधिकारी डा० शुशनिग बना । शुशनिग एक बहुत समझदार और अवसर-दर्शी प्रधानमन्त्री था । वह जानता था कि जर्मनी के मुकाबले में आस्ट्रिया बहुत कमज़ोर है, अत: उस ने बहुत फूंक-फूंक कर कदम रखने की नीति अख्तियार की ।

फरवरी सन १९३७ के अन्त में इंग्लैण्ड के परराष्ट्र सचिव मि० एन्थन ईडन ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया । अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से यह घटना बहुत महत्वपूर्ण थी। इस का कारण यह था कि ईडन की स्पष्टरूप से यह नीति थी कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी भी देश की ज़्यादती इंग्लैण्ड को सहन नहीं करनी चाहिए। वह दृढ़ नीति का पक्षपाती था और इटली तथा जर्मनी के प्रत्येक कार्य पर उस की कड़ी निगाह थी। ईडन के त्यागपत्र का सीधा अर्थ यही समझा गया कि इंग्लैण्ड को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कठोर नीति का आश्रय स्वीकार नहीं है ।

हिटलर का जन्म आस्ट्रिया में हुआ था । उसकी यह पुरानी महत्वाकांक्षा थी कि वह आस्ट्रिया को जर्मनी का आन्तरिक भाग बना ले । दोनों देशों में जाति और भाषा का जो साम्य है, वह हिटलर की महत्वाकांक्षा पूर्ण करने में बहुत अधिक सहायक बन सकता था । ईडन के अंग्रेज़ी मन्त्रि-मण्डल से त्यागपत्र दे देने के बाद हिटलर को अपनी पुरानी महत्वाकांक्षा को पूर्ण करने का सब से अधिक उपयुक्त अवसर प्रतीत हुआ और उसने आस्ट्रिया के अपहरण का निश्चय कर लिया ।

जर्मन राजदूत वान पेपन को इस इरादे से आस्ट्रिया भेजा गया कि वह डा० शुशनिग को, जर्मनी और आस्ट्रिया में मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से बर्शेज़गादन (हिटलर का पहाड़ी निवासस्थान) आने के लिए तैयार करे। पेपन को अपने कार्य में सफलता मिली। १२ फरवरी को शुशनिग ने बर्शेज़गादन में हिटलर से मुलाकात की। जर्मन सीमा में प्रवेश करते ही शुशनिग ने अनुभव किया कि उसकी दशा किसी कैदी से अच्छी नहीं। शुशनिग को सख़्त पहरे में रक्खा गया, उसे तम्बाकू तक पीने की अनुमति नहीं दी गई और पूरे ६ घण्टों तक हिटलर ने उसे ख़ूब धमकाया। शुशनिग शान्त रहा और किसी भी सम्बन्ध में हिटलर की इच्छाओं को स्वीकार किए बिना वह आस्ट्रिया लौट आया।

१६ फरवरी की रात को २$\frac{1}{2}$ बजे हिटलर का यह सन्देश शुशनिग को मिला कि वह उस के एक भक्त नाज़ी आस्ट्रियन (एस० इनकार्ट) को आस्ट्रिया की पोलीस का अध्यक्ष बना दे। शुशनिग ने यह बात मान ली, और उसी दिन से आस्ट्रिया में नाज़ी प्रभाव बढ़ने लगा।

६ मार्च १६३८ को शुशनिग ने अपना सब से अधिक कीमती ताश का इक्का खेल दिया। उसने घोषणा कर दी कि १३ मार्च को सम्पूर्ण आस्ट्रियन जनता से इस सम्बन्ध में मत लिए जाएंगे कि आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिला देना चाहिए, अथवा उसे एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन कर रहना चाहिए। यह बात स्पष्ट थी कि इस सार्वजनिक वोटिंग (प्लेबिसाइट) का परिणाम क्या होगा। अधिक से अधिक आशावादी नाज़ी को

भी जर्मनी के पक्ष में ४० प्रतिशत से अधिक वोट आने की क़तई आशा नहीं थी।

हिटलर ने यह सुना तो उसे मानो आग लग गई। जानकार लोगों का कहना है कि हिटलर को उस दिन का-सा गुस्सा सम्पूर्ण जीवन में और कभी नहीं आया। ११ मार्च को हिटलर ने शुशनिग के पास सिर्फ़ दो घण्टे का अल्टीमेटम भेजा कि या तो वह सार्वजनिक वोटिंग को स्थगित कर प्रधानमन्त्रित्व से त्यागपत्र दे दे, अन्यथा जर्मनी आस्ट्रिया पर धावा कर देगा। शुशनिग इस युद्ध के लिए तैयार नहीं था, उसने प्लेबिसाइट स्थगित कर दिया और स्वयं त्यागपत्र भी दे दिया। उसका अन्तिम सन्देश था—'परमात्मा आस्ट्रिया की रक्षा करे!'

परन्तु जिस बात के निराकरण के लिए शुशनिग ने त्यागपत्र दिया था, वह भी पूरी नहीं हुई। अगले ही दिन हिटलर ने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया और शुशनिग को गिरफ़्तार कर सम्पूर्ण देश को अपने अधिकार में कर लिया।

इस अपहरण से, एक ही रात में जर्मनी की आबादी ७½ करोड़ तक जा पहुँची। जर्मनी को लोहे की इतनी समृद्ध कानें मिल गईं, जिन से २५ लाख टन लोहा प्रतिवर्ष तैयार होता था। मैग्नेसाइट (हवाई जहाज़ों के निर्माण में काम आने वाली एक कीमती वस्तु) की भी एक बहुत बड़ी कान जर्मनी को मिल गई। करीब २५ करोड़ रुपयों की कीमत का शुद्ध सोना जर्मनी के हाथ लगा। सब से बड़ा लाभ राजनीतिक दृष्टि से था। एक महान् राजनीतिज्ञ का कथन है कि "सन् १९१४ में जो महायुद्ध जर्मनी हार गया था, वह उसने १२ मार्च १९३८ को पुनः जीत

लिया। जर्मनी की दृष्टि से आस्ट्रियन अपहरण सचमुच इतना ही महत्वपूर्ण था।

ज़ैकोस्लोवाकिया का अपहरण—वर्साई की सन्धि से ज़ैकोस्लोवाकिया का पुनर्निर्माण हुआ था। आबादी के लिहाज़ से उसकी कुल जनसंख्या इस प्रकार थी—

ज़ैकोस्लोवाक	१,००,००,०००
जर्मन	३२,३१,६८८
हंगेरियन	६,६१,६२३
पोल	८१,७३७

इस तरह करीब १ करोड़ ५२ लाख आबादी का यह देश बहुत शीघ्र एक अत्यन्त समृद्ध और सुखी देश बन गया। ज़ैकोस्लोवाकिया में पूर्ण प्रजातन्त्र स्थापित था और वहां अल्पमतों के साथ भी बहुत अच्छा व्यवहार किया जाता था। सभ्यता, शिक्षा और संस्कृति की दृष्टि से भी वहां के निवासी बहुत उन्नत माने जाते थे।

परन्तु जर्मनी में नाज़ी सरकार स्थापित हो जाने के बाद इस देश के जर्मनों में भी असन्तोष फैलने लगा। हिटलर ने एक बार घोषणा की थी कि वह केवल एक देश का डिक्टेटर नहीं, संसार के सभी देशों में रहने वाले जर्मनों का डिक्टेटर है। ज़ैकोस्लोवाकिया की अधिकांश जर्मन आबादी वहां के सुडेटनलैण्ड नामक एक प्रान्त में रहती थी। यह प्रान्त पिछले महायुद्ध से पूर्व आस्ट्रिया और हंगरी का एक भाग था। अब इस प्रान्त के निवासी जर्मनों में यह भावना बड़ी तीव्रता से उत्पन्न होने लगी कि उन का प्रान्त ज़ैकोस्लोवाकिया से पृथक् कर जर्मनी से मिला देना चाहिए।

हिटलर था ही इसी बात की इन्तज़ार में। नाज़ी प्रेस ने एकदम यह प्रचार शुरू कर दिया कि ज़ैक सरकार अपने अल्पसंख्यक जर्मनों पर भीषण और पाशविक अत्याचार कर रही है। जर्मनी से सहायता मिलने की सम्भावना देख कर सुडेटनलैण्ड के जर्मनों का ज़ैक-विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र रूप धारण करने लगा।

मार्च १९३८ में, जब आस्ट्रिया पर जर्मनी का अधिकार हो गया, ज़ैकोस्लोवाकिया की भौगोलिक परिस्थिति बहुत विकट बन गई। जर्मनी का साम्राज्य उस के बहुत से भाग के तीन ओर स्थापित हो गया।

यह एक तथ्य है कि ज़ैकोस्लोवाकिया में जर्मन अल्पमत के साथ जो व्यवहार किया जाता था, वह यूरोप के अन्य देशों में अल्पमतों के साथ होने वाले व्यवहार से कहीं अधिक अच्छा था। स्वयं जर्मनी में अल्पसंख्यक यहूदियों पर भयंकर अत्याचार हो रहे थे। किसी यहूदी के कल्पित या वास्तविक अपराध का दण्ड सम्पूर्ण यहूदियों को दिया जाता था, और यहूदियों का सर्वस्व छीन कर उन्हें देश निकाला दे दिया जाता था। दूसरी ओर दक्षिणी टिरोल में रहने वाले ७,५०,००० जर्मनों को इटली उन की भाषा तक नहीं सिखाता था। और इटली से मित्रता बनाए रखने की इच्छा से हिटलर इस तथ्य को चुपचाप सहन कर रहा था, परन्तु सुडेटनलैण्ड के उकसाये हुए आन्दोलन को संसार की सब से बड़ी समस्या बना देना हिटलर ने अपना कर्तव्य समझा।

बहुत शीघ्र यह स्पष्ट हो गया कि हिटलर सुडेटनलैण्ड पर आक्रमण कर देगा। १४ मार्च को फ्रांस ने यह घोषणा की कि

यदि जर्मनी ने ज़ैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दिया तो फ्रांस ज़ैकोस्लोवाकिया की सहायता करेगा। उधर रूस ने यह घोषणा की कि ऐसी परिस्थिति में यदि फ्रांस जर्मनी से युद्ध करेगा तो रूस भी फ्रांस की सहायता के लिए इस युद्ध में शामिल होगा। इंग्लैण्ड ने युद्ध में शामिल होने की घोषणा तो नहीं की, परन्तु २४ मार्च को अंग्रेज़ी प्रधान मन्त्री मि० चैम्बरलेन ने यह घोषणा अवश्य की कि यदि जर्मनी ने ज़ैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया तो उस युद्ध का स्थानीय रूप नहीं रह सकेगा। वह विश्वव्यापी युद्ध बन जायगा।

उक्त आश्वासन पाकर ज़ैकोस्लोवाकिया के हौसले बढ़ गए। ज़ैक सरकार, और उसके नेता डा० बेन्स ने दृढ़तापूर्वक शासन शुरू किया। सुडेटनलैण्ड के नाज़ी आन्दोलकों की अवैध कार्रवाइयों को ज़बर्दस्ती बन्द किया गया। परन्तु परिस्थिति सुधरी नहीं। जर्मनी का आन्दोलन उग्ररूप धारण करता गया। २३ एप्रिल को जर्मनी ने ज़ैक सरकार से ८ माँगें पेश कीं, जिनका सारांश यह था कि सुडेटनलैण्ड में रहने वाले जर्मन एक पृथक् राष्ट्र हैं, और उनका यह स्वरूप ज़ैक सरकार को स्वीकार करना चाहिए।

एक राष्ट्र में दूसरे राष्ट्र को स्वीकार करना किसी भी समझदार सरकार के लिए असम्भव था। साथ ही पिछले बरसों में ज़ैक सरकार ने जर्मनी के डर से जितनी किलेबन्दी की थी, वह सब सुडेटनलैण्ड की जर्मन सीमा पर थी। अतः सुडेटनलैण्ड पर कठोर नियन्त्रण रखना देश की रक्षा की दृष्टि से भी नितान्त

आवश्यक था। डा० बेन्स की सरकार ने जर्मनी की उक्त माँगें स्वीकार नहीं कीं।

डा० बेन्स ने अपने देश में इस बात का अधिकतम प्रयत्न शुरू किया कि वह सुडेटनलैण्ड के जर्मनों को ज़ैक राष्ट्र का एक सन्तुष्ट सदस्य बना लें। इस उद्देश्य से उन्होंने जून में एक गोलमेज़ कान्फ्रेंस भी बुलाई। परन्तु उधर जर्मन अख़बार जिस तरह प्रति-दिन ज़ैक सरकार के विरुद्ध ज़हर उगल रहे थे, उसके कारण आन्तरिक समझौते के किसी प्रयत्न का सफल होना असम्भव हो गया था। सुडेटन जर्मनों ने ज़ैक-सरकार से बातचीत करना भी स्वीकार नहीं किया!—परिस्थितियां इतनी अधिक पेचीदा होगईं। नाज़ी जर्मनी ने बहुत शीघ्र अपनी मांग और भी बढ़ा दी और उन्होंने कहा कि सुडेटनलैण्ड अब जर्मनी की सीमा में सम्मिलित होकर रहेगा।

अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने इस अवसर पर इतना मान लिया कि यदि जर्मनी शान्तिपूर्वक ज़ैक सरकार से सुडेटनलैण्ड का कोई भाग मांगे, तो दोनों देशों को परस्पर, गोलमेज़ की विधि से, इस सम्बन्ध में कोई निर्णय अवश्य कर लेना चाहिए।

सितम्बर १९३८ के प्रारम्भ में नूरम्बर्ग में वार्षिक नाज़ी कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में ९ सितम्बर को हिटलर ने घोषणा कर दी कि यदि ज़ैक सरकार ३० सितम्बर तक स्वयमेव सुडेटनलैण्ड को जर्मनी के हवाले न कर देगी तो जर्मनी ज़ैकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर देगा। संसार का भय अब अपनी चरम सीमा तक पहुंच गया। हिटलर की शिक्षित सेना की संख्या अब १३ लाख तक जा पहुंची थी।

१५ सितम्बर १६३८ को सम्पूर्ण संसार ने आश्चर्य के साथ सुना कि इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री मि० चैम्बरलेन एक हवाई जहाज़ द्वारा हिटलर से मिलने, उसके पहाड़ी निवासस्थान बर्शिज़गादन गये हैं। इस से पहले के एक सप्ताह में संसार का वातावरण अत्यन्त विद्युताविष्ट-सा रहा था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, इटली, ज़ैकोस्लोवाकिया, जर्मनी आदि बहुत से देश अब युद्ध की तैयारी में दिनरात व्यस्त थे। लण्डन, पेरिस और बर्लिन के बाग़ों में सैनिकों तथा नागरिकों के लिए खाइयां खुदने लगी थीं। इससे चेम्बरलेन की इस जर्मन यात्रा का परिणाम जानने की प्रतीक्षा जैसे सम्पूर्ण संसार सांस थाम कर कर रहा था।

चैम्बरलेन और हिटलर की बातचीत से ज़ैक-सरकार को तो कोई लाभ नहीं हुआ, परन्तु विश्वव्यापी महायुद्ध कुछ देर के लिए अवश्य रुक गया। चैम्बरलेन ने हिटलर को यह वचन दिया कि १५ दिनों में सुडेटनलैण्ड जर्मनी को वापस दे दिया जायगा, इस शर्त पर कि भविष्य में इस तरह के झगड़ों का निपटारा धमकियों और सैन्य-प्रदर्शन से नहीं किया जायगा, बल्कि गोल-मेज़ के तरीके से किया जायगा। हिटलर चैम्बरलेन की यह शर्त मान गया। उस ने यह भी घोषणा कर दी कि सम्पूर्ण यूरोप में अब उसका कोई और दावा बाकी नहीं रहा। चैम्बरलेन की सलाह ज़ैक सरकार ने भी मान ली और और बिना किसी तरह के रक्तपात के सुडेटनलैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया। सुडेटनलैण्ड की सम्पूर्ण किलेबन्दी अब हिटलर के हाथ में आ गई।

संसार के दुखमय आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा, जब उपर्युक्त घटना के कुछ ही दिनों के बाद जर्मनी ने ज़ैकोस्लो-

वाकिया के स्लोवाकिया नामक छोटे से और कम महत्वपूर्ण प्रान्त को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण देश पर अपना अधिकार जमा लिया। डा० बेन्स को देश से भाग जाना पड़ा। जर्मनी की आबादी साढ़े सात करोड़ से बढ़ कर साढ़े आठ करोड़ हो गई। ज़ैक सरकार ने अरबों रुपया ख़र्च कर के जर्मनी से अपनी रक्षा के लिये जो शस्त्रास्त्र और हवाई जहाज़ आदि तैयार किये थे, वे सब जर्मनी के हाथ में चले गए। इस से बड़ा शोकान्त अभिनय और क्या हो सकता था। कुछ समय के बाद जर्मनी ने मैमललैण्ड पर भी अधिकार कर लिया।

स्पेन में हस्ताक्षेप—पिछले महायुद्ध के बाद साम्यवाद की जो लहर सम्पूर्ण यूरोप में व्याप्त हो गई थी, उसे मध्य यूरोप के सभी देशों ने क्रमशः कुचल दिया था। परन्तु सुदूर स्पेन में साम्यवादी दल की शक्ति और प्रभाव अब भी कायम था। इटली और जर्मनी की देखादेखी स्पेन में भी सन् १६३१ से फ़ासिस्ट पार्टी का, जो वहां 'रिपब्लिकन पार्टी' के नाम से प्रसिद्ध थी, आन्दोलन उग्ररूप धारण करने लगा। जनरल फ्रैंको नाम का एक व्यक्ति इस दल का नेता बन गया और वह अपने दल को बाकायदा सैनिक ढंग पर संगठित करने लगा। अपने दल के हाथ में स्पेन का शासन कर लेने के उद्देश्य से उसने अर्ध शिक्षित मूर सेना पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और जुलाई १६३६ में स्पेन की सरकार को यह नोटिस दे दिया कि या तो सरकार उस के हक में त्यागपत्र दे दे, अन्यथा वह सरकार का मुकाबला अपनी सैनिक शक्ति से करेगा। सरकार ने फ्रैंको की यह

हास्यास्पद मांग स्वीकार नहीं की और स्पेन में गृहयुद्ध शुरू हो गया।

यह युद्ध भी एक विचित्र युद्ध था। स्पेन के अधिकांश सैनिक जनरल फ्रैंको से जा मिले थे और थोड़ी-सी सरकारी सेना तथा स्पेन के नागरिक सम्मिलित रूप से उसका मुकाबला कर रहे थे।

संसार का जनमत स्पेन की सरकार के साथ था, फिर भी उचित यही समझा गया कि अन्य कोई देश स्पेन के इस गृहयुद्ध में हस्तक्षेप न करे। परन्तु मुसोलिनी और हिटलर दोनों की स्पष्ट सहानुभूति फ्रैंको के साथ थी। अतः इटली और जर्मनी धन, जन और शस्त्रास्त्रों से फ्रैंको की सहायता करते रहे। उधर रूस ने स्पेनिश सरकार को सैनिक सहायता पहुँचाई। परिणाम यह हुआ कि युद्ध बहुत लम्बा और अत्यन्त भयानक बन गया। पूरे दो वर्षों तक यह युद्ध चला और अन्त में जनरल फ्रैंको विजयी हुआ। परन्तु इस समय तक स्पेन की दशा बहुत ही जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी।

अक्तूबर सन् १९३८ से लेकर अगस्त १९३९ तक जो घटनाएं हुईं वह संसार के इतिहास में सदा महत्वपूर्ण गिनी जांयगी। जिन परिस्थितियों में वर्तमान महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, उनका वर्णन एक पृथक् अध्याय में किया गया है।

———

पांचवां अध्याय

संसार के प्रमुख प्रजातन्त्र

(क)

इंग्लैण्ड

इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वहां संसार का सब से अधिक चिरस्थायी राजतन्त्र है, सब से ज़्यादा मज़बूत कुलीनतन्त्र है और सब से बढ़ कर स्वाधीन प्रजातन्त्र है। इंग्लैण्ड को वर्तमान प्रजातन्त्र-प्रणाली का पिता भी कहा जाता है, यद्यपि उस का साम्राज्य संसार भर में सब से अधिक विस्तीर्ण है, और बहुत समय तक वह एक साम्राज्यवादी देश रहा है। वहां के सम्पत्तिशाली लोगों में से केवल २ प्रतिशत व्यक्ति देश की ६४ प्रतिशत सम्पत्ति के मालिक हैं। इंग्लैण्ड की यह धनिक श्रेणी संसार भर में सब से अधिक अद्भुत और शक्तिशाली श्रेणी है।

सम्पूर्ण अंग्रेज़ी साम्राज्य इसी श्रेणी के आधार पर आश्रित है। राष्ट्र की अधिकांश सम्पत्ति इन्हीं लोगों के पास केन्द्रित है। लण्डन के ८० लाख निवासियों में से ऐसे लोगों की संख्या केवल ४० हज़ार है, जिन के वहां अपने मकान हैं। उधर लण्डन के सब से अधिक कीमती हिस्सों के मालिक केवल २० आदमी हैं। दूसरी ओर इंग्लैण्ड की सर्वसाधारण जनता को बहुत अमीर नहीं कहा जा सकता। वहां प्रतिवर्ष जितने आदमी मरते हैं, उन में से ७५ प्रतिशत व्यक्ति सौ पाउण्ड से अधिक मूल्य की सम्पत्ति अपने पीछे नहीं छोड़ जाते।

अंग्रेज़ी साम्राज्य संसार का सब से बड़ा साम्राज्य है। इस दृष्टि से, कई सदियों से इंग्लैण्ड संसार का सब से अधिक महत्वपूर्ण देश बना हुआ है। अंग्रेज़ी साम्राज्य का विस्तार १,३०,००,००० वर्गमील है। और उस की आबादी ५० करोड़ है। दूसरे शब्दों में क्षेत्रफल और आबादी की दृष्टि से संसार का एक चौथाई भाग अंग्रेज़ी साम्राज्य में सम्मिलित है।

इंग्लैण्ड में जिस तरह क्रमशः प्रजातन्त्र शासन प्रणाली तथा स्वाधीनता का विकास हुआ, उसी तरह उस के अधिकांश उपनिवेशों में भी हुआ। अंग्रेज़ी उपनिवेशों में अधिकांश आबादी उन्हीं लोगों के वंशजों की है, जो इंग्लैण्ड से जाकर उन देशों में आबाद हुए थे। शुरू-शुरू में इंग्लैण्ड इन उपनिवेशों पर अपना सीधा नियन्त्रण रखना चाहता था। परन्तु जब अमेरिका इंग्लैण्ड की अधीनता से निकल कर स्वाधीन राष्ट्र बन गया, तो इंग्लैण्ड ने अपनी नीति बदली। आज अंग्रेज़ी साम्राज्य के कैनाडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, न्यूफ़ाउण्डलैण्ड आदि देशों

में पूर्ण स्वाधीनता स्थापित है। ये सम्पूर्ण उपनिवेश स्वेच्छापूर्वक अंग्रेज़ी साम्राज्य के अंग हैं। इस तरह अंग्रेज़ी साम्राज्य का आधार आज बलात्कार और शक्ति की अधिकता नहीं, अपितु वास्तविक सौहार्द्य और हितों की एकता है।

अंग्रेज़ी साम्राज्य के कतिपय देशों में आज भी पूर्ण स्वाधीनता नहीं है। भारतवर्ष, बरमा, लङ्का आदि इसी ढंग के देश हैं। परन्तु इन देशों में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के आन्दोलन ज़ोरों पर हैं और अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों का दावा है कि वे इन देशों को भी स्वतन्त्र शासन वाले देश बनाने का प्रयत्न ईमानदारी के साथ कर रहे हैं।

यह विशाल अंग्रेज़ी साम्राज्य जिस छोटे-से टापू के आधार पर आश्रित है, उस टापू को कृषि की दृष्टि से कदापि श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। वहां का जलवायु भी अत्यन्त शीतल है। अधिकांश प्रदेश पहाड़ी है। वर्षा वहां बहुत होती है। इससे वह हरा-भरा तो अवश्य है, परन्तु वहां के ४½ करोड़ निवासी खुले और स्वच्छ दिन देखने को प्रायः तरसते रहते हैं। संसार से पृथक् इन अत्यन्त शीत परिस्थितियों में सदियों से रहते हुए अंग्रेज़ लोग कष्ट सहन करने के अभ्यस्त-से हो गए हैं, और धीरता-पूर्वक आपत्तियों का सामना करना उनका राष्ट्रीय गुण बन गया है।

यह कहने में ज़रा भी अत्युक्ति न होगी कि एक टापू होते हुए भी इंग्लैण्ड बाकी संसार के साथ सब से अधिक घनिष्ठता-पूर्वक सम्बद्ध है। आर्थिक दृष्टि से वह पूर्णतः बाकी संसार पर निर्भर करता है। इंग्लैण्ड की अपनी उपज से वहां की आधी

आबादी का मुश्किल से पेट भर सकता है। इंग्लैण्ड के कारख़ानों में आज जितनी चीज़ें तैयार होती हैं, उनके लिए आवश्यक कच्चे माल का केवल एक पांचवां भाग ही इंग्लैण्ड में पैदा होता है। शेष ८० प्रतिशत भाग बाहर से आता है। अपने ५० प्रतिशत भोजन और ८० प्रतिशत कच्चे माल के लिए इंग्लैण्ड को संसार के बीसियों देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। अपनी उक्त आवश्यकताओं का आधा भाग तो वह अपने साम्राज्य से पूरा कर लेता है, शेष भाग के लिए उसे दूसरे देशों से आर्थिक सम्बन्ध बनाए रखने होते हैं।

अपनी उक्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इंग्लैण्ड पक्का माल और खनिज द्रव्य बाहर भेजता है। इन में कपड़ा सब से प्रमुख है। उसके बाद लोहा, मशीनें, कोइला, ऊनी माल, रासायनिक द्रव्य आदि हैं। इंग्लैण्ड की २० प्रतिशत आबादी निर्यात का माल तैयार करने में लगी हुई है, फिर भी इंग्लैण्ड अपने आयात का मूल्य, केवल अपने निर्यात के आधार पर, नहीं चुका सकता। उसे जहाज़रानी, बैंकिंग, साहूकारा, बीमा आदि भी करने पड़ते हैं। इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय आय में इन धन्धों का भी बहुत महत्वपूर्ण भाग है। अंग्रेज़ पूंजीपतियों ने अपना अरबों रुपया अन्य देशों में मूलधन के रूप में लगा रक्खा है।

इन परिस्थितियों का परिणाम यह है कि इंग्लैण्ड पर विदेशी बाज़ारों के उतार-चढ़ाव का सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि चीन या भारतवर्ष में लोहे का एक नया कारख़ाना खुलता है, तो इंग्लैंड के पूंजीपतियों के कान खड़े हो जाते हैं। मध्य ईरान में यदि कोइले की एक नई कान खुदनी शुरु होती है, तो इंग्लैंड के बाज़ार में तहलका

मच जाता है। संसार के प्रायः सभी देशों से इंग्लैंड का लेन-देन है, इस से सभी राष्ट्रों के आर्थिक उतार-चढ़ाव का सीधा प्रभाव इंग्लैंड पर पड़ता है।

पहले महायुद्ध के बाद—पिछले महायुद्ध के बाद अंग्रेज़ों का ख्याल था कि बहुत शीघ्र उनका देश पुनः संसार का सब से अधिक सम्पन्न देश बन जायगा। सन् १६१६ में इंग्लैण्ड के निवासियों ने अपना चिरसञ्चित धन, इस आशा से जी खोल कर ख़र्च किया कि उनके बीते दिन फिर से लौट रहे हैं। परन्तु वर्ष के अन्त में उन्हें समझ आ गया कि कहीं गड़बड़ है। देश में बेकारी बहुत तेज़ी से बढ़ने लगी। सन् १६२० में लोग कुछ आशङ्कित-से रहे। सन् १६२१ के प्रारम्भ में वहां पाया गया कि बेकार लोगों की संख्या १० लाख तक जा पहुँची है।

संकट के कारण—जब उक्त तथ्य के कारणों की जांच की गई तो पता लगा कि संसार की दशा पिछले महायुद्ध के दिनों में बहुत अधिक बदल गई है। इंग्लैण्ड का निर्यात बहुत गिर गया है। और उसके गिरने का कारण यह है कि युद्ध के दिनों में, लाचार होकर, बहुत से देशों ने अपना व्यवसाय उन्नत कर लिया है। जापान और भारतवर्ष में कपड़े के बड़े-बड़े कारख़ाने बन गए हैं। आस्ट्रिया अपनी भेड़ों की ऊन से स्वयं माल तैयार करने लगा है और हरजाने के तौर से फ्रांस को जो लाखों टन कोइला जर्मनी ने दिया है, उसे वह संसार के अन्य देशों को बहुत सस्ती कीमत पर बेच रहा है, अतः इंग्लैण्ड के कोइले की मांग अब नहीं रही। निर्यात, ख़ास तौर से कोइले की निर्यात, कम हो जाने से इंग्लैण्ड की जहाज़रानी को भी सख्त धक्का पहुँच रहा है। उधर रूस की

बोल्शेविक सरकार ने ज़ार के ज़माने के सम्पूर्ण क़र्ज़ चुकाने से इन्कार कर दिया है और उस रक़म में इंग्लैण्ड का काफ़ी बड़ा भाग था। किसी भी तरीके से लेनिन की सरकार वह रक़म वापस करने का उत्तरदायित्व लेने को तैयार नहीं। और सब से बड़ी बात यह हुई है कि महायुद्ध के दिनों, चुपचाप, लण्डन की बैंकिंग तथा लेन-देन सम्बन्धी महत्ता स्थानान्तरित होकर न्यूयार्क को मिल गई है।

इन सब परिस्थितियों का परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड के कारख़ाने अपना काम बन्द करने लगे और बेकारों की संख्या, केवल सात महीनों में, १० लाख से २० लाख जा पहुँची। सन् १६११ से इंग्लैण्ड में बेकारी का बीमा करने की प्रथा डाली गई थी। इस कार्य में सरकार भी काफ़ी सहायता देती थी। अब सरकार की ओर से बेकार लोगों को थोड़ी-सी रक़म भी दी जाने लगी। परन्तु इस से बना कुछ भी नहीं। जनता का असन्तोष बढ़ने लगा और १६२२ में मि० लायडजार्ज की सरकार का पतन हो गया। उसके स्थान पर अनुदार दल की सरकार कायम होगई।

लण्डन का पुनर्नेतृत्व—अनुदार दल की सरकार के सन्मुख एक नया कार्यक्रम था। उन्हों ने सब से पहले इस बात की ओर ध्यान दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन और बैंकिंग में लण्डन की महत्ता पुनः स्थापित की जाय। यदि इस दिशा में लण्डन अपने पहले स्थान पर पहुँच सके—यानी संसार भर के सिक्कों का मूल्य पुनः इंग्लैण्ड के सिक्के से निर्धारित किया जाने लगे (अब इस दृष्टि से अमेरिका के डालर की महत्ता बढ़ गई थी) तो स्वभावतः इंग्लैण्ड की मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा और इस तरह इंग्लैण्ड

का धन दूसरे देशों में अधिक मुनाफ़े के साथ लगाया जा सकेगा। इस स्कीम से इंग्लैण्ड का निर्यात बढ़ने की भी सम्भावना थी। कारण यह कि इंग्लैण्ड की मुद्रा का मूल्य बढ़ जाने का अभिप्राय यह था कि यदि पहले एक शिलिंग में ५ सेर गेहूँ ख़रीदा जा सकता था, तो अब ७ सेर ख़रीदा जा सकेगा। इस दशा में इंग्लैण्ड के मज़दूरों के वेतन आसानी से घटाए जा सकेंगे। इस का परिणाम यह होगा कि इंग्लैण्ड के माल पर अब ख़र्च कम आएगा और वह अन्य देशों में पहले की अपेक्षा सस्ता बेचा जा सकेगा। इस से स्वभावतः इंग्लैण्ड के माल की मांग बढ़ जायगी।

अनुदार दल को इस में दिक्कतें भी कम नहीं उठानी पड़ीं। इंग्लैण्ड ने अमेरिका से लगभग ३० अरब रुपया ऋण ले रक्खा था। यह ऋण उतारने के लिये इंग्लैण्ड के व्यवसाय-पतियों पर भारी कर लगाना आवश्यक था। और इस भारी कर का स्वभावतः यह परिणाम होना था कि इंग्लैण्ड का माल कुछ मंहगा बिके। उधर अन्य देशों में भी बहुत-सा माल इंग्लैण्ड में आकर बिकने लगा था। पहली दिक्कत दूर करने का तो कोई उपाय नहीं था, परन्तु दूसरी दिक्कत को दूर करने के लिए इंग्लैण्ड ने अपने इतिहास में पहली बार मुक्त व्यापार (Free trade) के सिद्धान्त के विरुद्ध अपने कई प्रकार के आयात (imports) पर तटकर लगा दिए।

सन् १९२५ में गोल्ड स्टैंडर्ड जारी कर दिया गया। अर्थात् पाउण्ड को सोने के मूल्य के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। एक पाउण्ड के बदले में सोने की अमुक मात्रा देने का निश्चित ज़िम्मा सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। इस का परिणाम यह हुआ कि

अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन में लण्डन की महत्ता फिर से स्थापित हो गई और वह पुनः आर्थिक दृष्टि से संसार का प्रथम नगर बन गया।

पहली मज़दूर सरकार—परन्तु गोल्ड स्टैण्डर्ड की स्थापना से पूर्व ही अनुदार दल को हार खानी पड़ी। सन् १९२४ के अन्त में जो निर्वाचन हुए, उन में दलों की संख्या इस प्रकार थी—

अनुदार दल--२५८

उदार दल—१५७

मज़दूर दल—१९१

निर्वाचन से पूर्व अनुदार दल ने घोषणा की थी कि वह इंग्लैण्ड के आयात पर तटकर बढ़ाएगा। उदार और मज़दूर दल इस बात के विरुद्ध थे। इस से अनुदार दल के प्रधानमन्त्री मि० बाल्डविन के मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र दे देना पड़ा और मज़दूर दल के नेता मि० रैम्ज़े मैकडानल्ड ने इंग्लैण्ड के इतिहास में पहली बार वहां मज़दूर मन्त्रिमण्डल की स्थापना की। इस मन्त्रिमण्डल को उदार दल की सहायता प्राप्त थी। परन्तु यह मज़दूर सरकार कुछ महीनों से अधिक स्थायी नहीं रह सकी। मज़दूर दल राष्ट्रीय-साम्यवाद के ढंग के जो सुधार करना चाहता था, उदार दल उनके पक्ष में न था। इससे एक बरस से भी पहले इंग्लैंड में नया निर्वाचन हुआ और उसमें अनुदार दल पुनः विजयी हो गया।

सन् १९२६ की हड़ताल—परन्तु इंग्लैण्ड की आर्थिक समस्याएं अब भी हल नहीं हो पाई थीं। वहां व्यवसाय का संगठन पुराने ढंग पर था। एक-एक नगर में एक-एक व्यवसाय की सैंकड़ों कम्पनियां थीं, जिनमें परस्पर भारी प्रतिद्वन्दिता रहती थी। अकेले

लङ्काशायर में ७०० कताई करने वाली, और १२०० बुनने वाली पृथक् पृथक् कम्पनियां थीं। कोइले के व्यवसाय में यही हाल था। सरकार राष्ट्रीय ऋण चुकाने के लिए इन कम्पनियों पर कर बढ़ाना चाहती थी। इस कारण मज़दूरों का वेतन घटाना ज़रूरी था। सन् १६२६ में सरकार ने एक नया कानून बना कर कोयले की कानों में काम करने वाले मज़दूरों के वेतन में १३॥ प्रतिशत कमी करने की घोषणा कर दी। मज़दूर इस बात से बहुत असन्तुष्ट हुए और उन्हों ने ४ मई को हड़ताल कर दी। उन की सहानुभूति में इंग्लैण्ड भर के रेलवेज़ तथा बन्दरगाहों पर काम करने वाले मज़दूरों ने भी हड़ताल कर दी। बहुत शीघ्र हड़ताल इतनी व्यापक बन गई कि इंग्लैण्ड के काम करने वाली आबादी का छटा भाग काम छोड़ बैठा। २५,००,००० मज़दूर इस हड़ताल में शामिल थे। सरकार को इस बात का खतरा था कि इस हड़ताल के कारण भयंकर रक्तपात होगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। हड़ताली पूर्णतः शान्त रहे, परन्तु जनता की सहानुभूति उन्हें प्राप्त न हुई। बल्कि बहुत शीघ्र जनमत हड़तालियों के विरुद्ध हो गया। उधर इंग्लैण्ड के कानूनी पण्डितों ने इस हड़ताल को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया। २१ मई को मज़दूरों ने स्वयं ही यह हड़ताल समाप्त कर दी। इस हड़ताल से इंग्लैण्ड को लगभग २,३०,००,००,००० रुपयों का नुकसान हुआ।

औपनिवेशिक स्वाधीनता—महायुद्ध में अंग्रेज़ी साम्राज्य के उपनिवेशों ने इंग्लैण्ड की जो बहुमूल्य सहायता की थी, उस के लिये इंग्लैण्ड ने अपनी कृतज्ञता घोषित करने के उद्देश्य से उपनिवेशों के सम्बन्ध में यह नीति बना ली कि सभी

उपनिवेश (जिन का ऊपर वर्णन हो चुका है) पूर्णतः स्वाधीन राष्ट्र हैं और एक सम्राट् के भक्त होने से वे सब एक ही परिवार के अंग हैं। सन १९२६ में औपनिवेशक सम्मेलन (Imperial Conference) ने घोषणा की कि 'इंग्लैण्ड और उपनिवेश अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत स्वाधीन राष्ट्र हैं, इन सब की स्थिति एक समान है। आन्तरिक और बाह्य सभी मामलों में वे सब पूर्णतः स्वाधीन हैं। यद्यपि वे सब एक सम्राट् के भक्त होने तथा एक ही परिवार के सदस्य होने के कारण परस्पर एक दूसरे के साथ अत्यन्त घनिष्ठता के साथ सम्बद्ध हैं।" सन् १९३१ में इस परिभाषा को बाकायदा अंग्रेज़ी सरकार की ओर से, वैस्टमिनिस्टर के स्टैच्यूट द्वारा, भी स्वीकार कर लिया गया, यद्यपि यह परिभाषा अत्यन्त लचकीली और अस्पष्ट है। इस बात पर भी कुछ बहस चली कि उपनिवेशों को साम्राज्य से पृथक् होने का अधिकार है या नहीं, परन्तु इस सम्बन्ध में भी कोई निश्चित घोषणा सरकार ने नहीं की। यद्यपि उक्त परिभाषा में कहीं उपनिवेशों के साम्राज्य से पृथक् हो सकने के अधिकार को रोका नहीं गया। 'सम्राट् की भक्ति' एक ऐसी चीज़ है, जिसके अनेक अभिप्राय निकल सकते हैं। इंग्लैण्ड के सम्राट् एक वैधानिक सम्राट् हैं, स्वेच्छाचारी सम्राट् नहीं। उन्हें अपने मन्त्रियोंकी राय के अनुसार काम करना होता है। और उपनिवेशों की उक्त परिभाषा के अनुसार जिस तरह इंग्लैण्ड के मामले में इंग्लैण्ड का मन्त्रिमण्डल महत्वपूर्ण और प्रामाणिक है, उसी तरह कैनाडा में कैनाडा का। इससे यदि सम्राट् का कैनाडियन मन्त्रिमण्डल यह निश्चय करे कि कैनाडा अंग्रेज़ी

साम्राज्य के पृथक् होता है, तो सम्राट् को अपने उक्त मन्त्रिमण्डल का यह निश्चय स्वीकार करना ही होगा।

वर्तमान स्थिति—फिर भी यह कहा जा सकता है कि उपनिवेशों की इस नई परिभाषा से अंग्रेज़ी साम्राज्य के उपनिवेशों में अपने मातृ देश के प्रति कोई अन्तर नहीं आने पाया। इंग्लैण्ड तथा उपनिवेशों के सांस्कृतिक और आर्थिक सम्बन्ध आज भी उतने ही घनिष्ठ हैं, जितने वे पहले कभी थे। बल्कि कैनाडा के सम्बन्ध तो आज और भी अधिक गहरे हो गए हैं। गत महायुद्ध में कैनाडा ने इंग्लैण्ड को पूरी सहायता तो अवश्य दी थी, परन्तु उस ने जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा नहीं की थी। वर्तमान महायुद्ध में कैनाडा ने न केवल अपना सभी कुछ इंग्लैण्ड के अर्पित कर दिया है, अपितु जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा भी कर दी है। इस तरह दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि ने भी जर्मनी के साथ युद्ध की घोषणा करदी है और वर्तमान महायुद्ध के संचालन में ये सब उपनिवेश इंग्लैण्ड को पूरा सहयोग दे रहे हैं।

आयर की स्वाधीनता—गत महायुद्ध के बाद आयरलैण्ड में स्वाधीनता का आन्दोलन बहुत ज़ोरों पर हो गया। वहां अराजकता-सी फैल गई और राजनीतिक हत्याओं का तार-सा बंध गया। सन् १९२१ में इंग्लैण्ड ने आयरलैण्ड को औपनिवेशिक स्वाधीनता दे दी। अलस्टर नामक एक प्रान्त को छोड़ कर, जिस का बहुमत इंग्लैण्ड के साथ रहना चाहता था, शेष आयरलैण्ड की पृथक् पार्लियामैंट बना दी गई। सिर्फ़ दो शर्तें रक्खी गईं, वहां के मन्त्रियों को भी सम्राट् के भक्त रहने की शपथ लेनी पड़ती थी। साथ ही यह भी निश्चय हुआ कि आयरलैण्ड प्रति वर्ष ७ करोड़

रुपया इंग्लैण्ड को दिया करेगा। आयरलैण्ड के अधिकांश राजनीतिक नेता इस नई सन्धि से बहुत प्रसन्न थे, परन्तु डी वैलेरा के दल ने इसे स्वीकार नहीं किया। फिर भी आयरलैण्ड में नई सरकार की स्थापना हो गई और इस नई आयरिश सरकार ने डी वैलेरा को जेल में डाल दिया।

उसके बाद सन् १६२७ में डी वैलेरा के दल ने भी नए शासन-विधान को स्वीकार कर लिया। सन् १६३२ में डी वैलेरा आयरलैण्ड का प्रधानमन्त्री बन गया। डी वैलेरा ने क्रमशः इंग्लैण्ड से अपने देश का सम्बन्ध तोड़ना शुरू किया। अंग्रेज़ी के स्थान पर उसने आयरिश भाषा पढ़ाने की व्यवस्था की। सम्राट् के नाम से शपथ लेना बन्द कर दिया। इंग्लैण्ड को ७ करोड़ रुपया वार्षिक देने से भी इन्कार कर दिया। आयरलैण्ड का नाम 'आयर' कर दिया और अन्त से आयर के स्वतन्त्र राष्ट्रपति का निर्वाचन करने की प्रथा डाल दी। इस पर इंग्लैण्ड ने आयर का आर्थिक बहिष्कार शुरू किया, जिस से लाचार होकर डी वैलेरा को इंग्लैण्ड के साथ आर्थिक सन्धि करनी पड़ी।

सन् १९२९ के निर्वाचन—सन् १६२६ के अन्त में इंग्लैण्ड में पुनः मज़दूर दल की सरकार की स्थापना हुई। इस निर्वाचन में दलों का अनुपात इस प्रकार था :—

मज़दूर दल—२८७
अनुदार दल—२६०
उदार दल— ५६

मज़दूर दल का अब भी पूर्ण बहुमत नहीं था, इससे वह कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं ला सका। वैसे भी, अब तक मज़दूर

दल के नेताओं, विशेषतः रेम्ज़े मैकडानल्ड का दृष्टिकोण बहुत बदल चुका था। उनके तथा अनुदार दल के दृष्टिकोण में अब कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था।

राष्ट्रीय सरकार की स्थापना—सन् १९३० और ३१ में इंग्लैण्ड में राजनीतिक चरचा का अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय भारतवर्ष रहा। उन्हीं दिनों वहां भारतीय प्रतिनिधियों और अंग्रेज़ी राजनीतिज्ञों की एक गोलमेज़ कान्फ़रैन्स भी हुई। दूसरी कान्फरैन्स, जो सन् १९३१ के अन्त में हुई, में भारतीय कांग्रेस ने भी भाग लेना स्वीकार कर लिया और महात्मा गांधी कांग्रेस के प्रतिनिधि रूप से लण्डन में गए।

परन्तु इंग्लैण्ड की आन्तरिक अवस्थाएं, विशेषतः आर्थिक दृष्टि से, कुछ ऐसी जटिल हो गई कि वहां की जनता का सम्पूर्ण ध्यान भारतवर्ष की गोलमेज़ परिषद् से हट कर अपनी आन्तरिक समस्याओं की ओर आकृष्ट हो गया। मज़दूर दल के प्रधान मन्त्री श्री रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने अनुदार दल के नेताओं और कतिपय उदार दल के सदस्यों की सहायता से इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दी। इस राष्ट्रीय सरकार के कार्यक्रम की दो महत्पूर्ण बातें थीं—गोल्ड स्टैण्डर्ड को हटाना और राष्ट्र के मन्त्रियों को अपने अपने विभागों में मितव्ययता करने के विस्तृत अधिकार देना। सन १९३१ में इंग्लैण्ड में जो आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ, उसका एकमात्र इलाज गोल्ड स्टैन्डर्ड को हटाना था। तब इंग्लैण्ड के पास ५,५०,००,००० पाउण्ड का सोना था और उसे २५,००,००,००० पाउण्ड का सोना अन्य देशों को देना था।

बहुत शीघ्र इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय सरकार के नाम से नया

निर्वाचन हुआ और उसमें देश के प्राय: सभी महत्वपूर्ण पत्रों की सहायतासे राष्ट्रीय सरकार बहुत बड़े बहुमत (६१ प्रति शत) से विजयी हुई। राष्ट्रीय सरकार को ५५६ सीटें मिलीं और विरोधी-दल को केवल ५६।

इस प्रकार जो अत्यन्त मज़बूत सरकार इंग्लैण्ड में स्थापित हुई, उसका प्रधान मन्त्री श्री रैम्ज़े मैक्डानल्ड को ही बनाया गया, जिन के अनुयाई बहुत ही कम थे। परिणाम यह हुआ कि मैक्डानल्ड को कुछ समय के बाद त्यागपत्र देना पड़ा और श्री बाल्डविन प्रधान मन्त्री नियत हुए। राष्ट्रीय सरकार ने अनेक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किए, इन में से एक कार्य ३० अरब रुपयों के युद्ध ऋण के सूद को ५ प्रति शत से ३½ प्रति शत कर देना था। अंग्रेज़ जनता ने इस कार्य में अपनी सरकार को पूर्ण सहयोग दिया। राष्ट्रीय सरकार ने इंग्लैंड में खाद्य पदार्थों की उपज बढ़ाने का भी भरपूर प्रयत्न किया। विदेशी खाद्य पदार्थों पर कर लगा दिया गया।

परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड का आर्थिक संकट बहुत शीघ्र टल गया। इंग्लैण्ड फिर से एक समृद्ध देश बन गया और वहां प्रभूत मात्रा में सोना पहुँचने लगा। सन् १९३५ तक इंग्लैण्ड संसार का सब से समृद्ध देश बन गया। परन्तु इंग्लैण्ड की इस समृद्धि के लिये वहां के नागरिकों को काफ़ी तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। सरकार ने कर बढ़ा दिया। सरकारी नौकरों के वेतनों में पर्याप्त कमी कर दी गई और विदेशी खाद्य पदार्थों पर तटकर लग जाने से इंग्लैण्ड में खाद्य पदार्थों की कीमत बढ़ गई। यह सब तकलीफ़ें सह

कर इंग्लैण्ड ने आर्थिक जगत् में फिर से अपनी धाक निस्सन्देह कायम करली ।

दूसरी राष्ट्रीय सरकार—सन् १६३५ के नवम्बर मास में इंग्लैण्ड में नया निर्वाचन हुआ । इस निर्वाचन में इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय सरकार ने ४२८ सीटें जीतीं । विरोधी दलों (मज़दूर तथा उदार) को कुल १८७ सीटें मिली । आजकल, कतिपय उप-निर्वाचनों के परिणामस्वरूप, पार्लियामैंट में विरोधी दल की संख्या १६० के लगभग है ।

सन् १६३५ तक संसार में अशान्ति के चिन्ह बढ़ रहे थे, इस से राष्ट्रीय सरकार ने अपना सम्पूर्ण ध्यान सैनिक तैयारी की ओर लगाया ।

सम्राट् अष्टम एडवर्ड का राजत्याग—सन् १६३६ के प्रारम्भ में सम्राट् पंचम जार्ज का देहान्त हो गया । उनके बड़े पुत्र अष्टम एडवर्ड के नाम से अंग्रेज़ी साम्राज्य के सम्राट् बने । वह शुरू ही से बहुत लोकप्रिय और स्वतन्त्र प्रकृति के पुरुष थे । अपने प्रथम भाषण में उन्होंने 'हम' की जगह 'मैं' का व्यवहार किया । देश के मज़दूरों की भलाई आदि की ओर वह असाधारण ध्यान देते थे । अपनी जनता के लिए वह बहुत सहज में प्राप्य थे । इन बातों से वह और भी लोकप्रिय हो गए । परन्तु श्रीमती वालिस सिम्पसन नाम की एक अमेरिकन महिला से विवाह करने की उन की इच्छा को अंग्रेज़ी मन्त्रि-मण्डल ने स्वीकार नहीं किया । मंत्रि-मण्डल का कहना था कि यदि सम्राट् को अपनी पत्नी चुनने का अधिकार है तो हमें अपनी सम्राज्ञी को निर्वाचित करने का अधिकार है । और क्योंकि सम्राट् अंग्रेज़ी उपनिवेशों के भी सम्राट् थे,

अतः इस संबन्ध में उपनिवेशों से भी राय माँगी गई। उपनिवेशों के मन्त्रिमंडल अंग्रेज़ी मन्त्रिमण्डल से सहमत थे। श्रीमती सिम्पसन अपने दो पतियों को तलाक दे चुकी थीं। उनके वे दोनों पति आज भी जीवित हैं। ऐसी महिला को अंग्रेज़ मन्त्रि-मंडल अपनी सम्राज्ञी नहीं बनाना चाहता था, इससे दिसम्बर १६३६ में सम्राट् अष्टम एडवर्ड ने स्वेच्छापूर्वक राजत्याग कर दिया। उनके छोटे भाई छटे जार्ज के नाम से इंग्लैंड की राजगद्दी पर बैठे और अष्टम एडवर्ड सम्राट् से ड्यूक आफ विण्डसर बन गए। जून १६३७ में उन्होंने श्रीमती वालिस से विवाह कर लिया। इस असाधारण घटना से सम्पूर्ण साम्राज्य का वातावरण काफ़ी समय तक विक्षुब्ध और चिन्तित बना रहा।

युद्ध रोकने के प्रयत्न और युद्ध की तैयारी—उपर्युक्त संकट के बाद श्री बाल्डविन ने राजनीति से अवसर प्राप्त कर लिया और श्री नेवाइल चैम्बरलेन उनके स्थान पर इंग्लैंड के प्रधान मन्त्री नियत हुए। श्री चैम्बरलेन एक शान्तिप्रिय व्यक्ति थे। अपनी शान्तिप्रियता के कारण उन्हें अनेक वार प्रतिकूल आलोचनाएं सुननी पड़ी। यूरोप का ज्वालामुखी जिस प्रकार दिन-दिन अधिक-अधिक उत्तप्त होता जा रहा था, उसे शान्त करने का श्री चैम्बरलेन ने काफ़ी प्रयत्न किया। यहां तक कि अपने मन्त्रिमण्डल में भी इसी उद्देश्य से उन्हें अनेक वार परिवर्तन करने पड़े।

सन् १६३८ में परिस्थिति बहुत भीषण हो गई। जर्मनी ने सूडेटनलैण्ड को ले लेने की जो घोषणा की थी, उसी बात से यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने का पूरा अवसर था। श्री चैम्बरलेन ने जिस तरह जर्मनी में जाकर हिटलर को युद्ध न करने के

लिए प्रेरित किया, उसका वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। तब युद्ध टल तो गया, परन्तु सिर्फ़ एक वर्ष के लिए। संसार के विचारकों में इस सम्बन्ध में मतभेद है कि तब युद्ध का सिर्फ़ एक वर्ष के लिए टल जाना उचित हुआ या नहीं।

शान्ति-स्थापना के उक्त प्रयत्नों के साथ ही साथ इंग्लैण्ड में युद्ध की तैयारी भी ज़ोरों पर जारी थी। राष्ट्र का सम्पूर्ण ध्यान इसी ओर था और अरबों रुपया आगामी युद्ध की तैयारी पर व्यय किया जा रहा था। जानकार लोगों का कहना है कि सन् १९३८ में युद्ध को एक साल के लिए टाल कर इंग्लैण्ड ने अपनी सामरिक तैयारी पूरी करने का अवसर प्राप्त कर लिया।

वर्तमान युद्ध और इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में "वर्तमान महायुद्ध" शीर्षक अध्याय में लिखा जाएगा।

(ख)

संयुक्त--राष्ट्र अमेरिका

अमेरिका का प्रभाव—गत महायुद्ध के बाद से अमेरिका संसार का सब से अधिक महत्वपूर्ण देश बन गया है। उस युद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय का प्रमुख कारण उन्हें अमेरिका की क्रियात्मक सहायता प्राप्त होना था। युद्ध के बाद संसार के पुनर्निर्माण में भी अमेरिका ने बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया। युद्ध के दिनों में अमेरिका ने जिस प्रकार अपना आर्थिक संगठन किया था, युद्ध के बाद यूरोप के अधिकांश देशों ने उसी का अनुकरण किया। संसार भर के सभी देशों पर अमेरिकन व्यवसाय, अमेरिकन संगठन और अमेरिकन रीतिरिवाजों का गहरा प्रभाव पड़ा। मित्रराष्ट्रों ने एक बहुत बड़ा कर्ज़ अमेरिका को

अदा करना था। महायुद्ध के बाद यूरोप के बहुत से देशों ने अपना आर्थिक पुनर्निर्माण करने के लिए अमेरिका से और भी बड़ी-बड़ी राशियां उधार लीं। इस तरह अमेरिका का प्रभुत्व और भी बढ़ गया। अमेरिका से धन उधार ले-ले कर संसार के प्रमुख राष्ट्र अपना व्यवसाय उन्नत करने लगे और संसार में आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति होने लगी। उसी का परिणाम विश्वव्यापी आर्थिक संकट के रूप में दिखाई दिया।

अमेरिका एक नया महादेश है। आबादी के अनुपात से उसके उपज के स्रोत बहुत अधिक हैं। वहां की नई भूमि अत्यधिक उपजाऊ है, भारतवर्ष की तरह सब तरह का जलवायु वहां उपलब्ध होता है, वहां की खनिज सम्पत्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी है। पिछली दो शताब्दियों में संसार से सर्वथा पृथक् रह कर अमेरिका ने शिक्षा, व्यवसाय, विज्ञान, कृषि, स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से अपने आपको बहुत ही उन्नत तथा समृद्ध बना लिया है। संसार की राजनीतिक हलचलों से अमेरिका अपने आप को पृथक् रखने का प्रयत्न करता है, यद्यपि विश्व की राजनीतिक परिस्थितियों से लाभ उठाने का अवसर अमेरिका कभी नहीं चूकता।

संसार का सब से धनी देश—अमेरिका की भूमि इतनी सम्पन्न है कि निम्नलिखित अत्यन्त महत्वपूर्ण पदार्थों की संसार की मांगका निम्नलिखित भाग अमेरिका उत्पन्न करता रहा है—

कोयला	एक तिहाई
लोहा	आधा
रूई	आधा
मक्का	तीन चौथाई

पैट्रोलियम	दो तिहाई

इसके अतिरिक्त अमेरिकन लोग स्वभाव ही से बहुत अध्यवसायी हैं और बहुमात्रोत्पत्ति जैसी प्रभावशाली संस्था के अत्यन्त विकास का श्रेय अमेरिका को ही है। वहां रेलवे लाइनें, पुल तथा पक्की सड़कों का जाल-सा बिछा हुआ है। अकेले अमेरिका में ढाई करोड़ से ऊपर मोटरकारें हैं।

गत महायुद्ध में जब संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों का व्यापार-व्यवसाय बन्द था, अमेरिका ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को खूब उन्नत किया। परिणाम यह हुआ कि संसार का बहुत-सा धन खिचकर अमेरिका के पास चला गया।

गत महायुद्ध और अमेरिका—वर्तमान अमेरिकन लोगों का ४१ प्रतिशत भाग अंग्रेज़ों के वंशज हैं और १६ प्रतिशत जर्मनों के। शेष ४३ प्रतिशत अन्य बीसियों राष्ट्रों के। गत महायुद्ध के अन्त में जब जर्मनी ने अमेरिका का एक बड़ा जहाज़ डबो दिया, अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध लड़ने का निश्चय कर लिया। १५ लाख अमेरिकन सिपाही यूरोप में पहुँचे और जर्मनी हार गया।

महायुद्ध में इस तरह भाग लेने से अमेरिका को आर्थिक दृष्टि से और भी अधिक लाभ पहुँचा। अमेरिकन सेना का सम्पूर्ण व्यय मित्रराष्ट्रों ने देना स्वीकार किया था। गत महायुद्ध से पूर्व अमेरिका ने संसार के विभिन्न राष्ट्रों से ३,००,००,००,००० डालर लेने थे, महायुद्ध के बाद यह संख्या ३०,००,००,००,००० डालर तक जा पहुँची।

विल्सन की पराजय—महायुद्ध के बाद यूरोपियन देशों के पुनर्निर्माण कार्य में सहायता देने तथा नेतृत्व करने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन यूरोप में आए। वहां उन का भारी स्वागत हुआ। अपने देश के तत्कालीन वातावरण के समान राष्ट्रपति विल्सन में भी गहरी अन्तर्राष्ट्रीयता विद्यमान थी। उन्होंने अन्तर्जातीय राष्ट्रसंघ (League of Nations) के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया। इधर यूरोप में तो यह सब हुआ परन्तु उधर अमेरिका में हवा का रुख़ एकदम बदल गया। अमेरिका में राष्ट्रपति का जो महत्वपूर्ण स्थान है, उस के कारण अमेरिकन लोगों को अपने राष्ट्रपति की अनुपस्थिति खटकने लगी। साथ ही वहां लोगों की यह धारणा भी बन गई कि हमें अन्तर्राष्ट्रीय झमेलों में अपना समय बरबाद नहीं करना चाहिए। हमें तो अपने देश की आर्थिक उन्नति की ओर ही अपना पूरा ध्यान और शक्ति लगानी चाहिए।

राष्ट्रपति विल्सन डैमोक्रेटिक दल के नेता के रूप में ही राष्ट्रपति निर्वाचित हुए थे। डैमोक्रेटिक दल का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय तथा उदार था। सन् १६१३ से १६१८ तक अमेरिकन लोगों में डैमोक्रेटिक दल के सिद्धान्त लोकप्रिय रहे। उस के बाद दूसरा पलड़ा भारी होना शुरू हुआ। रिपब्लिकन दल, जो मनरो सिद्धान्त के अनुसार इस पक्ष में था कि अमेरिकन लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ज़रा भी भाग नहीं लेना चाहिए, के सिद्धान्त अधिक लोकप्रिय बनने लगे। राष्ट्रपति विल्सन जब तक अमेरिका में वापस पहुंचे, तब तक वहां के लोगों का दृष्टिकोण रिपब्लिकन दल के अनुकूल बन चुका था।

अतः सब से पहले अमेरिका ने ही राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने से इन्कार कर दिया। अमेरिकन सीनेट ने तो वरसाई की सन्धि, जो राष्ट्रपति विल्सन की अपनी अध्यक्षता में हुई थी, को ही अस्वीकार कर दिया। इन बातों से विल्सन को भारी निराशा हुई, उसे मानसिक आघात पहुँचा और वह बीमार पड़ गया। अपने राष्ट्रपतित्व का अन्तिम डेढ़ वर्ष विल्सन ने बीमारी में ही काटा।

मनरो सिद्धान्त—रिपब्लिकन दल की लोकप्रियता क्रमशः बढ़ने लगी और उस के साथ अमेरिकन लोगों का ध्यान अपने एक पुराने सिद्धान्त की ओर गया। इस का नाम 'मनरो सिद्धान्त' है। अमेरिका के एक भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री मनरो ने सन् १८२३ में अमेरिकन कांग्रेस को अपना यह सन्देश भेजा था–"यूरोप के राष्ट्रों के उपनिवेशों अथवा अधीन देशों के सम्बन्ध में हम ने अब तक तटस्थता की नीति बरती है। भविष्य में भी हम उन के प्रति तटस्थ ही रहेंगे। परन्तु जिन राष्ट्रों ने अपनी स्वाधीनता घोषित कर दी है और वे उस की रक्षा कर रहे हैं, तथा जिन की स्वाधीनता का अधिकार हमें युक्तियुक्त और उचित प्रतीत होता हैं, उन्हें यदि यूरोप का कोई राष्ट्र दबाने अथवा फिर से अपने अधीन करने का प्रयत्न करेगा, तो संयुक्त राष्ट्र अमेरिका उस राष्ट्र के उक्त कार्य को अपने प्रति अमित्रतापूर्ण समझेगा"

राष्ट्रपति मनरो का यह उपर्युक्त सिद्धान्त अमेरिका के इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है। यद्यपि यह सिद्धान्त इतना लचकीला-सा है कि इसके, चाहे जो अर्थ निकाले जा सकते हैं। अमेरिका के इतिहास में अनेक बार अनेक प्रतिकूल उद्देश्यों से इस सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। रिपब्लिकन दल इस

सिद्धान्त को विदेशी मामलों में तटस्थता का प्रतिपादक बताता है, इस से रिपब्लिकन दल की लोकप्रियता की वृद्धि के साथ-साथ मनरो सिद्धान्त की उक्त कैफ़ियत भी लोकप्रिय होने लगी।

वर्तमान महायुद्ध के दिनों में भी उपर्युक्त मनरो सिद्धान्त के आधार पर ही अमेरिका अपने को तटस्थ बनाए हुए है।

शराबबन्दी का परीक्षण—अमेरिका में सामाजिक, व्यक्तिगत तथा आर्थिक अपराधों की संख्या दिन-प्रति-दिन बढ़ रही थी। अमेरिका के विचारकों का ख्याल बना कि इस का एक मुख्य कारण शराब का अत्यधिक प्रचार है। कई वर्षों तक शराब के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता रहा। अन्त में सन् १९१८ में, अमेरिका की कांग्रेस ने विधान में परिवर्तन करने के लिए आवश्यक दो तिहाई वोटों के बहुमत से शराबबन्दी का कानून पास कर दिया।

इस बात की एक मनोवैज्ञानिक कैफ़ियत भी दी जाती है। कहा जाता है कि अमेरिका का वातावरण सही अर्थों में अन्तर्जातीय है। वहां के लोग विश्व-भ्रातृत्व के आदर्श का उदाहरण हैं। परन्तु युद्ध में मित्रराष्ट्रों का साथ देकर अमेरिका ने अपनी प्राचीन अमेरिकन-भावना के विरुद्ध काम किया था। बहुत शीघ्र उस के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और आत्मशुद्धि तथा पश्चात्ताप के रूप में अमेरिका ने शराब का बहिष्कार कर दिया।

साम्यवाद का विरोध—सन् १९२० में, विश्व के आर्थिक संकट के साथ-साथ रूसी साम्यवाद का प्रभाव संसार भर के सभी देशों पर पड़ने लगा। अमेरिका जैसे सम्पन्न देश पर साम्यवाद की लहर का प्रभाव पड़ने का एक अन्य ही कारण था। रिपब्लिकन

भावना ने अमेरिकन लोगों का सम्पूर्ण ध्यान अपने देश की ओर आकृष्ट कर दिया। इस का एकमात्र अभिप्राय यही समझा जाने लगा कि अमेरिका का व्यापार और व्यवसाय, सम्पूर्ण सम्भव साधनों से उन्नत किया जाय। उधर विश्व भर में जो मंहगापन व्याप्त हो गया था, उस के कारण अमेरिकन मज़दूरों ने अपने वेतन बढ़ाने की मांग की। अमेरिकन व्यवसायपतियों ने कहा कि मज़दूरों की यह मांग देशभक्ति के विरुद्ध है, क्योंकि मज़दूरों के वेतन बढ़ाने से अमेरिकन माल मंहगा हो जायगा और विदेशों में उसकी मांग कम हो जायगी। इस परिस्थिति का प्रभाव यह हुआ कि अमेरिकन मज़दूरों में साम्यवाद के सिद्धान्तों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। तब अमेरिकन सरकार जहाँ रूस की बोल्शेविक सरकार की घोर विरोधी बन गई, वहाँ उसने अमेरिकन साम्य-वादियों का दमन भी शुरू कर दिया। ६ हज़ार साम्यवादियों को जेल में डाल दिया गया और साम्यवादी संस्थाएं ग़ैरकानूनी करार दे दी गईं।

इसी संकुचित राष्ट्रीयता की भावना का एक परिणाम यह भी हुआ कि अमेरिका में 'कू क्लक्स क्लैन' (Ku Klux Klan) जो "के० के० के०" नाम से प्रसिद्ध थी, संस्था का प्रभाव बढ़ने लगा। यह संस्था एक आतंकवादी गुप्त संस्था थी। अमे-रिका के विरोधियों को डराना और उन की हत्या करना इस संस्था का उद्देश्य था। सन् १९२१ में इस गुप्त संस्था के सदस्यों की संख्या ५ लाख तक जा पहुँची। इस संस्था के सदस्य चेहरे पर नकाब डाल कर रात के समय टौर्च के प्रकाश में अपनी कवायद किया करते थे। हवशी, यहूदी, कैथोलिक और विदेशियों की

यह संस्था शत्रु थी। यह संस्था अपने शत्रुओं को जीवित जला देती थी। दस वर्ष के बाद हिटलर ने इसी संस्था का अनुकरण कर जर्मनी में नाज़ी संगठन की नींव डाली।

रंगीन जातियों पर प्रतिवन्ध—अमेरिका में मुख्यतः यूरोप की एंग्लोसैक्सन और नौर्डिक जातियों के गोरे लोग आबाद हुए थे, इन में अंग्रेज़, स्कौच, डच, आयरिश, जर्मन, स्कैण्डिनेवियन, इटैलियन, बाल्टिक आदि सभी राष्ट्रोंके लोग थे। रंगीन जातियों के लोग वहां नहीं गए, यद्यपि उन पर तब कोई प्रतिबन्ध नहीं था। महायुद्ध के बाद, जब 'अमेरिका अमेरिकनों के लिए' तथा 'अमेरिका की शुद्धता' आदि नारे बोले जाने लगे, तब सभी रंगीन जातियों को अमेरिका में आबाद होने से रोका जाने लगा। सन् १९२५ तक एशियाई लोगों को अमेरिका में बसने की अनुमति मिलना बन्द हो गया। उस के बाद यूरोप के लोगों पर भी इस सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाए जाने लगे। प्रति वर्ष यूरोप के किस देश से कितने लोग आकर अमेरिका में आबाद हो सकते हैं, इस की भी संख्या निश्चित कर दी गई। इस संख्या का पूर्णयोग १,६५,००० था।

अबाध सम्पन्नता—सन १९२२ से लेकर १९२९ तक के सात वर्षों में अमेरिका अपने वैभव की दृष्टि से उन्नति के शिखर पर रहा। कुछ महत्वपूर्ण व्यवसायों पर तो अमेरिका का एकाधिकार-सा हो गया। इन में प्रमुख मोटरकार, रेडियो और सिनेमा फ़िल्में थीं। सन् १९२० में अमेरिका में ७० लाख कारें थीं। सन् १९२९ में यह संख्या २ करोड़ ३० लाख जा पहुँची। सन् १९२० में वहां रेडियो कम्पनियों की पूर्ण बिक्री ६० लाख डौलर

थी। सन् १९२९ में यह संख्या ८४ करोड़ २० लाख (अर्थात् पहले से १४० गुना !) तक जा पहुँची। इसी तरह सिनेमा फ़िल्म, कपड़ा, चमड़े का सामान, टैलीफ़ोन, पोर्सलीन, सिगरेट आदि का व्यवसाय भी बहुत अधिक उन्नति कर गया। उधर वहां की कानों से सोना और चांदी भी खूब निकाले गये। अमेरिका ने यूरोप के देशों से बहुत-सा धन लेना था, इस से संसार भर का सोना खिंच कर अमेरिका आने लगा। १९२५ तक अमेरिकन सरकार के पास ४,५०,००,००,००० डालरों के मूल्य का सोना जमा हो गया। अमेरिका के बैंकों के पास भी प्रभूत मात्रा में सोना पहुँच गया। उधर अमेरिकन उपज और अमेरिकन व्यवसाय अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचे थे, इधर सोने चांदी की वहां कमी नहीं थी। इस से लोगों के व्यय का माप बहुत बढ़ गया। अमेरिकन लोग पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक खर्च करने लगे। रेडियो, टैलीफ़ोन, सिगरेट आदि को वहां जीवन की निन्तात आवश्यक वस्तुओं में गिना जाने लगा। जब अमेरिकन लोग इतने समृद्ध बन गए, तो उन्हों ने अपना अरबों रुपया चीन, दक्षिण अफ़्रीका तथा दक्षिण अमेरिका में लगाना शुरू किया।

नई समस्याएं—इतने सम्पन्न देश के सन्मुख भी बहुत शीघ्र कतिपय विषम समस्याएं आ खड़ी हुईं। इन में से चार प्रमुख समस्याएं निम्नलिखित हैं –

१. वैज्ञानिक साधनों से अमेरिका की कृषि बहुत उन्नत हो गई। उधर अमेरिका के व्यवसाय भी उन्नत हो रहे थे। परन्तु कृषि और व्यवसाय पर इस समृद्धता का प्रभाव बिलकुल विभिन्न प्रकार का पड़ा। अमेरिकन व्यवसाय और अमेरिकन व्यापार का एक

एक दूसरे से काफ़ी अंश तक सम्बन्ध था। वहाँ जब माल अधिक पैदा होने लगा तो उस की मांग भी साथ ही साथ बढ़ने लगी। लोगों (व्यापारियों और व्यवसाइयों) के पास धन भी बढ़ने लगा और वे अधिक-अधिक माल ख़रीदने लगे; इस से माल की कीमत नहीं गिरने पाई और व्यापारियों तथा व्यवसायजीवियों को अधिकाधिक मुनाफ़ा होने लगा। परन्तु कृषि पर, किसानों की दृष्टि से, इस बहुमात्रोत्पत्ति का प्रभाव स्पष्टतः बुरा पड़ा। यह इस कारण कि गेहूँ, मक्की, आलू, फल, सब्ज़ी आदि की मांग की तो एक सीमा है, जो बहुत आसानी से प्राप्त की जा सकती है। परन्तु जब उपज उस मांग से ऊपर बढ़ गई तो गेहूँ आदि की कीमतें एक दम गिर गईं। पाँच ही बरसों में कृषिजन्य पदार्थों की कीमत पहले से सिर्फ़ एक तिहाई रह गई। परिणाम यह हुआ कि किसानों पर आर्थिक संकट आगया। उनकी अवस्था डांवाडोल हो गई। उन्हों ने लाखों मन गेहूँ और लाखों मन मक्का आदि को आग लगा कर नष्ट भी कर दिया, परन्तु कृषिजन्य पदार्थों का मूल्य एक बार उतर कर फिर बढ़ने नहीं पाया।

२. विलसन के बाद हार्डिंग राष्ट्रपति चुना गया। वह एक कमज़ोर व्यक्तित्व का पुरुष था। उस के शासन काल में अमेरिकन सरकार के अनेक उच्चतम अधिकारियों में ईमानदारी की कमी आ गई। हार्डिंग के मन्त्री, फ़ाल पर रिश्वत लेने का अभियोग चला और वह अभियोग सिद्ध भी हो गया। सरकारी अफ़सरों में इस तरह के अत्यन्त गम्भीर अपराधों की एक लहर-सी चल पड़ी। अमेरिका के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर इस लहर का अत्यन्त घातक प्रभाव पड़ा।

३. शराब-निषेध कानून ने अमेरिकन सरकार के कार्य को बहुत अधिक पेचीदा बना दिया। अमेरिका में लाखों करोड़ों व्यक्तियों को शराब पीने का व्यसन था। इन में से लाखों व्यक्ति शराब-निषेध कानून जारी हो जाने के बाद भी. अनुचित उपायों से शराब प्राप्त कर. उसे पीते रहे। उक्त कानून की रक्षा के लिए अमेरिकन सरकार ने २ करोड़ डालर वार्षिक के व्यय से एक सेना रक्खी, परन्तु फिर भी वह अमेरिका में शराब की अवैध खपत को बन्द नहीं कर सकी। सरकार को यह स्वयं स्वीकार करना पड़ा कि अब भी अमेरिका में करोड़ों रुपयों की शराब आ रही है, और उस में से केवल ५ प्रतिशत शराब ही सरकार ज़ब्त कर पाती है। अमेरिका के जेलख़ाने शराबियों से भर गए, परन्तु वहाँ शराब का अवैध प्रवेश बन्द न हो सका।

४. अमेरिकन परिस्थितियों का एक अत्यन्त घातक प्रभाव यह पड़ा कि अपराधों की दृष्टि से अमेरिका संसार का सब से भयंकर देश बन गया। इस के तीन करण थे—एक तो यह कि अमेरिकन सरकार के अधिकारियों के हीन चरित्र (ईमानदारी की दृष्टि से) का लोगों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। दूसरा यह कि अमेरिका में जीवन का माप (स्टैण्डर्ड आफ़ लिविंग) बहुत मंहगा हो जाने पर लोगों के हृदय में धन की लिप्सा बहुत बढ़ गई। वहाँ सच्चे अर्थों में 'शक्तिशाली डालर' का राज्य हो गया और धन-प्राप्ति के लिए, हीन चरित्र के नवयुवक सभी तरह के उपाय काम में लाने लगे। तीसरा यह कि बहुत से लोग उचित अनुचित किसी भी उपाय से शराब पीना चाहते थे। जब वे अवैध उपायों से शराब प्राप्त करने में सफल हो जाते थे, तो मनो-

विज्ञान की दृष्टि से स्वभावतः उन में से अनेक के जी में यह इच्छा उत्पन्न होती थी कि क्यों न हम अवैध उपायों से ही धन जैसी महत्वपूर्ण वस्तु भी प्राप्त करें। इस तरह अपराध करने की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था। सन् १९२७ तक अमेरिका में 'रैकेट' नाम से एक नया शब्द जारी हो गया, जिसका अभिप्राय चोरी, डाके या हत्या से धन संग्रह करना था। दिन-दिहाड़े और सब लोगों के देखते-देखते डाके डालना और हत्या करना एक मामूली बात बन गई। पिस्तौल दिखा कर 'हाथ ऊंचे करो' की आज्ञा देना वहां दैनिक जीवन के व्यवहार का अंग बन गया। यहाँ तक कि पुरुष, स्त्री और विशेषतः बच्चों की चोरी कर उन्हें बहुत-सा धन लेकर मुक्त करने वाले सैंकड़ों गिरोह अमेरिका में बन गए।

दूसरी ओर अमेरिका की अदालतें दिनों-दिन नरम पड़ती जाती थीं। साफ़ अपराध करके अपराधी अदालत से छुटकारा पा जाते थे। सिर्फ़ हबशियों को ही कड़ी सज़ाएं मिलती थीं।

इन परिस्थितियों का प्रभाव यह हुआ कि अमेरिका का सार्वजनिक जीवन बहुत ही विषम और भयपूर्ण बन गया।

सुधार के प्रयत्न—सन् १९२३ में हार्डिंग के अचानक देहान्त के बाद कूलिज अमेरिका का राष्ट्रपति नियत हुआ। कूलिज अगले निर्वाचन में भी अमेरिका का राष्ट्रपति चुना गया। सन् १९२७ के निर्वाचन में कूलिज ने राष्ट्रपतित्व के लिए उमीदवार बनने से इन्कार कर दिया, तब उस का व्यापार सचिव हरबर्ट हूवर रिपब्लिकन दल की ओर से ही उमीदवार खड़ा होकर निर्वाचन में विजयी हुआ। राष्ट्रपति हूवर ने दावा किया कि अपने

शासनकाल में वह अमेरिका की समृद्धि को और भी बढ़ाने का प्रयत्न करेगा। अमेरिका में बढ़ती हुई अपराधों की लहर को रोकने का भी उसने वायदा किया। अदालतों को हिदायतें की गईं कि वे अधिक सतर्कता और कठोरता से काम लें।

सट्टे की लोकप्रियता—बहुत शीघ्र हूवर का प्रभाव अमेरिकन जनता पर स्थापित हो गया। लोगों को अमेरिकन व्यवसाय की उन्नति पर इतना भरोसा हो गया कि अमेरिकन कम्पनियों के हिस्सों की कीमत दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि अमेरिकन लोगों को अपने देश की व्यावसायिक और व्यापारिक कम्पनियों के हिस्से ख़रीदने और मुनाफ़े पर बेचने का चाव हो गया। अमेरिकन लोगों ने अपने अरबों डौलर स्टाक हिस्से खरीदने तथा उन के सट्टेबाज़ी में ख़र्च कर दिये।

आर्थिक संकट—व्यावसायिक कम्पनियों के हिस्सों की कीमत बढ़ते-बढ़ते क्रमशः एक दिन अपनी सीमा तक जा पहुँची। उनकी कीमत सौ से हज़ारों तक पहुंच गई। यह नकली चढ़ाव एक दिन फ़ेल होना ही था। सितम्बर १६२६ में अमेरिकन लोगों को मालूम हुआ कि उन्होंने व्यावसायिक कम्पनियों के हिस्से बहुत ऊँचे दामों में ख़रीद कर गल्ती की है, क्योंकि उन कम्पनियों का मुनाफ़ा अधिक नहीं है। सर्वसाधारण जनता में भय का सञ्चार हो गया और लोग अरबों रुपयों के हिस्से बेचने को उत्सुक हो गए। अब उनका ख़रीददार कोई नहीं था, इससे उन हिस्सों की कीमत बहुत तेज़ी से गिरने लगी। न्यूयार्क बैंक ने अमेरिकन जनता के इस भय को दूर करने के लिये २४ करोड़ डौलर के

मूल्य के हिस्से, कुछ कम दामों पर, स्वयं भी ख़रीद लिए। फिर भी जनता का भय दूर न हुआ। अक्तूबर मास में अमेरिका को एक अत्यन्त भयंकर आर्थिक स्थिति का सामना करना पड़ा। अमेरिकन जनता को कुल मिला कर ४,००,००,००,००,००,००० डालर का नुकसान हुआ। अर्थात् मित्रराष्ट्रों से अमेरिका को जितना धन प्राप्त होना था, उसके ५ गुना धन से, इस आर्थिक संकट में अमेरिका हाथ धो बैठा। सट्टेबाज़ी का इससे बड़ा उदाहरण संसार के इतिहास में दूसरा नहीं है। इस संकट में अमेरिका के हज़ारों बैंक और हज़ारों व्यावसायिक कम्पनियां अपना दिवाला निकाल बैठीं। वहां बेकार लोगों की संख्या ६० लाख तक जा पहुँची।

सन १९३१ तक अमेरिका की दशा नहीं सुधरी। अर्थ-शास्त्रज्ञों के लिए अमेरिका के उन दिनों की आर्थिक दशा का अध्ययन एक बहुत ही गुथीला और साथ ही रोचक वस्तु है। अमेरिका का ४ नील रुपया सिर्फ़ एक महीने में, कहाँ उड़ गया! बात सिर्फ़ इतनी थी कि भावी समृद्धि की आशा पर अमेरिकन जनता ने अपना अरबों, रुपया अत्यन्त बढ़े हुए दामों पर व्यावसायिक कम्पनियों के हिस्से ख़रीदने में व्यय कर दिया। यह सट्टेबाज़ी थी, जिसमें जूए का सिद्धान्त काम करता है। इस जूए में अमेरिकन जनता हार गई, क्यों कि भावी समृद्धि की उन की आशा पूरी नहीं उतरी।

"न्यू डील" (नयी बाज़ी)—

राष्ट्रपति रूज़वैल्ट—सन् १९३२ के निर्वाचन में रिपब्लिकन दल ने पुनः हूवर को राष्ट्रपतित्व के लिए अपना उमीदवार खड़ा किया। डैमोक्रेटिक दल ने इस वार रूज़वैल्ट को अपना उमीदवार बनाया। हूवर की ईमानदारी और प्रयत्नशीलता का सम्पूर्ण अमेरिका कायल था, परन्तु उस के शासनकाल में अमेरिका अपने आर्थिक संकट से छुटकारा नहीं पासका, यह बात भी स्पष्ट थी। उधर रूज़वैल्ट ने न्यूयार्क का गवर्नर रहते हुए जिस तरह न्यूयार्क को शुद्ध करने तथा वहां अपराधों की संख्या घटाने का प्रयत्न किया था, उस से रूज़वैल्ट की लोक-प्रियता बहुत बढ़ गई थी। वैसे भी अमेरिकन जनता अब कोई नया कार्यक्रम चाहती थी और रूज़वेल्ट ने एक नया कार्यक्रम जारी करने का वायदा दिया था। इस से रिपब्लिकन दल की आशा के विरुद्ध रूज़वैल्ट को २,५५,००,००० वोट मिले और हूवर को केवल १,६०,००,०००। इस तरह रूज़वैल्ट बहुत बड़े बहुमत से राष्ट्रपति बना।

फिर से शराब—४ मार्च १९३३ को रूज़वैल्ट ने राष्ट्रपतित्व की बागडोर अपने हाथ में ली। उसी सप्ताह अमेरिका के बहुत से बड़े-बड़े बैंक फ़ेल हो गये थे और बाकी बैंकों को बचाने के लिए सरकार ने एक सप्ताह की छुट्टी घोषित कर दी थी। ४ मार्च बैंकों की छुट्टी का पहला दिन था। उस दिन हज़ारों-लाखों अमेरिकन घरों में खाना ख़रीदने तक को पैसा नहीं था। फेल हो गए बैंकों के साथ बहुत-से अमेरिकनों

का सम्पूर्ण धन भी नष्ट हो गया था। राष्ट्रपति बनते ही रूज़वैल्ट ने एक महत्वपूर्ण घोषणा द्वारा अमेरिकन जनता को बताया कि वह दो नए कानून बनाएगा। एक कानून द्वारा पैन्शनों में ५० करोड़ डालरों की कटौती की जायगी और दूसरे कानून द्वारा हलकी शराब पर से प्रतिबन्ध उठा लिया जायगा। शराब पर से प्रतिबन्ध उठाने का अभिप्राय यह था कि सरकार की अरबों रुपया आय बढ़ जायगी।

एक अद्भुत दृश्य—१२ मार्च १९३३ रविवार की रात को नए राष्ट्रपति ने रेडियो द्वारा अपनी जनता से अपील की—"कल सोमवार है। कल बैंक खुल जाँयगे। मैं अमेरिकन जनता से अमेरिकन राष्ट्रीयता के नाम पर अपील करता हूँ कि कल कोई भी अमेरिकन बैंको से रुपया न निकाले। सभी लोग जहां तक बन पड़े, बैंकों में और रुपया जमा करवाएँ।"

रूज़वैल्ट ने एक भारी ख़तरा लिया था, परन्तु वह जीत गया। अगले दिन बैंकों के खुलने से पहले ही उन पर हज़ारों अमेरिकनों की भीड़ पंक्ति बना कर खड़ी थी। परन्तु आश्चर्य! कोई भी अमेरिकन, बैंकों से रुपया निकालने नहीं आया था, सब लोग, जहां तक बन पड़ा था, बैंकों में जमा करवाने के लिए अपना संचित धन लेकर यहाँ आए थे।

बस, इतना काफ़ी था। अमेरिका में से आर्थिक संकट का भय देखते-देखते नष्ट हो गया। लोगों का रूज़वैल्ट पर अगाध विश्वास कायम हो गया।

नया कार्यक्रम—सब से पहले रूज़वैल्ट ने बेकारी की समस्या अपने हाथ में ली। उसने ५० करोड़ डौलर बेकारों में

बाँटने के लिए सुरक्षित करवा दिए। इन्हीं दिनों हज़ारों बेकारों ने अमेरिका की राजधानी की ओर प्रस्थान कर दिया। रूज़वैल्ट ने इन बेकारों को पोलीस की मार से भगा नहीं दिया, बल्कि स्वयं उन लोगों के बीच में जाकर उन से कहा कि आप लोग अमुक प्रदेश में जंगल पैदा करने का काम कीजिए। जंगलों की कमी से अमेरिका को भारी नुकसान हुआ है। आप लोगों को वहां भोजन, मकान और ३½ रुपया दैनिक मिलेगा। बहुत शीघ्र ६२,५०,००० बेकार इस काम पर लग गए और अमेरिका की बेकारी की समस्या कुछ समय के लिए बहुत आसानी से हल हो गई।

कृषकों की दशा सुधारने के लिए रूज़वैल्ट ने कृषि की उत्पत्ति की एक मात्रा नियत कर दी। उस से अधिक उपज करना कानून से रोक दिया गया। यह इस लिए कि उपज के दाम बहुत न गिरने पावें। साथ ही उस ने २ अरब डालर इस बात के लिए सुरक्षित कर दिए कि उन के द्वारा किसानों को बहुत कम सूद पर रुपया उधार दिया जा सके।

सब से बड़ी समस्या अब व्यवसाय के पुनः संगठन की थी। अमेरिका की व्यावसायिक कम्पनियों में अब परस्पर इतनी तीव्र प्रतिस्पर्धा हो गई थी कि किसी को भी लाभ न होता था। बहुत सोच-विचार के बाद रूज़वैल्ट ने विभिन्न व्यवसायों की बड़ी बड़ी कम्पनियों को परस्पर मिल जाने की प्रेरणा करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से अमेरिकन सरकार ने 'राष्ट्रीय व्यावसायिक पुनः निर्माण कानून' (National Industrial Recovery Act) जो 'एन० आई० आर० ए०, (N. I. R. A.)

नाम से प्रसिद्ध हुआ, पास किया। इस कानून के अनुसार मज़दूरों के न्यूनतम वेतन तथा कार्य के अधिकतम घण्टे नियत कर दिए गए। इस कानून का उद्देश्य बहुमात्रोत्पत्ति को रोकना भी था ताकि व्यावसायिक उत्पत्ति के पदार्थों की कीमतें गिरने न पाएं।

टैनेसी घाटी—उपर्युक्त नए कार्यक्रम के अतिरिक्त रूज़वैल्ट ने रूस के पंचवार्षिक कार्यक्रम के ढंग पर अमेरिका की विस्तृत टैनेसी घाटी का व्यावसायिक संगठन करने का निश्चय किया। इस विस्तृत प्रदेश को, जो अब तक बंजर और वीरान पड़ा हुआ था, चार-पांच वर्षों में एक बहुत ही समृद्ध तथा व्यावसायिक केन्द्र बना दिया गया। रूस से बाहर, संसार भर में इस ढंग का अध्यवसाय और कहीं नहीं हुआ।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण कानून—(National Recovery Act) अन्त में रूज़वैल्ट ने अमेरिका भर के सभी व्यवसायों पर पुनर्निर्माण का कानून लगाने का निश्चय कर लिया। मज़दूरों के वेतन, इस नए कानून के अनुसार और भी बढ़ा दिए गए और उनके काम करने के घण्टे घटा दिए गए। इस कानून का उद्देश्य बेकारी को दूर करना और बहुमात्रोत्पत्ति को रोकना था। रूज़वैल्ट के सम्पूर्ण प्रयत्नों के बावजूद भी अमेरिका की बेकारी की समस्या बहुत शीघ्र पुनः चिन्ताजनक रूप धारण करने लगी थी।

सन् १६३६ तक अमेरिका की आर्थिक दशा पुनः बिगड़ने लगी। बेकारी बढ़ गई। पुनर्निर्माण के कानून सफलतापूर्वक नहीं चल सके, व्यवसायपतियों ने उनमें पूर्ण सहयोग नहीं

दिया। फिर भी रूज़वैल्ट ने इन परिस्थितियों का मुकाबला बड़ी धीरता और बुद्धिमत्ता के साथ किया।

सन् १९३६ तक अमेरिका के बहुत से व्यवसायपति रूज़वैल्ट के विरुद्ध हो गए थे। उनकी सम्मति में उसकी नीति से केवल किसानों, मज़दूरों और मध्यम स्थिति के लोगों का ही भला था। वह अमेरिका के व्यापार-व्यवसाय को उन्नत नहीं कर सका। इन्हीं दिनों अमेरिका में राष्ट्रपति का नया चुनाव हुआ। पूंजीपतियों के विरोध के बावजूद भी रूज़वैल्ट को ६० प्रतिशत वोट मिले और वह पुनः अमेरिका का राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ।

सन् १९३८ तक भी रूज़वैल्ट अमेरिका के पूंजीपतियों का सहयोग प्राप्त नहीं कर सका। परन्तु १९३८ के उत्तरार्ध में संसार की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के बहुत विकट हो जाने के कारण अमेरिकन आर्थिक संकट खुद-बखुद टल गया, क्योंकि अमेरिका को विदेशों से बड़े-बड़े आर्डर मिलने लगे।

तटस्थता का कानून—जब यह दिखाई देने लगा कि संसारव्यापी महायुद्ध पुनः शुरू होने को है, तो अमेरिका ने निश्चय किया कि वह किसी भी ऐसे देश को युद्ध की सामग्री नहीं देगा, जहां युद्ध जारी हो। इस कानून का उद्देश्य अमेरिका को आगामी महायुद्ध से एकदम पृथक् रखना था। अमेरिकन जनता अपनी सभ्यता को अन्तर्राष्ट्रीय सभ्यता कहती है। वह संसार के अन्य देशों के झगड़ों में पड़ कर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय भावना को क्षति नहीं पहुँचाना चाहती।

तटस्थता के कानून में परिवर्तन—परन्तु सितम्बर १६३६ में जब वर्तमान महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, तो मित्रराष्ट्रों ने अमेरिका को बहुत-से बड़े-बड़े आर्डर दिए। तटस्थता के कानून के अनुसार अमेरिका इन आर्डरों को स्वीकार नहीं कर सकता था। तथापि यह प्रलोभन इतना बड़ा था कि अमेरिका के बहुत से पूंजीपति कैनाडा में अरबों रुपया व्यय कर युद्ध की सामग्री तैयार करने का इरादा बनाने लगे। इन परिस्थितियों में अक्टूबर १६३६ के अन्त में अमेरिकन सरकार ने तटस्थता के कानून में यह परिवर्तन कर दिया कि चाहे जो राष्ट्र अमेरिका से युद्ध का सामान ख़रीद सकता है; परन्तु इस तरह का सामान केवल नकद दामों में, अमेरिका में ही बेचा जायगा। कोई अमेरिकन जहाज़ उस सामान को अमेरिका से बाहर नहीं ले जायगा। युद्ध का सामान लेजाने का प्रबन्ध खरीदार राष्ट्र को अपने जहाज़ों द्वारा स्वयं ही करना होगा। इस कानून के अनुसार इंग्लैण्ड और फ्रांस ने २,००,००,००,००,००० रुपयों के हवाई जहाज़ों तथा अन्य शस्त्रास्त्रों का आर्डर अमेरिका को दिये। अमेरिकन पूंजीपति पिछली सब बातों को भूल कर मित्रराष्ट्रों के आर्डर पूरा करने में सन्नद्ध हो गए।

परिणाम यह हुआ कि अमेरिका का आर्थिक संकट आज स्वयमेव हल हो गया। सम्भावना है कि वर्तमान महायुद्ध से सब से अधिक लाभ अमेरिका को ही पहुँचेगा।

पिछले दो वर्षों में महायुद्ध के सम्बन्ध में अमेरिका की जो नीति रही है, उस का वर्णन यथास्थान किया जायगा।

———

(ग)

फ्रांस

एक अंग्रेज़ लेखक ने ठीक कहा है—"जर्मनी से व्यक्तिगत स्वाधीनता छीन लीजिए, जर्मनी एक संगठित राष्ट्र बन जायगा। फ्रांससे व्यक्तिगत स्वाधीनता छीनिए तो वहाँ क्रान्ति होजायगी।"

स्वाधीनता की भावना फ्रांस के कण-कण में व्याप्त है। फ्रांस को एक तरह से प्रजातन्त्र शासन का जन्मदाता कहा जा सकता है। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से फ्रांस संसार के सर्व-प्रथम देशों में रहा है। इस पर भी वहां स्थायी मन्त्रिमण्डलों का शासन नहीं रहता। वहां के 'चैम्बर आफ डिपुटीज़' के ६१८ सदस्य बीसों दलों में विभक्त हैं। पिछले ६७ वर्षों में वहां पूरे १०१ मन्त्रिमण्डलों का शासन रहा है। एक मन्त्रिमण्डल के कार्यकाल की औसत ८ महीने से अधिक नहीं। फ्रांसके १५ भूतपूर्व प्रधानमन्त्री आज भी

जीवित हैं। फिर भी फ्रैंच लोगों का दावा है कि फ्रांस का-सा सफल प्रजातन्त्र राष्ट्र संसार में दूसरा नहीं है। अपनी सरकारों की अस्थिरता और अपने देश में राजनीतिक दलबन्दी की कमी को फ्रैंच लोग अपने स्वाधीनता-प्रेम का प्रमाण मानते हैं।

फ्रांस की भूमि काफ़ी उपज़ाऊ है। अपने देश के लिए आवश्यक पदार्थों का अधिकांश भाग फ्रांस स्वयं उत्पन्न कर लेता है। वहां की कच्ची उपज और पक्के व्यवसायों में पूरा समतुलन है।

फ्रांस की आबादी ४,२०,००००० है। और यह एक आश्चर्य का विषय है कि वहां की आबादी क्रमशः घट रही है। सन् १९३४ तक वहां जन्म और मृत्यु की संख्या में लगभग समतुलन-सा रहता था। परन्तु १९३५ से वहां मृत्युसंख्या की अपेक्षा जन्मसंख्या कम हो गई है। जब कि सन् १९३४ में विभिन्न देशों में १००० निवासियों के पीछे जन्म और मृत्यु का अनुपात इस प्रकार रहा—

	जन्म	मृत्यु
जर्मनी	१५.१	१०.९
इटली	२३.२	१३.१
रूस	४४.१	२६.१

विजयी फ्रांस—गत महायुद्ध के बाद मध्य यूरोप के पुनर्विभाग का श्रेय अथवा दोष का अधिकांश भाग फ्रांस का है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्साई की सन्धि-परिषद् में फ्रांस के नेता क्लीमैंशो ने विलसन की शान्ति-स्थापना की स्कीम को सफल नहीं होने दिया। इसमें भी सन्देह नहीं कि जर्मनी पर जो भारी

बोझ डाला गया था, उसका बहुत-सा उत्तरदायित्व फ्रांस पर ही था। अन्य मित्रराष्ट्र सम्भवत: जर्मनी को कुछ कम सज़ा देने को तैयार हो जाते। परन्तु फ्रांस के उस कार्य को अयुक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। यह इस कारण कि फ्रांस और जर्मनी की सभ्यता में अनेक आधारभूत भेद हैं, और फ्रांस को इस बात का ख़तरा था कि अवसर पाते ही जर्मनी फ्रांस की स्वाधीनतापूर्ण सभ्यता को कुचलने का प्रयत्न करेगा। फ्रांस निस्सन्देह संसार का सब से अधिक सभ्य देश था। नम्रता और विनय फ्रैंच लोगों के जातीय गुण हैं। पिछले एक हज़ार बरसों से फ्रांस को यूरोप का सभ्यतम देश गिना जाता है। फ्रांस के रहन-सहन और फ्रांस के रीतिरिवाजों का अनुकरण यूरोप के सभी राष्ट्र सत्रहवीं सदी से कर रहे हैं। फ्रांस के इन्हीं गुणों के कारण फ्रैंच भाषा सम्पूर्ण यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन गई। फ्रांस ने ही सब से पूर्व संसार को स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की व्यावहारिक दीक्षा दी। फ्रांस की आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था संसार के अन्य राष्ट्रों के लिए आदर्श स्वरूप है। आधा फ्रांस गांवों में रहता है, आधा नगरों में; आधे फ्रांसीसी खेती-बाड़ी का काम करते हैं और आधे व्यवसाय-व्यापार का। सभ्यता, व्यक्तिगत स्वाधीनता, विचारस्वतन्त्रता, कृषि, व्यवसाय, आदि का जितना अच्छा समतुलन फ्रांस में है, उतना संसार के अन्य किसी देश में दुर्लभ है। यही फ्रांस जब पिछले महायुद्ध में विजयी हो गया तो भविष्य के लिए अपने को निष्कंटक बनाने की दृष्टि से उस का सभी तरह के उपाय व्यवहार में लाना स्वाभाविक ही था।

आक्रमण का भय—फ्रांस की सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का उद्देश्य, बाह्य आक्रमणों से, विशेषतः जर्मनी के आक्रमणों से अपनी रक्षा करने का रहता है। फ्रांस में अभी ऐसे लोग काफ़ी संख्या में मौजूद हैं, जिन्होंने अपने देश पर जर्मनी के तीन आक्रमण देखे हैं, यद्यपि तीसरा महायुद्ध आजकल जारी है। पहले आक्रमण में फ्रांस हार गया, दूसरे में जर्मनी और अब फ्रांस।

पिछले महायुद्ध के ८, १० बरसों के बाद जब जर्मनी के प्रति मित्रराष्ट्रों का रुख़ काफ़ी उदार हो गया, फ्रांस की रक्षा तथा विश्व भर में शान्ति स्थापित रखने की दृष्टि से फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री ब्रिआन्द ने राष्ट्रसंघ के सन्मुख इस आशय का एक प्रस्ताव पेश किया कि संसार के राष्ट्रों में से बाह्य आक्रमणों का भय हटाने के लिये राष्ट्रसंघ को अपनी एक स्थायी सेना रखनी चाहिये, जो विश्व-रक्षा की पोलीस का काम करे। राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य उक्त सेना का ख़र्च पूरा करें। परन्तु राष्ट्रसंघ इस तरह की किसी स्कीम को स्वीकार नहीं कर सका। यह स्पष्ट है कि पिछले महायुद्ध के बाद बहुत समय तक, बल्कि सन् १९३४ तक, संसार के अन्य राष्ट्र फ्रांस की बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा करने की प्रबल इच्छा को बहुत सहानुभूति के साथ नहीं देख सके।

ब्लौक नैशनल—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, फ्रांस के चैम्बर आफ़ डिपुटीज़ में बीसों छोटे-बड़े दल हैं। उसका चुनाव प्रति चार वर्षों के बाद होता है। जब एक वार चुनाव हो जाता है, तो चार वर्षों के लिए फ्रांस की सरकार उसी चेम्बर में चुनी जाती है, प्रधान मन्त्री वहां चेम्बर का नया निर्वाचन नहीं करवा सकता। इससे प्रायः सदैव अनेक दलों के सम्मिश्रण से फ्रांस की

सरकार कायम होती है और छोटी-छोटी, यहां तक कि व्यक्तिगत बातों से भी फ्रांस की सरकार डावांडोल हो जाती है।

पिछले महायुद्ध के बाद, सन् १६१६ के अन्त में, अनेक दलों के सम्मिश्रण से फ्रांस में 'ब्लौक नैशनल' नाम की सरकार कायम हुई। इस दल में मुख्यतः अनुदार दल, कैथोलिक और फ्रांस के पूंजीपति शामिल थे। इस सरकार का ध्येय जर्मनी को अधिकतम जुर्माना अदा करने के लिये लाचार करना था। संसार भर में क्लीमैंशो के सम्बन्ध में यह धारणा फैल गई थी कि जर्मनी के प्रति उसका रुख़ बहुत ही प्रतिहिंसापूर्ण है, परन्तु ब्लौक नैशनल सरकार का कथन था कि क्लीमैंशो ने जर्मनी को बहुत सस्ते में छोड़ दिया। क्लीमैंशो को इसी बात पर त्यागपत्र दे देना पड़ा। गत महायुद्ध के बाद कुछ बरसों तक मिलरलैंड, पोइन्केर आदि के नेतृत्व में यही ब्लौक नैशनल फ्रांस की आन्तरिक राजनीति में बहुत प्रभावशाली दल बना रहा।

कर्टेल डे गोशे—फ्रांस की वर्तमान राजनीति में दूसरा प्रमुख दल कर्टेल डे गोशे (वाम-left-पक्ष का संगठन) रहा है। वास्तव में यह दल न तो वामपक्षी था और न साम्यवादी ही। वास्तव में यह उदार और शान्तिप्रिय लोगों का संगठन था। इस दल का प्रथम नेता हैरिएट है। दूसरा नेता ब्रिआंद था। ये दोनों व्यक्ति फ्रांस में बहुत लोकप्रिय रहे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में इस दल की नीति थी, पारस्परिक समझौते और विचार-विनिमय से शान्ति स्थापना करना। इंग्लैण्ड की मज़दूर सरकार के साथ ही साथ फ्रांस में कर्टेल की सरकार ने रूसी बोल्शेविक सरकार के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्ध

स्थापित कर लिए। उस से बाद फ्रांसीसी प्रधानमन्त्री ब्रिआंद और अंग्रेज़ प्रधानमन्त्री रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने एक साथ मिल कर राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली बनाने के उपायों पर विचार किया। परन्तु व्यवहार में कुछ भी नहीं हो सका। इंगलैण्ड की अनुदार दल की सरकार ने ही इन उपायों को स्वीकार नहीं किया।

घरेलू मामलों में इस दल की नीति बहुत सरल रही। दल ने प्रयत्न किया कि फ्रैंच लोगों पर और टैक्स न लगाए जांय। फ्रांसीसी लोगों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे अपने देश के लिए अपना जीवन तो आसानी से दे सकते हैं, परन्तु वे देश के लिए टैक्स नहीं दे सकते। इसी कारण फ्रांस में टैक्सों का बोझ सदैव बहुत कम रहा है। सन् १६१७ तक वहां आयकर भी नहीं था। उसके बाद भी, बहुत समय तक आयकर पूर्णरूप से वसूल नहीं किया जा सका।

उधर फ्रांस ने युद्ध का हरजाना प्राप्त करने के लिए जर्मनी के जिन प्रान्तों पर अपना अधिकार स्थापित किया था, उन का व्यावसायिक संगठन करने के लिए फ्रांस को बहुत अधिक धन व्यय करना पड़ा था। जर्मनी भी हरजाने की पूरी मात्रा अदा नहीं कर रहा था, इस से कर्टेल की सरकार को भी, लाचार होकर फ्रांसीसी लोगों पर नए कर लगाने ही पड़े। इस का परिणाम यह हुआ कि कर्टेल की सरकार हार गई।

यूनियन नैशनेल—इस परिस्थिति से ब्लौक नैशनल के नेता पोइंकेर ने लाभ उठाया। उसने कर्टेल के सिद्धान्त भी स्वीकार कर लिए और उस के सहयोग से सन् १६२६ में 'यूनियन नैशनेल' नाम से एक नए दल की स्थापना की। पोइंकेर इस

सरकार का प्रधानमन्त्री बना और कर्टेल का नेता ब्रिआंद वैदेशिक मन्त्री । सन् १९३२ तक इसी दल की सरकार फ्रांस में कायम रही। फ्रांस की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए पोइंकेर ने आयकर को सुव्यवस्थित किया और अमीरों पर यह कर बढ़ा दिया; सरकारी कर्मचारियों के वेतन घटाए और तम्बाकू पर से सरकारी एकाधिकार हटा दिया। सन् १९२८ में उस ने फ्रांस में भी गोल्ड स्टैंडर्ड जारी कर दिया।

इसी एक बात से फ्रांस को असीम आर्थिक लाभ पहुँचा। फ्रैंक (फ्रांसीसी सिक्का) की कीमत अब युद्ध से पहले की अपेक्षा केवल ⅕ रक्खी गई थी और फ्रांस का सम्पूर्ण राष्ट्रीय ऋण, जो फ्रांस में जमा किया गया था, फ्रैंकों में था। इस से वह राष्ट्रीय ऋण स्वयमेव केवल ⅕ ही बाकी रह गया। फ्रांस के पूंजीपतियों को इस बात से नुकसान अवश्य हुआ, परन्तु बहुत शीघ्र फ्रांस की आर्थिक दशा इतनी सुधर गई कि वहां के पूंजीपतियों को भी अपने उपर्युक्त नुक्सान का अफ़सोस नहीं रहा। क्रमशः सन् १९२९ तक फ्रांस एक अत्यन्त समृद्ध देश बन गया। उस ने यूरोप भर के सब देशों से बड़ी सेना का संगठन कर लिया। उस के पास संसार के सब देशों से अधिक सोना जमा हो गया। फ्रांस के व्यवसाय समृद्ध हो गए। राइनलैण्ड और रूहर से भी अब उसे अच्छी आय होने लगी।

संकट का प्रारम्भ—सन् १९२९ में पोइंकेर ने राजनीति से विश्राम लेलिया और थोड़े ही दिनों के बाद ब्रिआंद का भी देहान्त हो गया। फिर भी सन् १९३२ तक 'यूनियन नैशनेल' की सरकार कायम रही। सन् १९३०, ३१ में संसार भर पर जो आर्थिक संकट

आया, उसका प्रभाव फ्रांस पर पड़ना स्वाभाविक था। सरकार ने अपनी आय बढ़ाने के लिए कर बढ़ाए और लोगों में असन्तोष फैलने लगा। अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे धनी फ्रांस में नहीं हैं। उधर विदेशों के आर्थिक संकट से फ्रांस के व्यवसाय पर विषम प्रभाव पड़ रहा था। केन्द्रीय यूरोप की राजनीतिक दशा सन्देहास्पद बनती जा रही थी, इस से फ्रांस में सैनिक संगठन और शस्त्रीकरण आवश्यक हो गया। कर बढ़ाने पड़े और १९३२ के चुनाव में यूनियन की सरकार हार गई।

सन् १९३३ के प्रारम्भ से लेकर १९३५ तक फ्रांस में संकट काल रहा। उस समय देश को एक उग्र और स्थिर नीति की आवश्यकता थी। परन्तु चेम्बर आफ डिपुटीज़ में इतने दल थे कि आधे दर्जन दलों के संगठन के बिना वहां सरकार कायम न हो सकती थी। परिणाम यह हुआ कि वहां सरकार का बदलना रोज़मर्रा का काम हो गया। इन परिस्थितियों से शासन और भी कमज़ोर होगया, अनेक उच्च सरकारी कर्मचारी ईमानदार नहीं रहे। सन् १९३४ में इस तरह के अनेक अत्यन्त सनसनीपूर्ण मामलों का पता चला। इन्हीं परिस्थितियों के परिणामस्वरूप पेरिस में ६ फरवरी १९३४ को एक ख़तरनाक दंगा भी हो गया। जिस में १३०० लोग ज़ख्मी हुए।

मोशिए ब्लम और शातां—बरसों की अव्यवस्था के बाद सन् १९३६ में नया निर्वाचन हुआ और फ्रांस के इतिहास में पहली वार साम्यवादी दल के सदस्यों को चैम्बर आफ़ डिपुटीज़ में सर्वोच्च संख्या मिली। तब ब्लम ने, जो स्वयं जनता का नेता गिना जाता रहा है, कतिपय अन्य दलों की सहायता से अपनी

सरकार कायम की। ब्लम की सरकार ने काफ़ी दृढ़ता के साथ फ्रांस का शासन किया। फ्रांस को एक मज़बूत और शक्तिशाली सरकार की आवश्यकता थी। वह उसे मिल गई। ब्लम बहुत स्पष्टवादी और तेज़ था, इस से उस की जगह साम्यवादी नेता शातां प्रधानमन्त्री बना। शातां को फ्रांस की व्यावसायिक स्थिरता कायम करने में काफ़ी सफलता मिली, परन्तु सन् १६३८ के प्रारम्भ में फ्रांस में अनेक प्रभावशाली पूँजीपतियों के विरुद्ध कुछ ऐसे प्रमाण मिले, जिन से सिद्ध हुआ कि उनके ग़ैरकानूनी कार्यों और षड्यन्त्रों को फ्रांस की सरकार, उन के व्यक्तित्व के भय से सहन करती रही है। इस से शातां को भी त्यागपत्र दे देना पड़ा। और कुछ समय तक वहां पुनः स्थायी सरकार स्थापित नहीं हो सकी।

मोशिए दलेदियर—दलेदियर ८ एप्रिल १६३८ को तीसरी वार फ्रांस का प्रधानमन्त्री नियत हुआ। सन् १६३३ में जब दलेदियर पहली वार फ्रांस का प्रधानमन्त्री बना था, लोगों को विश्वास हो गया था कि उस का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। ख़ास तौर से अंग्रेज़ों ने उसे बहुत पसन्द किया था। परन्तु बाद की घटनाओं से लोगों की यह धारणा बदल गई थी।

इस वार दलेदियर के प्रधानमन्त्री बनते ही इंग्लैण्ड और फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त मित्रतापूर्ण हो गए। वर्तमान महायुद्ध में फ्रांस का जो हाल हुआ, उसका वर्णन आगे चलकर किया जायगा।

छठा अध्याय

हमारे पूरब के पड़ौसी

(क)

चीन

चीन की आर्थिक पराधीनता—बर्ट्रैण्ड रसल के कथनानुसार 'चीन की दो हज़ार वर्ष पुरानी सभ्यता मानवीय आल्हाद को उत्पन्न करने की दृष्टि से यूरोप की सभ्यता से बढ़ कर है।' परन्तु इस प्राचीन सभ्य देश की वर्तमान अवस्था का अन्दाज़ा मान्चैस्टर गार्डियन के निम्नलिखित उद्धरण से लगाया जासकता है—"कोई निष्पक्ष व्यक्ति इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि शंघाई में रहने वाले विदेशियों का यह निरन्तर प्रयत्न रहा है कि वे चीन के अधिकारों को हड़प करते चले जांय। जिस

समय शंघाई में विदेशियों को रहने का अधिकार मिला था, किसी को इस बात का ख़्याल भी नहीं था कि यह नई विदेशी आबादी एक दिन पूर्णतः स्वतन्त्र होकर सम्पूर्ण चीन पर अपना आर्थिक प्रभुत्व कायम कर लेगी। यदि हम चीन के सन् १८४२ से लेकर १९१४ तक के इतिहास का अध्ययन करें, तो हमें ज्ञात हो जायगा कि इस युग में चीन की स्वाधीनता का क्रमशः ह्रास होता चला गया है। चीन के तट-कर पर भी विदेशियों का नियन्त्रण हो गया था और वे उसका उपयोग अपने लाभ के लिए करते थे। इस तट कर से जो आय होती थी, वह विदेशों से उधार लिए गए धन का ऋण अदा करने के रूप में पुनः विदेशियों के पास चली जाती थी। चीन का अधिकांश सामुद्रिक यातायात विदेशी जहाज़ों में होता था। चीन के रेलवे विदेशियों के हाथ में थे। वहां के सम्पूर्ण आय-व्यय पर विदेशी राजदूतों का नियन्त्रण रहता था। और इस पर सब से बढ़ कर बात यह कि इस पर विदेशी लोग चीनियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे।"

चीन इन परिस्थितियों को दूर करने में असमर्थ था। वर्साई की सन्धि के दिनों में चीन के प्रतिनिधि इस आशा से वहां पहुंचे कि शायद राष्ट्रपति विलसन चीन की खोई हुई आर्थिक स्वाधीनता पुनः स्थापित करवा सकें। परन्तु यह उनका भ्रम था। वर्साई की सन्धि से जहां जापान को भी शंटुंग और प्रशान्त महासागर का एक जर्मन द्वीप प्राप्त हो गया, वहां चीन को अपनी आर्थिक स्वाधीनता भी प्राप्त नहीं हुई। चीन के प्रतिनिधियों ने वर्साई की सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं किए, परन्तु उनकी किसी ने परवाह नहीं की।

डा० सनयात सेन के तीन सिद्धान्त—चीन की वर्तमान परिस्थितियों को समझने के लिए गत महायुद्ध से पहले के चीन तथा उसकी राज्यक्रान्ति पर प्रकाश डालना आवश्यक है। सन् १६४४ से १९११ तक चीन पर मंचू राजवंश का शासन रहा। ये मंचू राजा विदेशी प्रभुत्व के प्रभाव से चीन की रक्षा नहीं कर सके थे, अतः सन् १९११ में नवीन चीन ने राज्यक्रान्ति कर दी और वहां प्रजातन्त्र की स्थापना हो गई। इस राज्यक्रान्ति का नेता डा० सनयातसेन था, जिसे वर्तमान चीन का पिता कहा जाता है। चीन को एक स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने के लिए डा० सनयातसेन ने जितना महान् अध्यवसाय किया, उतना अध्यवसाय संसार के अर्वाचीन इतिहास में बहुत कम लोगों ने किया होगा।

चीन का क्षेत्रफल लगभग सम्पूर्ण यूरोप के बराबर है। उसकी आबादी यूरोप की पूर्ण आबादी से भी अधिक है। सन् १९११ की राज्यक्रान्ति के बाद अन्तिम मंचू राजा का एक अफ़सर सम्पूर्ण चीन का शासक बन बैठा। सन् १९१६ में उसका देहान्त हो गया। उसने चीन के प्रान्तों में जिन लोगों को सैनिक गवर्नर नियत किया था, वे अब स्वतन्त्र शासक बन गए। पेकिंग नाममात्र को उत्तर-चीन की राजधानी रह गया। वहां की सरकार एकदम शक्तिहीन थी। चीन का अधिकांश भाग अब सैनिक शासकों (War lords) के पास था। दक्षिण चीन के कैण्टन नगर में एक और सरकार थी, जिस का संचालन डा० सन के राष्ट्रीय दल के हाथ में था। उत्तर और दक्षिण की इन दोनों सरकारों में परस्पर बहुत कम सहयोग था और सैनिक-शासक तो किसी की बात तक सुनने को तैयार नहीं थे।

डा० सनयातसेन के राष्ट्रीय दल का नाम 'कोमिन्तांग' था ! वर्साई की सन्धि के अवसर पर जब चीन के प्रतिनिधियों की किसी ने नहीं सुनी, तो चीन में कोमिन्तांग की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इन्हीं दिनों जापान की सरकार ने उत्तर चीन की सरकार से ज़बरदस्ती अपनी २१ मांगें स्वीकार करवाईं, जिसके प्रभाव से चीन आर्थिक दृष्टि से जापान का एक उपनिवेश-सा बन जाता था। कोमिन्तांग पार्टी इन २१ मांगों को स्वीकार करने को कदापि तैयार नहीं थी, इससे डा० सन के इस दल की लोकप्रियता और भी बढ़ गई। मार्च १९२१ में डा० सन ने घोषणा की कि उसके निम्नलिखित तीन सिद्धान्त हैं :—

१. राष्ट्रीयता—चीन में से विदेशियों का प्रभाव नष्ट कर दिया जाय। उन्हें चीन के व्यापार, व्यवसाय, यातायात और समुद्र पर जो अधिकार प्राप्त हैं, वे छीन लिए जांय। चीन पर चीनियों का ही शासन रहे। इस शासन में चीन के चारों अल्पमतों के हितों का भी पूरा ध्यान रक्खा जायगा। ये चारों अल्पमत हैं—मंचू, मंगोलियन, तातार और तिब्बती।

२. प्रजातन्त्र—चीनी जनता अपनी प्रतिनिधि सभा का स्वयं निर्वाचन करे। जब किसी सदस्य पर से उस के मतदाताओं का विश्वास उठ जाय तो उसे त्यागपत्र दे देना पड़े। महत्वपूर्ण बातों का निश्चय सम्पूर्ण देश से वोट लेकर किया जाय। शासन और व्यवस्था की शक्तियां प्रतिनिधि सभा के निर्वाचित मन्त्रि-मण्डल में केन्द्रित रहें।

३. सामाजिक न्याय या जीवन का अधिकार—चीन की सम्पत्ति का विभाजन इस ढंग पर किया गया जाय कि उस के द्वारा सम्पूर्ण चीनी आराम का जीवन व्यतीत कर सकें। उन की आवश्यकताएं पूरी हो सकें।

पारिवारिक संस्था—उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों को पूरा कर सकना लगभग असम्भव प्रतीत होता था। इस का मुख्य कारण यह है कि चीन में राष्ट्रीयता की भावना का नितान्त अभाव था। चीनी-जीवन की सब से महत्वपूर्ण संस्था वहां का परिवार है। सुप्रसिद्ध चीनी महिला चैनज़ेन के शब्दों में—

"चीनी परिवार एक बहुत छोटे राज्य के समान है। पिता या माता इस राज्य के अधीश्वर होते हैं। पुत्रों, पुत्रियों और बहुओं की नौकरशाही इस राज्य के नौकरशाही अफ़सर हैं, जो छोटी बहुओं, पोतों, पोतियों तथा आश्रित रिश्तेदारों, जिन की संख्या प्रायः कम नहीं होती, पर कठोर शासन करते हैं। इस राष्ट्र में भी निरन्तर षड्यन्त्र, राजनीति, विद्रोह आदि होता रहता है और जो स्त्री घरेलू राजनीति में प्रवीण नहीं, वह परिवार में अपनी कोई स्थिति नहीं बना सकती। वास्तव में चीनी परिवार एक मशीन है, एक संस्था है और परिवार के व्यक्ति उस मशीन के कील, पेच, एंजिन, पटरी आदि के समान हैं। उन की सत्ता उन के व्यक्तित्व के लिए नहीं, परिवार के लिए है।"

चीनी परिवार की महत्ता का एक कारण यह भी है कि चीन में धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान परिवार द्वारा ही हो सकता है। चीन में विवाह का आधार प्रेम नहीं, अपितु कर्तव्य की भावना है और इस कर्तव्य भावना का लक्ष्य परिवार ही है।

परिवार की उक्त महत्ता के रहते हुए चीन में राष्ट्रीयता की भावना का विकास सुगम नहीं था। उस पर विदेशी साम्राज्यवादी चीन में राष्ट्रीयता की भावना को पनपने नहीं देना चाहते थे।

अन्य दिक़्क़तें—किसी राष्ट्र में प्रजातन्त्र की स्थापना तभी सफल हो सकती है, जब वहां पढ़े-लिखे लोगों की संख्या अधिक हो। और १६१६ तक चीन में पढ़े लिखे लोगों की संख्या केवल १२ प्रतिशत ही थी। इस अशिक्षा का एक कारण यह भी था कि चीनी लिपि बहुत ही कठिन है। इस की वर्णमाला में ४००० अक्षर हैं, जिन्हें याद रखना आसान काम नहीं। प्रजातन्त्र का दूसरा सिद्धान्त यह है कि स्त्री और पुरुष की स्थिति समान हो। परन्तु चीन में स्त्री को पुरुष से बहुत हीन माना जाता था। वहां बाल विवाह की प्रथा थी और विवाह के सम्बन्ध में स्त्रियों से कुछ भी न पूछा जाता था। पति को चीन में यह अधिकार प्राप्त था कि वह चाहे तो अपनी पत्नी को बेच भी सकता है।

डा० सन का तीसरा सिद्धान्त पूरा करने के लिये चीन को सम्पन्न बनाने की आवश्यकता थी। चीन की आर्थिक दशा बहुत बुरी थी। वहां की ८० प्रतिशत जनता कृषि पर अवलम्बित थी और किसानों के पास बहुत थोड़ी ज़मीन थी। उन के साधन भी पुराने ढंग के थे। परिणाम यह होता था कि ख़ुशहाली के बरसों में तो चीनी किसानों को रूखा-सूखा भोजन मिल भी जाता था परन्तु जब किसी भी कारण से फ़सल ठीक नहीं हो पाती थी, तो वहां भयंकर दुर्भिक्ष फैल जाते थे। इन दुर्भिक्षों में हज़ारों-लाखों चीनी मक्खियों की तरह मर जाते थे। इस पर भी चीनी

जनता इन दुर्भिक्षों का पूरा उत्तरदायित्व वर्षा के अभाव या टिड्डियों के आक्रमण आदि पर ही डालती थी। "यह किस्मत का खेल है"—बस, इतना ही। डा० सन ने चीनियों को बताया कि यह किस्मत का खेल नहीं, यह तो गन्दी प्रथाओं का दोष है। किसानों के खेत बहुत छोटे-छोटे भागों में बँटे हुए हैं, उन के साधन रद्दी हैं; उन में परस्पर सहयोग नहीं, इसी से वे भूखों मरते हैं। डा० सन ने अपने देशवासियों को राजनीतिक और अर्थशास्त्र के नवीनतम सिद्धान्तों का व्यावहारिक ज्ञान देने का गम्भीरतम प्रयत्न किया। उनकी कोमिन्तांग संस्था उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों के लिये ही निर्मित हुई थी, परन्तु चीन पर उक्त संस्था का प्रभाव बहुत शीघ्रता अथवा यथेष्ट गहराई से नहीं पड़ा।

कोमिन्तांग को रूसी सहायता—डा० सन के तीनों सिद्धान्त पाश्चात्य सिद्धान्त पर आश्रित थे, इस से उन्हें आशा थी कि पाश्चात्य शक्तियां उन्हें उन के कार्यक्रम में सहायता देंगी। सन् १९२१ में उन्होंने इसी उद्देश्य से अमेरिका से अपील की। परन्तु अमेरिका ने सहायता देने से इन्कार कर कर दिया। उस के बाद डा० सन ने इंग्लैण्ड और जापान से अनुरोध किया, परन्तु इन दोनों देशों ने चीन के दो विभिन्न सैनिक शासकों को ही सहायता देने का निश्चय किया। तब डा० सन ने बोल्शेविक रूस से अपील की। रूस के अनेक नेताओं से डा० सन का व्यक्तिगत परिचय था। उनके उद्देश्यों में भी समानता थी, इस से रूस ने डा० सन के कार्यक्रम में सहायता देने का वचन दिया। कोमिन्तांग की सब से बड़ी और प्रथम कमज़ोरी यह थी कि उसका सैन्य-संगठन कमज़ोर था।

इसी कारण सन् १९११ में राज्यक्रान्ति करवाने में सफल हो जाने पर भी यह दल चीन का सम्पूर्ण शासन-सूत्र अपने हाथ में नहीं ले सका था। इस दल की सैनिक शक्ति अब भी दोषपूर्ण थी। लेनिन ने अपने व्यक्तिगत मन्त्री को चीन में भेजा। डा० सनयात सेन ने लेनिन के मन्त्री से कहा कि चीन को बोल्शेविज़्म की ज़रूरत नहीं, राष्ट्रीय एकता की ज़रूरत है। लेनिन के मन्त्री ने भी इस बात को स्वीकार किया। संसार का कोई राष्ट्र तब तक रूस का मित्र नहीं था, इस से रूस ने चीन को ही अपना प्रथम मित्र बनाना स्वीकार कर लिया।

रूसी देखरेख में कोमिन्तांग ने सन् १९२४ से अपना दृढ़ सैनिक संगठन शुरू किया। रूसी विशेषज्ञों ने डा० सन को बताया कि उनकी कमज़ोरी का एक कारण यह भी है कि उनकी सेना केवल विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों और व्यापारियों की सन्तान से बनी है। सेना में स्वस्थ किसानों को भरती करने की बात रूसी विशेषज्ञों ने ही सुझाई। रूसी देखरेख में कोमिन्तांग का अपना आन्तरिक नियन्त्रण भी कठोर और नियमित कर दिया गया। रूसी विशेषज्ञों का कहना था कि चीनी लोगों में नियन्त्रण की अत्यन्त कमी है।

कोमिन्तांग के संगठन को व्यापक और दृढ़ बना कर रूसी विशेषज्ञ बोडिन ने चीन में एक सैनिक कालेज खोला। इस कालेज में ४० रूसी सैनिक अफ़सर अध्यापक नियत किए गए। इस कालेज का प्रिन्सिपल चांग काई शेक को बनाया गया, जो वर्तमान चीन का राष्ट्रपति है। कोमिन्तांग का सैनिक संगठन बड़ी शीघ्रता और दृढ़ता से कायम होने लगा।

डा० सन का देहान्त—मार्च सन् १९३५ में डा० सनयात सेन का देहान्त हो गया। सम्पूर्ण जीवन में डा० सन ने चीन की अद्भुत सेवा की थी। सन् १८९५ में उन्हें देश निकाले की सज़ा मिली थी और तब जापान, होनोलूलू तथा यूरोप में उन्होंने चीनी क्रान्तिकारी दल का संगठन किया था। चीनी सरकार ने एक बार उनकी हत्या करने वाले के लिए इनाम की घोषणा भी कर दी थी। लण्डन में एक बार डा० सन गिरफ़ार भी हो गए थे, परन्तु वह भाग निकले। सन् १९११ में उन्हीं के प्रयत्न से चीन में राज्यक्रान्ति हुई और तब से अपने देहान्त तक डा० सन चीन के सब से महान् नेता बन कर रहे। उन के देहान्त के बाद चीन उन के महत्त्व को और भी अच्छी तरह समझा। उन की समाधि चीन का सब से महान् तीर्थ बन गई। सम्पूर्ण चीनी उन की तसवीर के सन्मुख सिर झुकाने लगे। उन की वसीयत, जिसमें उन्होंने चीन को एक संगठित, शक्तिशाली और स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने की इच्छा प्रकट की है, चीनियों का ध्येयमन्त्र बन गई।

उत्तर चीन के सैनिक शासक—अपने अन्तिम दिनों में डा० सन उत्तर चीन के सैनिक शासकों में चीनी राष्ट्रीयता के भाव भरने का प्रयत्न कर रहे थे। उत्तर चीन में १२ स्वतन्त्र सैनिक शासक थे। इन में से तीन तो बहुत ही लड़ाके और उपद्रवी थे। आए दिन इन शासकों में युद्ध ठना रहता था। इन में चैंग-त्सो-लिन विशेष प्रसिद्ध है। सन् १९०४ के रूसी-जापानी युद्ध में चैंग-त्सो-लिन ने जापान की सहायता की थी, इस से जापान उसे आर्थिक सहायता देता था। क्रमशः उस ने अपनी

शक्ति बढ़ा ली और सन् १६२१ में पेकिंग पर भी अपना अधिकार कर लिया। यह चैंग-त्सो-लिन ज़रा भी पढ़ा-लिखा नहीं था।

चैंग-त्सो-लिन का सब से बड़ा प्रतिद्वन्दी वू-पी-फू था। वह एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति था। पेकिंग और हैंको के बीच के रेलवे पर वू-पी-फू का शासन था, इस से उसकी महत्ता भी कम नहीं थी। सन् १६२२ में इन दोनों में युद्ध हुआ। इस युद्ध में चैंग-त्सो-लिन तो हार गया, परन्तु वू के स्थान पर उसका सहकारी सैनिक शासक फैंग-हू-सिआंग पेकिंग का मालिक बन बैठा। यह एक दैत्याकार चीनी था, जिसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। क्रमशः उसने रूस से अपने सम्बन्ध स्थापित कर लिए। सन् १६२६ में वू तथा चैंग ने उस पर सम्मिलित आक्रमण कर दिया, तब वह रूस की ओर ही भाग गया।

राष्ट्रीय दल का उत्तर-चीन पर आक्रमण—जब उपर्युक्त तीनों सैनिक शासक एक दूसरे से लड़ाई कर रहे थे, राष्ट्रीय दल की सुशिक्षित सेना ने हैंको पर आक्रमण कर दिया। यांगसी नदी से, चीन के सब से बड़े नगर शंघाई तक का प्रदेश एक बार अपने हाथ कर लेने के बाद सम्पूर्ण उत्तर चीन में राष्ट्रीय सेना का मार्ग रोक सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं था। नए कालेज की देख-रेख में राष्ट्रीय सेना ने सात सेनाओं का संगठन किया था, जिनमें से प्रत्येक सेना में १४,५०० सैनिक थे। इस सेना को रूस हथियारों की सहायता दे रहा था। इन्हीं दिनों हौंगकौंग में चीनी मज़दूरों पर अंग्रेज़ व्यवसायपतियों के कहने से पोलीस ने गोली चलाई थी। इस घटना से चीन भर में कोमिन्तांग की लोकप्रियता और भी

अधिक बढ़ गई थी और अब उसे अपनी शक्ति पर भरोसा भी होने लगा था।

हैंको की विजय—राष्ट्रीय दल की इस सेना का सेनापति जनरल चांग-काई-शेक था। जून १६२६ में राष्ट्रीय सेना ने वू को हरा कर हैंको पर अधिकार कर लिया। हैंको चीन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण और केन्द्र में स्थित नगर है। राष्ट्रीय सरकार अपनी राजधानी भी कैण्टन से हैंको में ले आई। हैंको का व्यवसाय अभी तक जापानियों के हाथ में था। राष्ट्रीयता की लहर से प्रभावित होकर जापानी कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों ने आन्दोलन शुरू किया और जापानी मिल मालिकों को उन का वेतन ८ सप्ताहों के भीतर ५० प्रतिशत बढ़ा देना पड़ा। हैंको का सब से बड़ा कारख़ाना एक सिगरेट का कारख़ाना था। उसके मालिक अंग्रेज़ थे। उन्हों ने मज़दूरों का वेतन बढ़ाने की अपेक्षा वह कारख़ाना ही बन्द कर दिया। चीनी नर-नारी अब राष्ट्रीय पोशाक पहने नगर की सड़कों पर राष्ट्रीय गीत गाते फिरते थे। हैंकों के विदेशी पूंजीपति अब भयभीत होने लगे थे। उन्होंने अंग्रेज़ सरकार से अनुरोध किया कि वह चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन में हस्तक्षेप करे, परन्तु अंग्रेज़ सरकार स्थिति को समझती थी। उसने राष्ट्रीय चीन से अब समझौता कर लिया। हैंको तथा कतिपय अन्य नगरों में से विदेशी प्रभाव एकदम नष्ट कर दिया गया। साथ ही ज़रूरत पड़ने पर, ख़तरे का सामना करने के लिए, शंघाई में अंग्रेज़ी सेना की संख्या भी बढ़ा दी गई।

राष्ट्रीय दल में फूट—यहां तक तो सब ठीक था। राष्ट्रीय सेना ने उत्तर चीन के बड़े भाग पर अधिकार कर लिया और कोमिन्तांग की सरकार चीन की सब से अधिक शक्तिशाली सरकर बन गई। परन्तु अब, शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद, चीन की राष्ट्रीय सरकार के नेताओं में परस्पर अविश्वास और फूट के भाव पैदा होने लगे। एशियाई देशों का सब से बड़ा और सब से भयंकर राजनीतिक मर्ज़ फूट है। डा० सनयात सेन के देहान्त के बाद चीनी राष्ट्रीय दल में नेतृत्व के लिए जो झगड़ा अन्दर ही अन्दर उठ खड़ा हुआ, उस के चिह्न डा० सन की जीवितावस्था में ही दिखाई देने लगे थे। बहुत शीघ्र कोमिन्तांग दल वाम और दक्षिण (Left and Right) दो दलों में विभक्त हो गया। हैंको की सरकार पर वाम दल का प्रभुत्व था, इस से दक्षिण दल के नेता चांग-काई-शेक ने अपनी सेना की सयायता से नानकिंग में नई सरकार की स्थापना कर दी।

चांग के लिये नानकिंग में नई सरकार स्थापित करना अत्यन्त कठिन हो जाता. यदि हैंको के वामदल में भी परस्पर फूट न होती। वामदल में उग्र राष्ट्रीय और समाजवादी लोगों के दो गुट्ट थे। समाजवादी गुट्ट का संचालन रूसी नेतृत्व में हो रहा था। उन का सीधा सम्बन्ध रूसी सरकार के साथ था। उधर उग्र राष्ट्रीय गुट्ट के लोगों का दृष्टिकोण विशुद्ध राष्ट्रीय था। वे चीन के किसी भाग में किसी विदेशी का प्रभुत्व सहन करने को तैयार नहीं थे। इन परिस्थितियों में चांग जैसे दक्ष सेनापति ने बड़ी आसानी से न केवल नानकिंग में नई सरकार ही स्थापित कर ली, अपितु जुलाई १९२७ तक उग्र राष्ट्रीय और

समाजवादी दोनों दलों को हरा दिया। कैण्टन को भी, जो समाजवादियों का प्रसिद्ध केन्द्र था, दिसम्बर १६२७ तक, सिर्फ ३ दिनों के युद्ध के बाद चांग ने अपने अधिकार में कर लिया।

नानकिंग की सरकार—बहुत शीघ्र चांग-काई-शेक ने नानकिंग की सरकार को चीन में सब से अधिक शक्तिशाली सरकार बना दिया। अधिकांश चीन पर उस का अधिकार हो गया। वह अपने को डा० सनयातसेन का अनुयायी मानता था, अब डा० सन की साली से विवाह कर वह उनका उत्तराधिकारी भी बन गया। चांग ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। डा० सन का साला संग एक बहुत प्रभावशाली और कठिनता से काबू में आने वाला व्यक्ति था। चांग ने उसे अपना अर्थ-मन्त्री बना कर अपने वश में कर लिया। चांग की सरकार अब भी अपने को कोमिन्तांग दल की सरकार कहती थी। उसका डा० सन के तीनों सिद्धान्तों पर विश्वास था। परन्तु व्यवहार में अभी तक चीन में राष्ट्रीयता की भावना नहीं लाई जासकी थी। मंचूरिया पर अब भी चैंग-त्सो-लिन और उसके पुत्र का स्वतन्त्र शासन था। उत्तर पश्चिम में फैंग एक आफ़त बना हुआ था। इस तरह से चीन के अनेक भाग अभी तक सैनिक शासकों के हाथ में थे। फिर भी चीन की सब से बड़ी शक्ति अब नानकिंग सरकार ही बन गई।

आर्थिक उन्नति—चांग-काई-शेक ने अब अपना ध्यान चीन की आर्थिक उन्नति की ओर लगाया। सब से पहले उसने बेल्जियम, इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों के साथ इस आशय की सन्धि करली कि वे क्रमशः चीन में प्राप्त

अपने विशेषाधिकारों को छोड़ते चले जांयगे। बदले में चांग ने इन्हें चीन में ज़मीन ख़रीद सकने का अधिकार देदिया।

उसके बाद चांग ने चीनी व्यवसाय को उन्नत करने का प्रयत्न किया। जगह-जगह चीनी पूंजी से बड़े बड़े कारख़ाने खोले जाने लगे। विदेशी व्यापारियों ने अब चीन में कपड़ा आदि पक्का माल भेजने की बजाय बड़ी-बड़ी मशीनें भेजनी शुरू कीं। सन् १९२८ से १९३० तक अकेले इंग्लैण्ड से चीन में मशीनों का आयात तिगुना हो गया। कुछ ही वर्षों में चीनी कारख़ानों की संख्या ६७३ से १९७५ तक पहुंच गई। चांग ने विदेशोंसे, विशेष कर अमेरिका और जापान से, भारी राष्ट्रीय ऋण भी लिया। राष्ट्रसंघ की सहायता से नानकिंग को आधुनिकतम नगर बनाने का प्रयत्न किया गया। वहां गगनचुम्बी इमारतें बनने लगीं। उपर्युक्त रीति से चांग ने चीन का व्यवसाय तो अवश्य समृद्ध कर दिया, परन्तु वह चीनी मज़दूरों और चीनी किसानों की दशा नहीं सुधार सका। उनके लिए चांग में तथा सैनिक-शासकों में कोई अन्तर नहीं था। चांग ने मज़दूरों के वेतन घटा दिए और मज़दूर आन्दोलनों का, कोमिन्तांग के ज़बरदस्त संगठन की सहायता से, दमन किया। चीनी किसान अभी तक डा० सन के तीसरे सिद्धान्त को नहीं भूले थे। वे तो चीनी राष्ट्रीयता का अभिप्राय ही अपनी खुशहाली समझते थे। चांग की नीति से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

सोविएट चीन—क्रमशः चीन में चांग-काई-शेक के विरुद्ध लोकमत प्रबल होने लगा। कैण्टन में कोमिन्तांग का वामदल पुनः अपना संगठन करने लगा और मई १९३१ तक

कतिपय असन्तुष्ट सैनिक शासकों की सहायता से इस पक्ष ने नानकिंग में कोमिन्तांग-सरकार नाम से एक नई सरकार की स्थापना कर ली।

उधर चीन में क्रमशः समाजवादी दल का प्रभाव भी बढ़ने लगा। सन् १६२७ में चांग-काई-शेक ने समाजवादी दल को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया, परन्तु इस पर भी दल की सरगर्मियां छिपे तौर से जारी रहीं। समाजवादी नवयुवक अब भी सैनिक नियन्त्रण की शिक्षा लेने के लिए गुप्तरूप से मास्को जाया करते थे। यह शिक्षित नवयुवक चीन में वापस आकर जगह जगह सोविएट संगठन कायम कर रहे थे। सन् १६३१ तक केन्द्रीय चीन के एक बड़े भाग पर सोविएट सरकार की स्थापना हो गई। इस सरकार का निर्माण रूसी बोल्शेविक सोविएट सरकार के आधार पर किया गया था। मास्को की सरकार ने सन् १६३१ में दावा किया था कि चीन की सोविएट सरकार का शासन १० करोड़ चीनियों पर स्थापित है। परन्तु शंघाई के अख़बारों का कहना था कि चीन की सोविएट सरकार केवल असन्तुष्ट सैनिक शासकों के अशिक्षित और अर्धसभ्य शासन पर आश्रित है। चाहे कुछ भी हो, पूरे ६ बरसों तक हूपेह और होनन आदि के प्रान्तों पर चीनी सोविएट सरकार कायम रही। इस सरकार की सैन्य शक्ति ३,५०,००० तक जा पहुंची। सन् १६३७ में जब जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया, तब सोविएट चीन और राष्ट्रीय चीन मिलकर एक हो गए।

मंचूरिया पर जापानी आक्रमण—चीन में जब उपर्युक्त गृह कलह जारी था, तब सन् १६३१ में, जापान ने मंचूरिया

पर आक्रमण कर दिया। मंचूरिया पर उन दिनों सैनिक शासकों का अधिकार था। उन की सेना वर्तमान युद्ध नीति में निपुण नहीं थी। इस से बहुत शीघ्र जापान ने मंचूरिया को जीत लिया और वहां अपने साम्राज्य की स्थापना कर दी। इस सम्बन्ध में विस्तार से जापान के अध्याय में लिखा जायगा।

चीन-जापान युद्ध—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी रखने वाले किसी भी व्यक्ति को आशा नहीं थी कि जापान केवल मंचूरिया पर अपना अधिकार स्थापित कर सन्तुष्ट हो जायगा। उस के बाद जापान ने क्रमशः जैहोल, चहार और पेकिंग पर भी अधिकार कर लिया। सन् १६३४ में चीन मुख्यतः तीन भागों में बँटा हुआ था। नानकिंग में चांग की सरकार, मध्य चीन में सोविएट सरकार, जिस में अनेक सैनिक शासक सम्मिलित थे और कैण्टन में कोमिन्तांग के वाम पक्ष की राष्ट्रीय सरकार। इन में चांग-काई-शेक की सरकार सब से अधिक शक्तिशाली थी। चांग-काई-शेक का व्यक्तित्व भी निस्सन्देह प्रभावशाली था। परन्तु उस का ख़्याल था कि चीन की राष्ट्रीयता के मार्ग की सब से बड़ी रुकावट वहां का समाजवादी दल है। जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को चांग-काई-शेक अभी तक अपने देश के लिए सब से बड़ा ख़तरा नहीं समझता था। परन्तु सन् १६३७ में चांग-काई-शेक को अपनी ग़ल्ती मालूम हुई।

इसी बीच में मंचूरिया का पदच्युत शासक चांग-सुह-लिआंग नानकिंग में पहुंचा। उसे जापान ने राज्यच्युत किया था, इस से जापान के प्रति उसकी नाराज़गी स्वाभाविक थी। सन् १६३७ में चांग-सुह-लिआंग ने किसी तरीके से चांग-काई-शेक

को गिरफ़ार कर लिया और उसे वह चुपचाप पार्वत्य प्रदेशों में ले गया। नानकिंग के राष्ट्रपति के गुम हो जाने का समाचार संसार ने अत्यधिक आश्चर्य के साथ सुना। परन्तु कुछ ही दिनों में चांग-काई-शेक से यह प्रतिज्ञा लेकर कि वह अब जापानी ख़तरे का सामना करने के लिए सम्पूर्ण चीन को संगठित करेगा, चांग-सुह-लिआंग ने उसे छोड़ दिया।

जापान ने जब देखा कि चीन उसके विरुद्ध संगठित होने का प्रयत्न कर रहा है और सम्पूर्ण चीन में, जापान का मुकाबला करने के लिए एकता की भावना ओत-प्रोत होगई है तो उसने और अधिक प्रतीक्षा किए बिना चीन के सन्मुख कतिपय असम्भव मांगें पेश कर दीं। जब चीन ने उन मांगों को स्वीकार नहीं किया, तो जापान ने चीन पर चढ़ाई कर दी।

चीन के लिए जापान की संगठित शक्ति का मुकाबला करना आसान नहीं था। फिर भी चांग-काई-शेक की अध्यक्षता में चीन वीरता पूर्वक जापान का मुकाबला कर रहा है। अब इस युद्ध को चार बरस बीत चुके हैं। युद्ध का विस्तृत वर्णन जापान के अध्याय में किया जायगा। यहां इतना ही कहना काफ़ी है कि संसार के अनेक देशों की सहानुभूति प्राप्त होते हुए भी चीन अब तक अपना एक तिहाई से अधिक भाग खो चुका है। नानकिंग, हैंको और शंघाई भी अब तक जापान के अधिकार में आ चुके हैं। फिर भी चीनी सेना का साहस भंग नहीं हुआ। मार्शल चांग-काई-शेक और उनके अनुयाइयों का विश्वास है कि इस युद्ध में संगठित चीन की ही विजय होगी।

———

(ख)

जापान

जापान का उत्थान—उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक जापान एक बहुत ही पिछड़ा हुआ देश था। बाहर के संसार से जापान का कोई सम्बन्ध नहीं था। जापानी जनता का ध्येय तब तक व्यर्थ के धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन करना ही था। सन् १८६७ में जापानियों की नई पीढ़ी ने एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी। जापान ने अपने बन्दरगाह विदेशी व्यापारियों के लिए खोल दिए। कुछ ही वर्षों में पुराना कुलीनतन्त्र नष्ट हो गया और भूमि पर किसानों का ही अधिकार हो गया। पश्चिम के देशों की नकल पर जापान में एक पार्लियामैंट और मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गई। इस पार्लियामैंट की भावना विशुद्धरूप से जापानी ही थी। जापानी सम्राट् अपना शासन मन्त्रिमण्डल द्वारा करने

लगा, परन्तु जापान की सेना पर उस का सीधा नियन्त्रण रहा। सेना पर पार्लियामैंट का कोई भी अनुशासन या अधिकार नहीं रक्खा गया।

जापान में अपने सम्राट् के लिए अगाध श्रद्धा के भाव हैं। जापानी लोग अपने सम्राट् को सूर्य देवता का वंशज मानते हैं और एक देवता के समान ही उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। जापानी राष्ट्रीयता का आधार उनका सम्राट् ही है। इसी कारण देशभक्ति की भावना जापानियों के लिए एक धार्मिक भावना के समान है। सन् १८६७ के महान् राजनीतिक परिवर्तनों से भी जापानी-सम्राट् की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आने पाया।

सन् १८६७ से जापान का विकास पाश्चात्य आदर्शों पर, बड़ी तेज़ी के साथ किया जाने लगा। १० वर्षों के अन्दर ही अन्दर जापान का कायाकल्प हो गया। राष्ट्र ने अपनी ओर से लाखों रुपया जापान के व्यवसाय को उन्नत करने के लिये जापानी नागरिकों को दिया। जापान की कृषि, रेशम का व्यवसाय, चावल की खेती आदि, सभी को उन्नत करने का भरपूर प्रयत्न किया गया। परिणाम यह हुआ कि १९वीं सदी के अन्त तक पूर्वीय राजनीति में जापान की काफ़ी महत्ता स्थापित हो गई।

कोरिया का अपहरण—उन्हीं दिनों चीन में पश्चिम के राष्ट्र अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे। चीन के अनेक प्रान्तों में उन्होंने अपने उपनिवेश-से भी बना लिए थे। जापानी सरकार को भय प्रतीत हुआ कि कहीं उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार न हो। ख़ास तौर से उसे रूस का भय था। जापान के बहुत निकट कोरिया नाम का जो द्वीप है, उस पर रूस का

अधिकार हो जाना एक मामूली बात थी। और जापान की दृष्टि से कोरिया की भौगोलिक स्थिति बहुत मौके की है। तब तक कोरिया पर चीन का नाममात्र का प्रभुत्व था। सन् १८६४ में जापान ने कोरिया पर आक्रमण कर उसे एक स्वतन्त्र द्वीप बना दिया। सन् १६०५ में उसने कोरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और सन् १६१० में कोरिया को वाकायदा जापानी साम्राज्य का एक अंग बना लिया।

रूस से युद्ध—लगे हाथ जापान ने मंचूरिया के निकट समुद्रतट का एक ज़रा-सा, परन्तु महत्वपूर्ण भाग भी हथिया लिया। रूस ने जापान की इस बात का विरोध किया। जापान ने वह भाग छोड़ दिया। इस के बाद रूस ने चीनी समुद्रतट के एक भाग पर अधिकार कर, वहां अपने दो बन्दरगाह बना लिए और अपना धन लगा कर इन बन्दरगाहों तक जाने के लिए, चीन में एक रेलवे लाइन भी बना दी। वास्तव में रूस प्रशान्त महासागर में एक ऐसी बन्दरगाह बनाना चाहता था, जो सरदियों में भी जमने नहीं पाए। जापान रूस की इस ज्यादती को सहन नहीं कर सका। सन् १६०४ में अंग्रेज़ी सहायता का आश्वासन पाकर जापान ने रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। संसार को यह जान कर भारी अचम्भा हुआ कि उस युद्ध में जापान विजयी हो गया। उन दोनों बन्दरगाहों तथा रेलवे लाइन पर अब जापान का अधिकार हो गया।

गत महायुद्ध के बाद का जापान—सन् १६०४ में रूस को हरा कर जापान पूर्व की सब से बड़ी शक्ति बन गया। इधर सन् १६१४ के विश्वव्यापी महायुद्ध में कोई भाग न लेकर भी

जापान संसार की सब से महान् शक्तियों में गिना जाने लगा। कारण यह कि युद्ध के दिनों में जापानी व्यापार-व्यवसाय ने आशातीत उन्नति की थी। इंग्लैण्ड के साथ जापान के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण होने से जापान ने सम्पूर्ण एशिया, विशेष कर भारतवर्ष को, युद्ध के दिनों में इतना अधिक पक्का माल पहुँचाया कि उन्हीं दिनों के व्यापार-व्यवसाय से जापान को २०,००,००,००,००,००० डौलर का लाभ हुआ। महायुद्ध के बाद शान्ति-परिषद् में भी जापान को शाण्टुंग तथा कतिपय अन्य-प्रदेश मिले। राष्ट्रसंघ ने जापान की गणना संसार की सर्वश्रेष्ठ ६ शक्तियों में की।

जापान की वृद्धि—जापान की आबादी बहुत तेज़ी से बढ़ रही है। सन् १८४६ में जापान की आबादी २,६०,००,००० थी और सन् १६३० में वह आबादी बढ़कर ५,६०,००,००० हो गई। प्रति वर्ष जापान की आबादी में ८ लाख व्यक्तियों की वृद्धि हो जाती है। इस में सन्देह नहीं कि जापान की भूमि बहुत उपजाऊ है, परन्तु इस भूमि का विस्तार इतना कम है कि जापान की बढ़ती हुई जन-संख्या का पालन-पोषण उस से नहीं हो सकता। देश की सम्पूर्ण प्राप्तव्य भूमि पर वहां खेती-बाड़ी की जारही है, इस से कृषियोग्य नई भूमि प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं है। इस में सन्देह नहीं कि गत महायुद्ध से जापान को भारी आर्थिक लाभ पहुंचा था, परन्तु युद्ध की परिस्थितियां युद्ध के बाद नहीं रहीं। युद्ध के बाद जापानी माल की मांग, अन्य देशों का माल बाज़ार में आ जाने से, कम हो जाना स्वाभाविक था।

जापानियों के पास अपने विस्तार के लिए भी कोई जगह नहीं थी। कोरिया की आबादी पहले ही बहुत घनी है। नए

महाद्वीपों, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड आदि में जापानियों के प्रवेश पर काफ़ी प्रतिबन्ध लगा दिए गए थे। वैसे भी जापानी लोग अपने फल फूलों से भरे हुए देश को छोड़ कर बाहर जाकर बसना पसन्द नहीं करते।

इन परिस्थितियों में, जापान की बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने का एक उपाय यह था कि उसे 'पूर्व का कारख़ाना' बना दिया जाय। जापानियों ने इस बात के लिए प्रयत्न भी किया, परन्तु जापान में कोइले और लोहे की जो कमी है, उस के कारण जापान का पूर्ण व्यवसायीकरण अत्यन्त कष्ट-साध्य है। रेशम को छोड़ कर शेष सभी कच्चा माल उसे विदेशों से लेना पड़ता है। अमेरिका और भारतवर्ष से वह रूई ख़रीदता है, आस्ट्रेलिया से ऊन और डच साम्राज्य से तेल। इस का अभिप्राय यही था कि यदि अमेरिका या अंग्रेज़ी साम्राज्य जापान का बहिष्कार कर दें, तो वह तबाह हो जाय। जापानियों को यह स्थिति असह्य जान पड़ी।

राजनीतिक दल—जापान के सभी राजतीतिक दल इस बात से सहमत थे कि जापान को बहुत बड़े पैमाने पर व्यवसाय-प्रधान देश बनाने की आवश्यकता है। परन्तु साधनों के सम्बन्ध में उन में मतभेद था। सैयुकाई दल, जिसे कुछ अंश तक अनुदार दल कहा जा सकता है, चाहता था कि पहले आन्तरिक व्यापार को उन्नत किया जाय और इस के लिए सरकार कृषि और व्यवसाय को आर्थिक सहायता दे। मिन्सीतो दल, इंग्लैण्ड के पुराने उदार दल के समान, अपने विदेशी व्यापार को उन्नत करना चाहता था, आन्तरिक व्यापार के सम्बन्ध में वह अधिकतम

मितव्ययता का पक्षपाती था। सेना के नेता, जो अत्यन्त प्रभावशाली होने पर भी किसी राजनीतिक दल में संगठित नहीं थे, और जिन्हें "कैम्प" के नाम से पुकारा जाता था, उपर्युक्त दोनों बातों के विरुद्ध थे। उन की राय थी कि व्यापार-व्यवसाय ये सब झमेले की बातें हैं। हमें अपनी सैन्य-शक्ति बढ़ा कर दिग्विजय करनी चाहिए। यह पहले ही कहा जा चुका है कि 'कैम्प' पर राजनीतिक दलों का कोई अधिकार नहीं था।

चाहिये तो यह था कि जापान के दोनों राजनीतिक दल मिलकर कैम्प का विरोध करते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। बात यह थी कि जापान के राजनीतिक दल वास्तव में कुछ विभिन्न कुलीन और धनी परिवारों के हाथ में थे और वे लोग सम्पूर्ण राजनीति को अपने व्यक्तिगत हितों की दृष्टि से देखते थे। सन् १८६७ की राज्यक्रांति के बाद जापान के कुछ प्रभावशाली कुलीन युवक सैनिक अफसर बन गये थे। कुछ व्यापार-व्यवसाय करने लगे थे। क्रमशः जापान के आर्थिक जीवन पर इन्हीं कुलीनों का नियन्त्रण हो गया था। मित्सुई परिवार इनमें सब से अधिक प्रमुख था। सैयुकाई दल पर इसी परिवार का प्रभाव था। मित्सुबीशो परिवार की भी अत्यधिक महत्ता थी, मिन्सीतो दल पर उसका नियन्त्रण था। मित्सुबीशी परिवार के व्यवसाय—जहाज़ बनाना, एंजीनियरिंग, जहाज़ी बीमा, हवाई जहाज़ बनाना आदि थे। इस तरह युद्ध की दशा में इस परिवार के लोगों को अधिक लाभ होने की सम्भावना थी, इस से मिन्सीतो दल 'कैम्प' की राय का विरोध नहीं कर सकता था।

सन् १६१८ की परिस्थितियों ने कैम्प के उद्देश्यों को बहुत बड़ी सहायता दी। उन दिनों फ्रांस और इंग्लैण्ड ने बोल्शेविक

रूस के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया था। इंग्लैण्ड ने इस कार्य के लिये जापान को भी निमन्त्रण दिया। जापान को और चाहिये ही क्या था, उसके ज़िम्मे जितनी सेना लगाई गई थी, उस से भी अधिक सेना जापान ने रूस से लड़ने के लिये भेजी थी। पूर्वीय चीनी रेलवे रूस की सम्पत्ति था। जापान ने बहुत शीघ्र उस पर अपना अधिकार कर लिया। साइबेरिया के थोड़े-से पूर्वीय भाग को भी जापान ने जीत लिया। इन विजयों से जापान की महत्वाकांक्षा बहुत बढ़ गई। वह सम्पूर्ण रूस को हराने और चीन के व्यापार-व्यवसाय पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित करने के स्वप्न लेने लगा।

वाशिंगटन कान्फ्रैंस—परन्तु बहुत शीघ्र अमेरिका ने जापान के ये सुखस्वप्न भंग कर दिए। जापान उन दिनों अपने जहाज़ों की संख्या बढ़ा रहा था, परन्तु वह इस दृष्टि से अमेरिका का मुकाबला कर ही न सकता था, क्योंकि अमेरिका के स्रोत अनन्त हैं। जापान को प्रशान्त महासागर में जर्मन उपनिवेश मिले, उन से अमेरिका असन्तुष्ट हो गया। अब अमेरिकन सरकार ने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया कि उसे चीन में जापान का प्रभुत्व बढ़ाना पसन्द नहीं है। चीन के सम्बन्ध में अमेरिका की नीति मुक्तद्वार व्यापार की थी। परन्तु जापान की २१ मांगें चीन पर जापान का भारी प्रभुत्व स्थापित करना चाहती थीं।

सन् १९२१ में परिस्थिति बहुत पेचीदा हो गई और यह सम्भावना होने लगी कि जापान और अमेरिका में बहुत शीघ्र युद्ध छिड़ जायगा। तब अमेरिकन राष्ट्रपति ने नौ राष्ट्रों की एक

कान्फ्रैंस वाशिंगटन में बुलाई। काफ़ी सोच-विचार के बाद जापान ने इस कान्फ्रैंस में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

वाशिंगटन कान्फ्रैंस के परिणामस्वरूप जापान, इंग्लैंड और अमेरिका के सम्पूर्ण जहाज़ों का अनुपात इस प्रकार रखने का निश्चय हुआ—३ : ५ : ५। जापान ने चीन के सम्बन्ध में मुक्तद्वार व्यापार की नीति स्वीकार कर ली। इसी वाशिंगटन की सन्धि के परिमाणस्वरूप जापान ने चीन को शान्तुंग का प्रदेश वापस कर दिया, साइबेरिया से अपनी फ़ौज वापस बुला ली और अपनी सेना की संख्या ६० हज़ार तक सीमित करने का वचन दे दिया। जापान के इस व्यवहार से सम्पूर्ण संसार का लोकमत बहुत अधिक प्रभावित हुआ। श्री एच० जी० वैल्स ने तो यहां तक लिखा कि—"वाशिंगटन कान्फ्रैंस की सफलता का अधिकांश श्रेय जापान को है। यूरोप के लोगों को जापान के सम्बन्ध में अब तक अत्यन्त भ्रान्त धारणा थी। वास्तव में जापानी बहुत समझदार, अवसरदर्शी और युक्तियुक्त लोग हैं। पश्चिम के राष्ट्र जापान के साथ पूर्ण सहयोग से कार्य कर सकते हैं।"

भूकम्प—सन् १९२३ में जापान के सब से अधिक घनी आबादी वाले भाग में जो भयंकर भूकम्प आया, उस की गणना संसार के सब से अधिक विनाशकारी भूकम्पों में की जाती है। इस भूकम्प में १,६०,००० जापानी मारे गए। लगभग ७ अरब रुपयों की सम्पत्ति नष्ट हो गई। जापान की राजधानी टोकियो एक तरह से नष्ट-भ्रष्ट-सा हो गया। नगर के अनेक भाग ईंटों और पत्थरों के दुर्निवार और भयानक ढेरों में परिणत हो गए। सारा जापान

और उस के साथ ही साथ सम्पूर्ण संसार इस दैवीय विपत्ति से सन्न-सा रह गया।

परन्तु जापान अपनी इस क्षतिपूर्ति में जी-जान से जुट गया। सात ही सालों में जापानियों ने अपनी राजधानी का पहले से भी अधिक सुन्दर रूप में पुनर्निमाण कर दिया।

भयानक विचार—जापान ने अपनी भौतिक क्षति को तो बहुत शीघ्र पूरा कर लिया, परन्तु भूकम्प ने उन के मनोविज्ञान पर जो प्रभाव डाला था, वह दूर न हो सका। भूकम्प के धक्के ने जापानियों के स्वभाव को क्षणिक उत्तेजनाओं से पूर्ण बना दिया। उन की राजधानी की भूमि के समान के उन के सामाजिक जीवन में भी बड़े बड़े फटाव पड़ गए। जापान के राष्ट्रीय जीवन में गहरी अशान्ति व्याप्त हो गई।

जापान का व्यवसाय तो निस्सन्देह समृद्ध हो गया था, परन्तु वहां मज़दूरों की दशा पहले से भी बिगड़ गई थी। बहुत से मज़दूरों के पास रहने तक को कोई जगह न थी और वे कारख़ानों में ही सोते थे; बाकी मज़दूर अत्यन्त सड़े-गले मोहल्लों में रहते थे और व्यावसायिक नगर इस तरह के गन्दे मोहल्लों से भरे पड़े थे। कगावा नाम के एक प्रचारक ने मज़दूरों को संगठित करना शुरू किया। वे हड़तालें करने लगे। बहुत शीघ्र जापानी मज़दूरों और जापानी नवयुवकों में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। बहुत से जापानी विद्यार्थी कार्लमार्क्स के भक्त बन गए। सैयुकाई सरकार ने समाजवाद के प्रचार को रोकने का अधिकतम प्रयत्न किया। उनका कहना था कि समाजवाद के विचार अत्यन्त 'भयानक विचार' हैं।

परन्तु सन् १६२४ में इंग्लैण्ड में मज़दूरदल की विजय से जापान के मज़दूर आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। उसी वर्ष जापान में भी नए निर्वाचन होने थे। मज़दूरदल के आन्दोलन से इस निर्वाचन में सैयुकाई दल हार गया और कातो के नेतृत्व में मित्सुबीशी दल विजयी हो गया। कातो ने सम्पूर्ण जापानी पुरुषों को मताधिकार दे दिए। मज़दूरों को तब तक मत देने का अधिकार नहीं था। इसके साथ ही साथ कातो ने घोषणा की कि वह मज़दूरों की दशा सुधारने के लिए नए कानून बनाएगा। परन्तु व्यवहार में जापानी पार्लियामैंट ने एक 'शान्ति रक्षा' नामक नया कानून पास किया, जिसके अनुसार शासन विधान और व्यक्तिगत जायदाद की प्रथा को नष्ट करने का प्रयत्न करने पर प्राणदण्ड देने की सज़ा घोषित कर दी गई। इस कानून का उद्देश्य भी 'भयानक विचारों' को रोकना था।

व्यावसायिक उन्नति—इस तरह के दमन के साथ ही साथ मित्सुबीशी सरकार ने जापानी मज़दूरों की दशा सुधारने का गम्भीर प्रयत्न किया। कातो के प्रधान-मन्त्रित्व में जापान का कपड़े का व्यवसाय इतना उन्नत हो गया कि संसार में लंकाशायर के कपड़े की मांग बहुत कम हो गई। जापान का कपड़ा इतना सस्ता था कि लंकाशायर के सैंकड़ों कारख़ाने, जापानी प्रतिस्पर्धा के कारण, बन्द कर देने पड़े।

शान्ति की नीति—सन् १६२२ से लेकर १६३० तक जापान में शान्ति की नीति की प्रधानता रही। यद्यपि इन १० बरसों में भी जापान का सैनिक बजट उसके पूर्ण बजट का १८ से लेकर ४८ प्रतिशत तक रहा। तथापि जापान ने दस बरसों में

कोई लड़ाई नहीं लड़ी। इस अरसे में अनेक बार जापान को लड़ाई के लिए उग्ररूप से उत्तेजित भी किया गया। परन्तु जापान लड़ने को तैयार नहीं हुआ। अमेरिका ने इन्हीं दिनों जापानी बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया, शंघाई में इन्हीं दिनों जापानी राजदूत भवन के निवासियों की हत्या हुई, परन्तु फिर भी जापान ने लड़ाई नहीं लड़ी।

सैयुकाई दल और कैम्प के फ़ौजी नेता मित्सुबीशी सरकार की इस नीति से बहुत खिन्न हो उठे। उन्होंने अनेक तरह से इस बात के लिए आन्दोलन किया कि जापान को रूस के विरुद्ध संगठित होने की आवश्यकता है। रूस ने अब साइबेरिया के पूर्वीय किनारे तक रेल की दोहरी लाइन बना दी थी। सन् १६३० में लण्डन में अंग्रेज़ी प्रधानमन्त्री श्री रैम्ज़े मैकडानल्ड के द्वारा बुलाई गई कान्फ्रैंस ने प्रत्येक देश के सैनिक जहाज़ों की जो संख्या निश्चित की थी, उसे जापानी प्रतिनिधियों ने तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु जापान के प्रधानमन्त्री ने, अपने मन्त्रिमण्डल की सलाह से, स्वीकार कर लिया। फ़ौजी नेता इस बात से अत्यन्त क्रुद्ध हो गए और उपर्युक्त घटना के केवल दो सप्ताह बाद नवम्बर १६३४ में जापानी प्रधानमन्त्री की हत्या कर दी गई।

आर्थिक क्रान्ति—सन् १६३० में संसार की आर्थिक क्रान्ति का अत्यन्त व्यापक प्रभाव जापान पर पड़ा। जापान का विदेशी व्यापार घट कर पहले से केवल $\frac{1}{3}$ रह गया। संसार के और किसी देश पर आर्थिक क्रान्ति का प्रभाव इतना घातक न पड़ा होगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जापान की आबादी अपने क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत अधिक है। वहां के ५० प्रतिशत

निवासियों का निर्वाह कृषि पर होता है। अधिकांश किसानों के पास बहुत छोटे-छोटे खेत हैं। ये खेत उपजाऊ तो अवश्य हैं, परन्तु उन का आकार इतना छोटा है कि एक खेत से एक किसान परिवार का निर्वाह नहीं हो सकता। अपनी आय की इस कमी को जापानी किसान अपने खेतों के एक भाग में रेशम के कीड़े पाल कर पूरा करते थे। सन् १६३० में एक दिन सहसा उन किसानों को बताया गया कि उन के रेशम के कीड़ों का अब कोई ख़रीदार नहीं रहा। जब उन्हों ने पूछा कि ऐसा क्यों हुआ, तो उन्हें बताया गया कि अमेरिकन लोगों को सट्टेबाज़ी में इतना नुक्सान हुआ है कि उन के पास विदेशों से कुछ भी ख़रीदने के लिए धन बाकी नहीं रहा। उधर किसानों की अन्य उपज, विशेषत: चावल, के दाम भी एकदम गिर गये थे।

नगर निवासियों की दशा भी कुछ अच्छी नहीं थी। उन का आर्थिक जीवन मुख्यत: ३ व्यवसायों पर निर्भर था—जहाज़रानी, रेशम, और सूती माल। इस आर्थिक क्रान्ति के दिनों में माल का सामुद्रिक यातायत बहुत कम हो गया और रेशम तथा रूई के माल का बहिष्कार कर दिया और भारतवर्ष आदि में जापानी माल पर तटकर बढ़ा दिया गया।

प्रतिक्रिया—दस बरसों तक जापान ने अत्यन्त शान्तिमय और ईमानदारी के उपायों से अपना आर्थिक निर्माण करने का जो प्रयत्न किया था, वह इस आर्थिक क्रान्ति पर आकर फ़ेल हो गया। जापानी जनता का अब यह विश्वास हो गया कि शायद उनके सैनिक नेता ही ठीक कहते थे। परिणाम यह हुआ कि जापान ने अपनी नीति आमूलचूल परिवर्तन करने का निश्चय कर लिया। शान्ति की प्रतिक्रिया युद्धों के रूप में प्रारम्भ हुई।

मंचूरिया पर आक्रमण—१८ सितम्बर १९३१ को दक्षिण मंचूरियन रेलवे पर एक शक्तिशाली बम फटा और इस बम ने घोषित कर दिया कि जापान ने मंचूरिया पर चढ़ाई कर दी है। बिना किसी तरह का नोटिस दिए, बिना युद्ध की घोषणा किए, जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और चांग-सुह-लिआंग को मंचूरिया की राजधानी से भगा दिया।

जापान के इस आक्रमण के समाचार को संसार ने आश्चर्य के साथ सुना। यद्यपि इस तरह अन्य राष्ट्रों को, बिना किसी कारण और बिना किसी उत्तेजना के हड़प कर जाने का सिलसिला सम्पूर्ण उन्नीसवीं सदी में जारी रहा था। उन्नीसवीं सदी में एशिया अफ्रीका, मध्य अमेरिका तथा दक्षिण अमेरिका आदि के बहुत से प्रदेशों पर संसार के शक्तिशाली राष्ट्रों ने अधिकार कर लिया था। परन्तु अब १९३१ में यह परिवर्तन आ गया था कि अब तक एक राष्ट्रसंघ का भी निर्माण हो चुका था।

जापान ने जब मंचूरिया पर आक्रमण किया, तब जैनेवा में राष्ट्रसंघ का अधिवेशन हो रहा था और इस अधिवेशन में चीन तथा जापान दोनों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। राष्ट्रसंघ ने जापान को इस बात की आज्ञा दी कि १६ नवम्बर तक वह अपनी सेनाएं मंचूरिया से हटा ले। परन्तु जापान ने राष्ट्रसंघ की इस आज्ञा पर कोई ध्यान नहीं दिया। १६ नवम्बर को उन्होंने मंचूरिया का एक और महत्वपूर्ण नगर जीत लिया। और उसके बाद एक वर्ष के भीतर ही जापान ने मंचूरिया पर अपना अधिकार जमा लिया। जापानी सरकार ने अब मंचूरिया का नाम बदल कर 'मंचुकूओ' कर दिया।

शंघाई का युद्ध—चीन और जापान के पारस्परिक सम्बन्ध अब बहुत कटु हो गए थे। चीनी लोगों ने जापान का आर्थिक बहिष्कार कर दिया था। इस आर्थिक बहिष्कार को दूर करने के लिए जापानी सरकार ने शंघाई अन्तर्राष्ट्रीय उपनिवेश में रहने वाले चीनियों को दण्डित करने का निश्चय किया। शंघाई की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ ५ बन्दरगाहों में की जाती है। इस नगर में १० लाख चीनी रहते हैं। चीन में व्यापार-व्यवसाय करने वाले १६ राष्ट्रों के विदेशी लोग मुख्यतः शंघाई में ही रहते हैं और उन्हीं के द्वारा संगठित एक सरकार के अधीन शंघाई का शासन है। जापान ने एक जहाज़ी बेड़ा चीनियों को डराने के लिए भेजा, परन्तु चीनी डरे नहीं। तब जापानियों ने चीनियों पर बम फैंके, परन्तु चीनियों ने बड़ी वीरता दिखाई और सम्मुख युद्ध में जापानी फ़ौजों को हरा दिया। लाचार होकर जापान को चीन से सन्धि कर लेनी पड़ी। मई १६३२ में जापानी फ़ौजों ने शंघाई से प्रस्थान कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार जापान को यह अधिकार प्राप्त नहीं था कि वह युद्ध के उद्देश्य से शंघाई में अपनी फ़ौजें लाकर रक्खे, और जापान २५००० सेना, ४० जंगी जहाज़ और २०० जंगी हवाई जहाज़ वहां ले आया था। इसका परिणाम यह हुआ कि संसार का लोकमत जापान के और भी अधिक विरुद्ध हो गया।

जापान और रूस—संसार के जनमत की उपेक्षा कर जापान आक्रमण और दिग्विजय के मार्ग पर अग्रसर होता चला गया। वहां अब सैनिक नेताओं का ही शासन स्थापित होगया। मंचूरिया की विजय के बाद जापान को रूसी आक्रमण का भय

प्रतीत हुआ। जापानी नेताओं का विश्वास था कि जापान की सुरक्षा के लिए उन्हें अपने को रूसी भय से मुक्त कर लेना चाहिए। सन् १६३५ में जापान ने राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र दे दिया। जापान की राष्ट्रीय आय का आधे से अधिक भाग अब सैनिक कामों पर व्यय हो रहा था, इस से संसार को आशा थी कि सन् १६३६ में जापान अवश्य ही रूस पर आक्रमण कर देगा।

चीन पर आक्रमण—परन्तु जापानी फ़ौजी नेता एक और ही बात की ताक में थे। मंचूरिया के चीन से छिन जाने के बाद चीन में जापानियों के विरुद्ध तीव्र घृणा की भावना उत्पन्न हो गई थी और सम्पूर्ण चीन जापान से बदला लेने के लिए उतावला हो रहा था। सन् १६३७ में जब चीन अपने सम्पूर्ण आन्तरिक भेदभाव भूल कर जापान से लोहा लेने को तैयार हो गया, तो जापान ने स्वयं चीन पर आक्रमण कर दिया।

शुरू-शुरू में जापान का उद्देश्य सम्पूर्ण चीन पर आक्रमण करने का नहीं था। जापानी सरकार मंचूरिया तथा चीनी समुद्र के निकट के कुछ महत्वपूर्ण भाग ही लेना चाहती थी। परन्तु चांग-काई-शेक की अध्यक्षता में जब चीन ने जापान की किसी मांग को स्वीकार नहीं किया, तब जापान ने चीन सरकार के विरुद्ध ही युद्ध की घोषणा कर दी। जैसा कि चीन के अध्याय में कहा जा चुका है, संसार के बहुत से प्रमुख राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त होने पर भी चीन जापान की उन्नत सैन्य शक्ति का मुकाबला आसानी से नहीं कर सका और चीन के अनेक महत्वपूर्ण नगर, पेकिंग, कैण्टन, हैंको, टिन्स्टिन आदि, और बड़े-बड़े महत्वपूर्ण प्रान्त अब तक जापान के हाथ में आ चुके हैं। चीनी सरकार

अब पश्चिमीय चीन के एक छोटे-से नगर में स्थापित है । फिर भी चीनी लोग अभी तक हताश नहीं हुए और चांग-काई-शेक के नेतृत्व में वे वीरतापूर्वक जापानी आक्रमण का सामना कर रहे हैं ।

रूस से विग्रह और सन्धि—सन् १९३८ में, जापान ने यह अनुभव किया कि मंचूरिया के सीमाप्रान्त पर, रूसी उकसाहट से विद्रोह की भावना उत्पन्न हो रही है । जापान ने अपनी ३,००,००० सेना रूसी आक्रमण को रोकने के लिए भेज दी । यद्यपि रूस और जापान में कभी खुल कर लड़ाई नहीं हुई, तथापि दोनों ओर से छोटे-मोटे आक्रमण होते ही रहे । विकट लड़ाई न होने पर भी दोनों राष्ट्रों की सेना बहुत अधिक संख्या में ट्रैन्स-साइबेरियन तथा मंचुकूओ सीमाप्रान्त पर पड़ी थी । रूस के इस कार्य के द्वारा चीन को बड़ी सहायता पहुंच रही थी । क्योंकि चीनी युद्ध में जापान अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सकता था । सितम्बर १९३९ में रूस और जापान में एक अस्थायी सन्धि हो गई, जिसके अनुसार दोनों देशों ने एक दूसरे पर धावे करने बन्द कर दिये हैं । अभी तक दोनों देशों में बातचीत जारी है ।

वर्तमान महायुद्ध के दिनों में संसार के सभी राष्ट्रों का ध्यान अपनी-अपनी समस्याओं और सुरक्षा की ओर केन्द्रित हो गया है, इस से चीन और जापान का युद्ध अब बहुत अंशों तक स्थानीय दिलचस्पी की चीज़ रह गया है, यद्यपि उस का महत्व कम नहीं है ।

———

सातवां अध्याय

वर्तमान महायुद्ध

रूस और जर्मनी में सन्धि—सन् १९३९ के प्रारम्भ से अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ इस बात का प्रयत्न कर रहे थे कि इंग्लैण्ड और रूस में एक सन्धि स्थापित कर ली जाय। इंग्लैण्ड के कुछ प्रतिनिधि इस काम के लिए रूस में गए भी हुए थे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रूस के विरुद्ध जर्मनी, इटली और जापान ने एण्टी-कोमिण्टरन पैक्ट के नाम से एक समझौता किया हुआ था। जर्मनी और इटली में रूसी सरकार को खुले आम और सरकारी तौर पर गालियां दी जाती थीं। इस परिस्थिति में अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों को इस बात का पूर्ण विश्वास था कि जर्मनी के बढ़ते हुए ख़तरे से अपनी रक्षा करने के लिए रूस अवश्य ही इंग्लैण्ड का सहयोग चाहेगा।

परन्तु २५ अगस्त १९३९ को बर्लिन के ब्रौडकास्टिंग स्टेशन से सरकारी तौर पर यह घोषणा की गई कि जर्मनी और रूस के बीच बीस वर्षों के लिए एक घनिष्ट आर्थिक तथा तटस्थता की सन्धि हो गई है। संसार इस समाचार की सत्यता पर विश्वास करने को तैयार नहीं था कि अगले ही दिन मास्को से भी उपर्युक्त समाचार की पुष्टि हो गई और संसार को इस आर्थिक सन्धि की शर्तें भी मालूम हो गईं। इस सन्धि की मुख्त शर्तें ये थीं— रूस और जर्मनी एक दूसरे से मित्रतापूर्ण व्यवहार रक्खेंगे। दोनों देश एक दूसरे को ८० अरब रूबल तक का क्रेडिट देंगे। दोनों देश एक दूसरे को परिवर्तन में विभिन्न आवश्यकताओं का माल दिया करेंगे। अगर कोई देश जर्मनी या रूस पर आक्रमण करेगा, तो उस देश को किसी तरह की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता नहीं दी जायगी।

उक्त सन्धि सम्पूर्ण संसार को एक बहुत बड़े अचम्भे के समान प्रतीत हुई। उक्त सन्धि के साथ ही साथ दोनों देशों में कतिपय अन्य समझौते भी हुए थे, जिन का परिचय बाद में जाकर मिला। रूस और जर्मनी की उक्त सन्धि से संसार का राजनीतिक वातावरण बहुत ही विक्षुब्ध हो गया। सभी राष्ट्र समझ गए कि युद्ध अब सिर पर है।

डैन्ज़िग और कौरीडौर की समस्या—जैसा कि प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है, गत महायुद्ध के बाद डैन्ज़िग को एक स्वतन्त्र नगर बना दिया गया था, परन्तु उसके बन्दरगाह पर पोलैण्ड का अधिकार रक्खा गया। पोलैण्ड के पास और कोई बन्दरगाह न होने से डैन्ज़िग के बन्दरगाह पर उसका

अधिकार रखना ज़रूरी समझा गया था। डैन्ज़िग को पोलैण्ड से मिलाने के लिए २६० मील लम्बा और लगभग ८० मील चौड़ा एक भाग, जो गत महायुद्ध तक जर्मनी के पास था, पोलैण्ड को दे दिया गया था। यह भाग कौरीडोर (बरामदा) के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रदेश के छिन जाने से जर्मनी और पूर्वीय प्रशिया एक दूसरे से पृथक् हो गए। जर्मनी को यह बात बहुत खटकी कि पूर्वीय प्रशिया और जर्मनी के बीच का प्रदेश पोलैण्ड को क्यों दिया गया है। परन्तु मित्रराष्ट्रों ने यह कार्य यों ही नहीं किया था। बात यह थी कि इस कौरीडोर में आधे से अधिक आबादी पोल लोगों की है। कम से कम गत महायुद्ध के बाद कौरीडोर में जो निर्वाचन हुए थे, उन में पोल प्रतिनिधियों को ही अधिक वोट मिले थे। डैन्ज़िग में जर्मन लोगों की बहुत बड़ी संख्या थी। वहां की ६० प्रतिशत आबादी जर्मन थी। इससे डैन्ज़िग नगर पोलैण्ड को नहीं दिया गया था, केवल बन्दरगाह और तटकर आदि जमा करने के अधिकार पोलैण्ड को दिए गए थे। जर्मनी से पूर्व-प्रशिया को मिलाने के लिए जर्मनी को यह अधिकार दे दिया गया कि वह कौरीडोर पर कुछ रेलवे लाइनें बना सकता है।

सितम्बर १६३८ में हिटलर ने घोषणा की थी कि अब यूरोप में वह कोई और दावा पेश नहीं करेगा। सन् १६३४ में हिटलर ने पोलैण्ड के साथ १० वर्षों के लिए एक सन्धि की थी। इस सन्धि के अनुसार जर्मनी को कौरीडोर पर २० सड़कें बनाने का अधिकार मिल गया। इस सन्धि से कम से कम १० वर्षों तक दोनों देशों में मित्रता के सम्बन्ध रहने की आशा थी।

यद्यपि डैन्ज़िग में जर्मनों का बहुमत देख कर पोलैण्ड ने कौरिडोर के डीनिया नामक स्थान पर २ करोड़ पाउण्ड के व्यय से एक बहुत अच्छा नया बन्दरगाह तैयार कर लिया था, तथापि पोल लोगों को कभी इस बात की आशा नहीं थी कि हिटलर उनके साथ की हुई सन्धि को तोड़ने का प्रयत्न करेगा।

सन् १९३९ के प्रारम्भ में हिटलर ने पोलैण्ड से यह मांग की कि वह डैन्ज़िग और कौरीडोर जर्मनी को वापस कर दे। मध्य यूरोप के अन्य देशों में रहने वाले जर्मनों की देखादेखी डैन्ज़िग में एक ज़बरदस्त नाज़ी संगठन स्थापित हो गया था और कौरीडोर के जर्मन भी अपने पर होने वाले कथित अत्याचारों की पुकार मचाने लगे थे।

इंग्लैण्ड और फ्रांस का आश्वासन—अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को विषम होता हुआ देख कर फ्रांस और इंग्लैण्ड की सरकारों ने विदेशी मामलों में एक ही नीति स्वीकार करने का निश्चय कर लिया। अब दोनों देशों ने घोषणा की कि पोलैण्ड को राष्ट्रसंघ से कौरीडोर दिलवाने का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। यदि कोई राष्ट्र डैन्ज़िग की स्वाधीनता अथवा कौरीडोर पर आक्रमण करेगा तो फ्रांस और इंग्लैण्ड उस राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध घोषित कर देंगे। इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे शक्तिशाली राष्ट्रों से आश्वासन पाकर पोलैण्ड का साहस खूब बढ़ गया।

अगस्त १९३९ के प्रारम्भ में हिटलर ने पोलैण्ड को नोटिस दिया कि वह बहुत शीघ्र डैन्ज़िग और कौरीडोर का प्रान्त

जर्मनी के अधीन कर दे, अन्यथा जर्मनी पोलैण्ड पर आक्रमण कर देगा। अगस्त मास के अन्त में नूरम्बर्ग में नाज़ी दल का वार्षिक उत्सव होना था। संसार को आशा थी कि उस दिन हिटलर पोलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देगा और उक्त घोषणा का अभिप्राय यह होगा कि फ्रांस और इंग्लैण्ड भी जर्मनी से युद्ध प्रारम्भ कर दें। उधर डैन्ज़िग में जर्मन जाति के नाज़ी स्वयंसेवक इतना उग्ररूप धारण करते जा रहे थे कि नगर के आसपास तथा कौरीडोर के प्रान्त में जर्मन और पोल लोगों में प्रतिदिन लड़ाई-दंगा होने लगा था। परिस्थिति दिन प्रति-दिन गम्भीर होती चली जा रही थी।

चेम्बरलेन और हिटलर का पत्र-व्यवहार— २० अगस्त १९३९ को इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री मि० चेम्बरलेन ने हिटलर के पास इस आशय का एक पत्र भेजा कि इंग्लैण्ड ने पोलैण्ड को जो वचन दे रक्खा है, उसे दृष्टि में रख कर हिटलर को चाहिए कि वह डैन्ज़िग और कौरीडोर की समस्या का समाधान अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर न करे, पारस्परिक समझौते से करने का प्रयत्न करे। इस के साथ ही चेम्बरलेन ने यह भी प्रस्ताव किया कि जब तक उक्त समस्याओं का निर्णय न हो जाय, जर्मन सैनिकों को धैर्य और शान्ति से काम लेना चाहिए। अन्यथा कलह की ये चिंगारियां भयंकर अग्निकाण्ड का रूप धारण कर सकती हैं।

२३ अगस्त को हिटलर ने चेम्बरलेन के उपर्युक्त पत्र का यह जवाब दिया, कि :—

१. जर्मनी को इंग्लैण्ड से कोई कलह नहीं है, वह तो इंग्लैण्ड के साथ मित्रता बना कर रखना चाहता है।

२. डैन्ज़िग एक जर्मन नगर है और कौरीडोर जर्मन प्रान्त है। प्रत्येक दृष्टि से ये प्रदेश जर्मनी को वापस मिलने ही चाहिएं।

३. उपर्युक्त उद्देश्य से जर्मनी पोलैण्ड के साथ बातचीत करने को भी तैयार था, परन्तु इंग्लैण्ड के आश्वासन से पोलैण्ड की मनोवृत्ति बदल गई है।

४. इंग्लैण्ड ने पोलैण्ड को बिना किसी शर्त के जो सहायता देने का वचन दिया है, उस से प्रोत्साहित होकर पोल लोग ही डैन्ज़िग तथा कौरीडोर में अशान्ति का बीजारोपण कर रहे हैं।

५. इंग्लैण्ड की सरकार का चाहे जो भी निश्चय हो, जर्मनी डैन्ज़िग तथा कौरीडोर के सम्बन्ध में अवश्य ही अपना कर्त्तव्य पालन करेगा। पोलैण्ड की सरकार जिस प्रकार डैन्ज़िग की नाकेबन्दी कर वहाँ के जर्मन नागरिकों को तंग कर रही है, उसे जर्मन राष्ट्र कदापि सहन नहीं करेगा।

६. यदि इंग्लैण्ड और फ्रांस इस सम्बन्ध में अपना वही रुख़ रक्खेंगे, जिस की उन्होंने घोषणा की है, तो जर्मनी भी अपनी सैन्य-शक्ति को काम में लाने से नहीं चूकेगा।

७. मैं इंग्लैण्ड तथा जर्मनी की मैत्री के लिए उत्सुक हूँ, परन्तु मैं वर्साई की अन्यायपूर्ण सन्धि की किसी बात को सहन नहीं कर सकता।

२५ अगस्त १९३९ को हिटलर ने अंग्रेज़ी राजदूत मि० हैण्डरसन के पास इस आशय का नोट भेजा कि जर्मनी संसार

में अपना साम्राज्य स्थापित नहीं करना चाहता। अभी तक तो स्थिति यह है कि—

अंग्रेज़ी साम्राज्य		४ करोड़ वर्ग किलोमीटर भूमि पर व्याप्त है,
रूस के पास		१ करोड़ ६० लाख वर्ग किलोमीटर भूमि है,
अमेरिका के पास		६५ ,, ,, ,,
जर्मनी के पास	केवल	६ ,, ,, ,,

हिटलर ने यह भी कहा कि पोलैण्ड के निवासी डैन्ज़िग और कौरीडोर के जर्मनों पर अत्याचार कर रहे हैं। २४ अगस्त की रात को इस तरह के २१ आक्रमण जर्मनों पर किए जा चुके हैं और जर्मनी अब इस स्थिति को और अधिक सहन नहीं करेगा। मि० चेम्बरलेन अभी तक जो रुख़ ले रहे हैं, उस से इंग्लैण्ड और जर्मनी में १६१४ के महायुद्ध से भी बहुत अधिक भयंकर एक और युद्ध होने की सम्भावना है।

इसी नोट में हिटलर ने यह भी कहा कि जर्मनी अब भी इंग्लैण्ड से मित्रता के भाव रखना चाहता है। डैन्ज़िग और कौरीडोर प्राप्त कर लेने के बाद, जर्मनी इंग्लैण्ड से मैत्री बनाए रख कर, उस की सहमति से, अपने उपनिवेश प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध वह कुछ भी नहीं करेगा। परन्तु इटली और रूस से भी वह मित्रता के सम्बन्ध बनाए रक्खेगा।

हिटलर के इस नोट के उत्तर में २८ अगस्त को इंग्लैण्ड की सरकार ने निम्न आशय का नोट जर्मनी में भेजा—

इंग्लैण्ड भी जर्मनी के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता है। परन्तु यह आवश्यक है कि जर्मनी इंग्लैण्ड के पोलैण्ड के प्रति दिए गए वचन को दृष्टि में रख कर पोल सरकार

के साथ इन समस्याओं के सम्बन्ध में कोई फ़ैसला कर ले। इंग्लैण्ड इस तरह का निर्णय करवाने में सब तरह की सहायता देने को तैयार है।

उसके बाद के दो दिनों में लगभग ५, ६ बार उपर्युक्त आशय का पत्र-व्यवहार इंग्लैण्ड और जर्मनी में होता रहा और उधर डैन्ज़िग तथा कौरीडोर में परिस्थिति अधिक-अधिक विषम होती चली गई।

उक्त पत्र-व्यवहार के परिणामस्वरूप ३१ अगस्त की दोपहर को हिटलर इस बात के लिए तैयार होगया कि यदि डैन्ज़िग जर्मनी को वापस दे दिया जाय, तो कौरीडोर के सम्बन्ध में जर्मनी प्लेबीसाइट करवाने को तैयार है। परन्तु पोलैण्ड के राजदूत को हिटलर के उपर्युक्त निर्णय का अभी पता भी नहीं चला था कि कुछ ही घण्टों के बाद हिटलर ने यह घोषणा कर दी कि क्योंकि पोलैण्ड के प्रतिनिधि इस बीच में उस से मिलने नहीं आए, अतः वह अब उन से बातचीत करने को तैयार नहीं है।

पोलैण्ड पर आक्रमण—१ सितम्बर को प्रातःकाल डैन्ज़िग के नाज़ी नेता फोस्टर ने यह घोषणा कर दी कि आज से डैन्ज़िग जर्मनी का भाग बन गया है। और उक्त घोषणा के साथ ही साथ जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया।

पोलैण्ड को इस आक्रमण की सम्भावना काफ़ी समय से हो गई थी। पोल लोग तैयार भी थे, अतः दोनों में घोर युद्ध प्रारम्भ हो गया। पहले ही दिन जर्मनी ने पोलैण्ड पर हवाई जहाज़ों से ६४ आक्रमण किए।

इंग्लैण्ड की चेतावनी—जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया है, यह जान कर अंग्रेज़ी सरकार ने जर्मनी को चेतावनी दी कि वह बहुत शीघ्र पोलैण्ड से अपनी सेनाएं वापस बुला ले और आक्रमण करना बन्द कर दे, अन्यथा इंग्लैण्ड पोलैण्ड के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण करने को बाधित हो जायगा।

उसी दिन फ्रांसीसी प्रधान मन्त्री दलेदियर ने भी हिटलर के पास यह सन्देश भेजा कि यदि जर्मनी आक्रमण बन्द कर दे तो फ्रांस, जर्मनी और पोलैण्ड में परस्पर कोई निर्णय करवाने में सहायता देगा। और यदि जर्मनी यह आक्रमण बन्द न करेगा तो फ्रांस को भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित करना पड़ेगा।

परन्तु हिटलर ने पूरे इरादे के साथ पोलैण्ड पर आक्रमण किया था। बड़े नाटकीय ढंग से उस ने डैन्ज़िग में प्रवेश किया। युद्ध प्रारम्भ करते ही उस ने घोषणा कर दी कि यदि मैं मारा जाऊं तो मेरा स्थान फ़ील्डमार्शल गोयरिंग लेगा और वह भी मारा जाय तो हेज़ जर्मनी का डिक्टेटर बनेगा।

इंग्लैण्ड और फ्रांस की युद्ध घोषणा—जब देखा गया कि जर्मनी पर फ्रांस और इंग्लैण्ड की चेतावनी का कोई प्रभाव नहीं हुआ तो २ सितम्बर को इंग्लैण्ड के प्रधानमन्त्री मि० चेम्बरलेन ने हिटलर के पास यह अन्तिम चेतावनी भेजी कि यदि ३ सितम्बर के प्रातःकाल ११ बजे तक जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण करना बन्द न कर दिया, तो इंग्लैण्ड जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषित कर देगा। फ्रांस ने भी ठीक यही चेतावनी जर्मनी को दी। परन्तु हिटलर ने इन चेतावनियों की कोई परवाह नहीं की और ३ सितम्बर के मध्यान्हपूर्व ११ बज कर १५ मिनट पर चेम्बरलेन

ने एलान कर दिया कि "जर्मनी ने हमारी चेतावनी पर भी पोलैण्ड से अपनी सेनाएं वापस बुलाने की घोषणा नहीं की. इस से इंग्लैण्ड और जर्मनी में युद्ध घोषित किया जाता है ।" फ्रैञ्च प्रधानमन्त्री ने भी यही घोषणा की ।

इंग्लैण्ड में युद्ध की तैयारियां पूर्णरूप से हो चुकी थीं, सम्पूर्ण नागरिकों को गैस मास्क दिए जा चुके थे, रात को वहां अन्धकार रक्खा जाता था । बमों के प्रहार से बचने के लिए बमप्रूफ़ स्थान बना दिए गए थे, युद्ध की घोषणा होते ही लण्डन के बालकों को लण्डन से बाहर भेज दिया गया ।

४ सितम्बर को जर्मनी ने इंग्लैण्ड का एक बड़ा जहाज़ डुबो दिया । उधर फ्रांस ने भी जर्मनी पर आक्रमण कर दिया । परन्तु जर्मनी का पूरा ध्यान अभी पोलैण्ड को जीतने की ओर था । पोलैण्ड के नगरों पर जर्मनी लगातार बम, विषैली गैसों तथा आग लगाने वाले अस्त्रों का प्रहार कर रहा था । इंग्लैण्ड और फ्रांस के लिए पोलैण्ड को किसी तरह की सहायता पहुँचा सकना सम्भव ही नहीं था, क्योंकि डैन्ज़िग पर तो जर्मनी का अधिकार हो ही चुका था। और बाल्टिक समुद्र के मार्ग को जर्मनी ने बन्द कर दिया था । उधर रूस एक और ही धुन में था ।

मार्जानो और सीगफ्रीड लाइनें—इंग्लैण्ड की सेनाएं फ्रांस पहुंच गईं और फ्रांस तथा अंग्रेज़ी सेनाओं ने इस उद्देश्य से जर्मनी पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया कि इस कार्य द्वारा वे शायद पोलैण्ड की यत्किंचित् सहायता कर सकें । क्योंकि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिये जर्मनी को अपनी काफ़ी सेना अपने पश्चिमीय सीमाप्रान्त पर भी भेजनी पड़ेगी । परन्तु

जहां फ्रांस की पूर्वीय और जर्मनी की पश्चिमी सीमा आपस में मिलती है, वहां दोनों देशों ने ज़बरदस्त किलेबन्दी कर रक्खी थी। इस स्थान को पश्चिमी मोर्चा (Western Front) कहा जाता है। जर्मन किलेबन्दी का नाम सीगफ्रीड लाइन था और फ्रैंच किलेबन्दी का नाम माजीनो लाइन। ये दोनों किलेबन्दियां अत्यन्त दृढ़ समझी जाती थीं। परन्तु बाद में माजीनो लाइन एकदम व्यर्थ सिद्ध हुई।

रूस का पोलैण्ड पर आक्रमण—१७ सितम्बर को संसार ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ सुना कि रूस ने अपनी ४० लाख सेना को एकत्रित होने की आज्ञा दी है और अपनी सेना का काफ़ी बड़ा भाग पोलैण्ड के सीमाप्रान्त की ओर रवाना कर दिया है। १८ सितम्बर को रूसी सेना आंधी के समान पोलैण्ड में प्रवेश कर गई। पोलैण्ड इस बात के लिए कदापि तैयार नहीं था। पोल सेना अब तक अत्यन्त वीरतापूर्वक वार्सा की रक्षा कर रही थी। पश्चिमी पोलैण्ड के अधिकांश भाग पर जर्मनी का अधिकार हो गया था। अब, जब पूर्व की ओर से रूसी सेना ने पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया तो ३ ही दिनों के भीतर, वार्सा के अतिरिक्त, शेष सम्पूर्ण पोलैण्ड पर जर्मनी और रूस ने अधिकार कर लिया। पोल सरकार भाग गई। २८ सितम्बर १९३९ तक वार्सा का भी पतन हो गया।

पोलैण्ड का विभाजन—मालूम होता है कि पोलैण्ड पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में रूस और जर्मनी में पहले ही से कोई गुप्त समझौता हो चुका था। उस समझौते के अनुसार डैन्ज़िग, सैलीशिया, कौरीडोर और वार्सा तक के पोलैण्ड पर

जर्मनी ने अपना अधिकार कर लिया और पश्चिमी यूक्रेन तथा अन्य प्रान्तों पर, जो प्रदेश गत महायुद्ध के बाद रूस से छीने गए थे, रूस ने अपना शासन स्थापित कर लिया। इस विजित प्रदेश में भी रूस ने बोल्शेविज़्म और सोविएट शासन प्रणाली जारी कर दी।

पोलैण्ड की विजय के बाद लिटविया और अस्तोनिया के बाल्टिक राष्ट्रों में रहने वाले जर्मन स्वयमेव पोलैण्ड के जर्मनी द्वारा विजित प्रदेशों में आ बसे। मालूम होता है कि यह कार्य भी रूस ने अपनी रक्षा के लिए करवाया। और यह भी दोनों देशों की गुप्त सन्धि का एक भाग था। इस से बाल्टिक राष्ट्रों पर रूस का प्रभुत्व स्थापित होगया।

रूस का फ़िनलैण्ड पर आक्रमण—रूस ने बाल्टिक राष्ट्रों में अपनी स्थिति बहुत सुरक्षित बना ली थी। परन्तु उसे फ़िनलैण्ड की ओर से अब भी भय प्रतीत होता था। फ़िनलैण्ड के कुछ भाग लेनिनग्रेड के अत्यन्त निकट हैं, मुख्यतः इन्हीं भागों तथा बाल्टिक समुद्र के कुछ महत्वपूर्ण फ़ीनिश उपद्वीपों पर रूस अपना अधिकार करना चाहता था, परन्तु फ़ीनिश सरकार इस सीमा-परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थी। एक लम्बे वाद-विवाद के बाद रूस ने १ दिसम्बर १६३६ को फ़िनलैण्ड पर आक्रमण कर दिया। फ़िनलैण्ड में उन दिनों जो भयंकर सरदी पड़ रही थी, उस के कारण रूस फ़िनलैण्ड पर अपना अधिकार काफी समय (१ फरवरी १६४०) तक नहीं स्थापित कर सका। परन्तु ३८ लाख आबादी का छोटा-सा फ़िनलैण्ड रूस जैसे शक्तिशाली देश का मुकाबला कर सकेगा, ऐसी सम्भावना किसी को भी

नहीं थी। अन्त में वही हुआ, फ़िनलैण्ड रूस का मुकाबला न कर सका।

इंग्लैण्ड, फ्रांस और टर्की में सन्धि—१६ अक्टूबर १६३६ को इंग्लैण्ड, फ्रांस और टर्की में एक सन्धि स्थापित हुई, जिसे अंग्रेज़ी राजनीति की एक महान् विजय गिना जाता है। इस से पूर्व रूस टर्की से सन्धि स्थापित करने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न कर रहा था। बाल्कन राष्ट्रों में अपनी महत्ता स्थापित करने तथा कृष्ण समुद्र की ओर से अपने को सुरक्षित करने के लिए रूस टर्की के साथ समझौता करना चाहता था। परन्तु रूस की बजाय टर्की ने मित्रराष्ट्रों की मित्रता को अधिक महत्व दिया। उक्त सन्धि की शर्तें ये थीं—यदि कोई राष्ट्र टर्की पर हमला करेगा तो फ्रांस और इंग्लैण्ड टर्की की सहायता करेंगे। यदि तीनों राष्ट्रों के मैडिटरेनियन समुद्र के किसी हित पर किसी राष्ट्र ने हमला किया, तो तीनों राष्ट्र एक दूसरे की सहायता करेंगे। बाल्कन राष्ट्रों के प्रति इंग्लैण्ड और फ्रांस के जो आश्वासन हैं, उन्हें निभाने में टर्की भी सहायता देगा। इस सन्धि का काल १५ वर्ष रक्खा गया।

इस तरह मैडिटरेनियन समुद्र की ओर मित्राराष्ट्रों ने अपनी स्थिति सुरक्षित बना ली।

सामुद्रिक युद्ध—शुरू शुरू में इंग्लैण्ड और जर्मनी में जो युद्ध हुआ, वह सामुद्रिक ही था। युद्ध से पहले जर्मनी ने पनडुब्बियां बनाने की ओर ही विशेष ध्यान दिया था। जंगी जहाज़ों की दृष्टि से जर्मनी इंग्लैण्ड का मुकाबला कदापि नहीं कर सकता, परन्तु उसकी पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्रों के जहाज़ों, विशेष

कर इंग्लैण्ड के जहाज़ों, को डुबोने में आंशिक सफलता प्राप्त की। इंग्लैण्ड की जलसेना ने जर्मन पनडुब्बियों को खोज-खोज कर नष्ट करना शुरू किया और शीघ्र जर्मन पनडुब्बियों की मुसीबत से छुटकारा पा लिया। परन्तु नवम्बर १९३९ के अन्त में जर्मनी ने 'मैग्नेटिक माइन्ज़' नाम की नई माइन्ज़ का प्रयोग शुरू किया, जो हवाई जहाज़ से समुद्र में डाली जाती हैं, और स्वयं ही आसपास से आने-जाने वाले जहाज़ों से जा टकराती हैं। इन माइन्ज़ के कारण जहां बहुत-से अंग्रेज़ी जहाज़ डूबे, वहां तटस्थ देशों के जहाज़ों को भी बहुत क्षति पहुँची। इंग्लैण्ड ने बहुत शीघ्र इन माइन्ज़ को नष्ट करने का उपाय भी खोज निकाला।

वर्तमान महायुद्ध की विशेष परिस्थितियां—वायु युद्ध की महत्ता बढ़ जाने के निम्नलिखित प्रभाव हुए हैं—

१. "समुद्र में बहुत थोड़े द्वीप बाकी हैं"—युद्ध प्रारम्भ होने पर हिटलर ने बड़े सन्तोष के साथ घोषणा की थी कि अब समुद्र में बहुत कम द्वीप बाकी हैं। उस का अभिप्राय यही था कि वायुयुद्ध में अब द्वीपों को भी उतना ही ख़तरा है, जितना यूरोपियन महाद्वीप के विभिन्न राष्ट्रों को। पिछले महायुद्ध तक इंग्लैण्ड की परिस्थिति चारों ओर के समुद्र के कारण बहुत सुरक्षित थी। विशेषतः इस कारण कि इंग्लैण्ड की सामुद्रिक शक्ति बहुत उन्नत है। परन्तु अब वह बात नहीं रही। अब हवाई जहाज़ों के द्वारा इंग्लैण्ड से जर्मनी और जर्मनी से इंग्लैण्ड बहुत आसानी से तथा शीघ्र पहुँचा जा सकता है।

२. "संख्या की महत्ता कम हो गई है"—उपर्युक्त परिस्थिति का एक सीधा प्रभाव यह हुआ है कि सैनिक शक्ति की

संख्या की महत्ता पहले की अपेक्षा कम होगई है । अब नवीन शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित और आधुनिक युद्ध विद्या में प्रवीण थोड़े से सैनिक बड़ी-बड़ी सेनाओं के दांत खट्टे कर सकते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि दोनों ओर के सैनिकों की योग्यता तथा शस्त्रास्त्रों की समानता होने पर अधिक संख्या वाले राष्ट्र के विजयी होने की ही सम्भावना है। यही कारण है कि यह युद्ध बहुत महंगा सिद्ध हो रहा है। इंग्लैण्ड वर्तमान महायुद्ध पर प्रति दिन १५ करोड़ रुपया व्यय कर रहा है।

३. प्रचार का महत्व—मुख्यतः रेडियो के कारण इस महायुद्ध में नवीनतम घटनाओं के समाचार सम्पूर्ण संसार को कुछ ही घण्टों में ज्ञात हो जाते हैं, इस से प्रचार (प्रोपेगैण्डा) की महत्ता अब बहुत अधिक हो गई है। जर्मनी में डा० गौबल्स जैसा महत्वपूर्ण और उपजाऊ दिमाग़ का नाज़ी नेता 'प्रचार' का अध्यक्ष है और इंग्लैण्ड का प्रचार विभाग भी पूर्णरूप से संगठित किया जा चुका है।

विशाल रूस—फ़िनलैण्ड के पराजित हो जाने के बाद बाल्टिक समुद्र के निकट वे छोटे-छोटे राज्यों (एस्टोनिया, लिटविया और लिथुआनिया) ने स्वेच्छापूर्वक यह निश्चय किया कि वे रूसी सोविएट रिपब्लिक (यू० एस० एस० आर०) के आन्तरिक अंग बन जांय। रूस ने इस बात को स्वीकार कर लिया और मार्च १९४० में ये तीनों राष्ट्र रूस में सम्मिलित कर लिए गए। इस तरह विशाल रूस की जन-संख्या १९ करोड़ १० लाख से भी ऊपर जा पहुँची। आर्थिक दृष्टि से रूस को बहुत लाभ हुआ।

नार्वे और डैन्मार्क पर आक्रमण—सन् १६४० की बसन्त के आगमन के साथ-साथ महायुद्ध में तेज़ी आगई। ८ अप्रैल १६४० की प्रात:काल संसार ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ सुना कि जर्मन सेनाओं ने सूर्योदय से पूर्व ही डैन्मार्क और नार्वे के एक बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है। डैन्मार्क में जर्मन सेनाओं का प्रतिरोध करने का प्रयत्न ही नहीं किया गया। डेनिश सरकार ने चुपचाप आत्म-समर्पण कर दिया; परन्तु नार्वे ने, जहां तक बन सका, जर्मनी का मुकाबला करने का प्रयत्न किया। जर्मन सेनाओं के दस्ते सैलानियों का वेश धारण कर नार्वे के सुदूर बन्दरगाहों तक जा पहुंचे थे और हवाई जहाज़ों की मदद से उन्हें युद्ध सामग्री पहुंचाई जा रही थी। इंग्लैण्ड ने भी नार्वे को सहायता देने का निश्चय किया। अंग्रेज़ सेना नार्विक बन्दरगाह पर जा उतरी। शुरू-शुरू में उसे कुछ सफलता भी मिली। अंग्रेज़ी सेना को नार्वे में भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ा। २ मई १६४० को अंग्रेज़ प्रधानमन्त्री मि० चेम्बरलेन ने अंग्रेज़ी सेना के अधिकांश भाग को नार्वे से वापस बुलाने की घोषणा कर दी।

प्रधान मन्त्री मि० चर्चिल—नार्वे की इस पराजय से इंग्लैण्ड में बहुत सनसनी फैल गई और मि० चेम्बरलेन ने प्रधान-मन्त्रित्व से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर मि० चर्चिल प्रधान मन्त्री नियत हुए। मि० चर्चिल अपने साहस, स्पष्टवादिता और सुलझे हुए दिमाग़ के कारण इंग्लैण्ड में कभी अत्यन्त लोकप्रिय रहे और कभी जनता को अप्रिय। वे सदैव स्थिर और साहसपूर्ण नीति के पक्षपाती रहे। फासिज़्म और नाज़ीइज़्म

के वह शुरू ही से घोर विरोधी थे। इंग्लैण्ड की जनता ने अनुभव किया कि युद्ध के दिनों में चर्चिल जैसे साहसी नेता की आवश्यकता है।

नार्वे की पराजय के बाद अंग्रेज़ी जनता को वर्तमान महायुद्ध की गम्भीरता का पूर्ण अनुभव हुआ। शत्रु इतना प्रबल होगा, इस का अनुमान तब तक किसी को नहीं था। इंग्लैण्ड की रक्षा का गम्भीर प्रयत्न अब जाकर पूर्ण वेग से शुरू हुआ।

हालैण्ड पर आक्रमण—१० मई १६४० की प्रातःकाल ३ बजे जर्मनी की सेनाएं, लाखों की संख्या में हालैण्ड, बेल्जियम और लैक्समबर्ग के सीमाप्रान्त को पार कर गईं। जर्मनी ने इस युद्ध में नई नीति का अनुसरण किया। इस युद्ध नीति को "विद्युत-आक्रमण" (ब्लिट्ज़ क्रीग) (Blitz Crieq) कहा जाता है। विद्युत-आक्रमण में आक्रमण की प्रचण्डता और तेज़ी का महत्व बहुत अधिक है। इस के सन्मुख शत्रु, अभी परिस्थिति को समझ भी नहीं पाता कि, हार जाता है। इस नवीन युद्ध नीति में सम्पूर्ण सेना मोटरों पर सवार रहती है। पैदल या घुड़सवारों की यहां कोई क़दर नहीं। हवाई जहाज़, पैराशूटिस्ट (छतरी की सहायता से हवाई जहाज़ों से नीचे उतरने वाले सैनिक), टैंक और मोटरों पर सवार दस्तों (Motorized Divisions) की सहायता से यह युद्ध लड़ा जाता है।

हालैण्ड के निवासी सचमुच बहुत वीर हैं। परन्तु वे इस नवीन युद्ध-नीति का मुकाबला करने में असमर्थ थे। ५ दिनों में लाखों डच सैनिकों का बलिदान देकर हालैण्ड की सरकार ने आत्म-समर्पण कर दिया।

बेल्जियम का पतन—हालैण्ड की पराजय के बाद फ्रांसीसी और अंग्रेज़ सेनाओं की सहायता से बेल्जियन सेनाओं ने जर्मनी का डट कर मुकाबला किया। मौस, बज और ज़ैप नामक स्थानों पर मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने जर्मन सेनाओं के वेगवान प्रवाह को रोकने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु जर्मनी की नई युद्ध-नीति के सन्मुख उनका बस नहीं चला। २८ मई १६४० को बेल्जियन राजा ने अपने मन्त्रिमण्डल से सलाह लिये बिना आत्मसमर्पण कर दिया। उक्त युद्धों में लाखों बेल्जियन सैनिक मारे गए। युद्ध की भयंकरता इतनी अधिक थी कि तोपों का गर्जन सुदूर इंग्लैण्ड तक सुनाई देता था।

डन्कर्क की घटना—बेल्जियन राजा के इस आत्म-समर्पण का सब से अधिक हानिकर प्रभाव मित्रराष्ट्रों की सेना पर पड़ा। जर्मनी ने अपनी नई युद्ध-नीति से फ्रांस के भी कुछ भाग पर अधिकार कर लिया था। इस से मित्रराष्ट्रों की सेनाएं चारों ओर से शत्रु-सेनाओं से घिर गईं। मित्र राष्ट्रों (इंग्लैण्ड और उपनिवेशों) के करीब ४ लाख सैनिक डन्कर्क नामक बन्दरगाह में एकत्र हो गए। इसे चारों ओर से शत्रुओं ने घेरा हुआ था।

डन्कर्क की सेनाओं की रक्षा का सब से बड़ा श्रेय केले के उन ३००० अंग्रेज़ और १००० फ्रांसीसी सैनिकों को है, जिन्होंने पूरे ४ दिनों तक लाखों जर्मन सैनिकों को सफलतापूर्वक रोके रक्खा। ४ दिन के बाद जब इन ४ हज़ार सैनिकों में से केवल ३० सैनिक अक्षत रूप में बाकी बच रहे, कैले का पतन हो पाया।

इन ४ दिनों में २०० अंग्रेज़ी जहाज़ दिन-रात मेहनत करके मित्रराष्ट्रों के ३ लाख सैनिकों को इंग्लैण्ड ले आए। जर्मनी

की वायु सेना के हज़ारों जहाज़ों ने अंग्रेज़ी सेना को ले जाने वाले सामुद्रिक जहाज़ों पर भरसक हमले किये, परन्तु सेना का अधिकांश भाग सहीसलामत इंग्लैण्ड पहुँच गया। इंग्लैण्ड की नौ-सेना का यह एक आश्चर्यजनक करिश्मा था।

फ्रांस पर आक्रमण—डन्कर्क की घटना के साथ ही साथ जर्मनी की करीब ३० लाख सेना ने बेल्जियम के रास्ते फ्रांस पर आक्रमण कर दिया था। जून १६४० के पहले सप्ताहों में (५ जून से) फ्रांस को एक ऐसे प्रचण्ड महायुद्ध का सामना करना पड़ा, जैसा युद्ध संसार के इतिहास में तब तक और कहीं नहीं हुआ था। जर्मनी ने जो बहुत बड़े-बड़े हज़ारों टैंक बना रक्खे थे, वे इस युद्ध में काम आए। ये टैंक नाना प्रकार के थे। इन विशालकाय और अदृष्टपूर्व टैंकों की गति को फ्रांसीसी सेनाएं किसी प्रकार रोक नहीं सकीं। ८ जून १६४० को ब्रैस्ली से लेकर ओइस तक के ६० मील के युद्धस्थल में ६००० हवाई जहाज़, ४००० विशालकाय टैंक और ५,००,००० मोटराइज़्ड जर्मन सेनाएं भाग ले रहीं थीं। इन सेनाओं की गति प्रचण्ड बाढ़ के समान थी।

इटली का युद्ध में प्रवेश—जब यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अब फ्रांस की विजय के कोई आसार नहीं हैं, तब १० जून १६४० को इटली ने भी मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस युद्ध के लिए इटली कोई लचर-सा बहाना तक भी तालाश नहीं कर सका। फ्रांस अपने उत्तरीय मोर्चे पर जर्मनी का मुकाबला कर रहा था, अब उसके पूर्व-दक्षिणी ओर से इटली ने भी उस पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के सम्बन्ध

में राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने कहा था—"इटली का छुरे वाला हाथ आख़िर अपने पड़ौसी की पीठ पर ही पड़ा !"

पेरिस का पतन—फ्रांसीसी सेनापति जनरल वेगां ने १३ जून १६४० के दिन पेरिस को "खुला शहर" घोषित कर दिया। फ्रैञ्च सरकार तब तक 'विशी' चली गई थी। पेरिस इस समय तक चारों ओर से शत्रु सेनाओं से घिर गया था ! फ्रैञ्च लोग पेरिस से इतना प्यार करते हैं, जितना संसार का कोई अन्य राष्ट्र अपनी राजधानी से नहीं करता। इस कारण फ्रांसीसी जनता पेरिस का विनाश सहन नहीं कर सकी। १४ जून की प्रातःकाल सूर्योदय से पहले ही जर्मन सेनाओं ने पेरिस पर अधिकार कर लिया। पेरिस में ज़रा भी रक्तपात नहीं हुआ।

फ्रांस का आत्म-समर्पण—उक्त घटना के ३ ही दिन बाद फ्रांस की तत्कालीन सरकार का पतन हो गया और नई सरकार के प्रधान मार्शल पेतां ने १७ जून १६४० को हिटलर के पास यह सन्देश भेज दिया कि वह सन्धि की शर्तें बताए। परिणाम स्वरूप केवल दो सप्ताह के युद्ध के बाद फ्रांस ने आत्म-समर्पण कर दिया। फ्रांस जैसे बड़े और शक्तिशाली देश की १४ दिनों के युद्ध में ही पराजय हो जाना 'ब्लिट्ज़ क्रीग' नीति की महान् विजय थी। संसार के इतिहास में यह घटना तब तक अकल्पनीय मानी जाती थी।

सन्धि की शर्तों के अनुसार २० लाख फ्रांसीसी सैनिक जर्मनी ने कैद कर लिए और उन्हें खिलाने-पिलाने का ज़िम्मा फ्रांस पर रक्खा गया। फ्रांस के जितने भाग (लगभग आधा फ्रांस) पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया था, वह भाग वर्तमान महायुद्ध

की समाप्ति तक जर्मनी के पास ही रहने का निश्चय हुआ। फ्रांस की सम्पूर्ण युद्ध सामग्री जर्मनी ने ज़ब्त कर ली। फ्रांसीसी बेड़े के एक बड़े भाग को जर्मनी ने नज़रबन्द कर लिया। कुछ प्रदेश इटली को भी देने पड़े। इस पर भी फ्रैंच लोगों ने समझा कि हम सस्ते छूटे। हज़ारों फ्रांसीसी जनरल डी० गाल की अध्यक्षता में जर्मनी से लड़ाई जारी रखने के लिए इंग्लैण्ड चले गए।

फ्रांस के आत्म समर्पण ने कुछ समय के लिए संसार भर को भयपूर्ण आश्चर्य में डाल दिया। यह घटना सचमुच बहुत ही महत्वपूर्ण थी। हिटलर अब अपने उत्थान की चरम सीमा पर पहुँच गया था। उसने इंग्लैण्ड को आक्रमण की धमकी दी। परन्तु इंग्लैण्ड ने इस धमकी की कोई परवाह नहीं की। हिटलर की सेनाएं तो अब विजय की लूट बांटने, विजित यूरोप को संभालने और टैंकों आदि की मरम्मत के काम में लगीं। इधर इंग्लैण्ड ने अपने को पूर्णतः सुरक्षित बनाने का प्रयत्न शुरू किया।

भूमध्य सागर का युद्ध—फ्रांस की पराजय तथा इटली के युद्ध में सम्मिलित हो जाने से युद्ध क्षेत्र अब पश्चिमी मोर्चे से हट कर भूमध्य सागर में जा पहुँचा। भूमध्य सागर के प्रायः सभी महत्वपूर्ण जहाज़ी अड्डे अंग्रेज़ों के पास हैं। अंग्रेज़ों की सामुद्रिक महत्ता स्थिर रखने के लिए इन अड्डों का महत्व बहुत अधिक है। यही भूमध्य सागर अब इंग्लैण्ड के लिए अपेक्षाकृत असुरक्षित बन गया। कारण यह कि इटली और उसके टापू भूमध्य सागर में अब शत्रु प्रदेश बन गए। फ्रांस के पतन के बाद मारेक्को में इंग्लैण्ड की सेनाओं का प्रवेश सम्भव

नहीं रहा। उधर अफ्रीका में एबीसीनिया और लीबिया के इटैलियन उपनिवेश भूमध्य सागर के लिये भी खतरे का कारण बन गए। अतः भूमध्य सागर अब महायुद्ध का एक बहुत महत्व-पूर्ण केन्द्र बन गया।

लण्डन पर हवाई आक्रमण—अगस्त ९४० से लण्डन पर मुख्यतः और सम्पूर्ण इंग्लण्ड पर साधारणतः जर्मन हवाई बेड़ा "लुफ्त वाफ़े" ज़ोर-शोर से आक्रमण करने लगा। इन आक्रमणों की भीषणता क्रमशः बढ़ती गई। सितम्बर में ये हमले बहुत ही भयंकर बन गए। हिटलर का ख्याल था कि इन हमलों से घबरा कर इंग्लैण्ड आत्म समर्पण कर देगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। लण्डन भर को आग लगा देने का प्रयत्न अनेक बार हुआ। लण्डन तथा अन्य प्रमुख अंग्रेज़ी नगरों की प्रायः सभी महत्वपूर्ण इमारतों पर हज़ारों टन बम गिराए गए। परन्तु अंग्रेज़ों के हौसले ज़रा भी नहीं टूटे। अदम्य उत्साह के साथ वे इन हमलों का मुकाबला करते रहे। नवम्बर १९४० के दूसरे सप्ताह तक अपने हज़ारों हवाई जहाज़ों से हाथ धोकर जर्मन लुफ्त वाफ़े को अपने इस अन्धाधुन्ध हवाई हमले की व्यर्थता समझ में आई। सरदियां बढ़ जाने पर इन हवाई हमलों की प्रचण्डता कम हो गई।

इस बीच में अंग्रेज़ी हवाई बेड़ा (आर० ए० एफ़०) बड़ी शीघ्रता से अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। इंग्लैण्ड ने अमेरिका को अरबों रुपयों के जो आर्डर दे रक्खे थे, उनकी बदौलत नई किस्मों के सैंकड़ों-हज़ारों हवाई जहाज़ आर० ए० एफ़० को प्राप्त होते रहे और सम्पूर्ण अंग्रेज़ी साम्राज्य के हज़ारों नवयुवक बड़े उत्साह के साथ हवाई जहाज़ चलाने की शिक्षा लेने लगे।

अफ्रीका का युद्ध—सन् १६४० की सरदियों में युद्ध का मुख्य केन्द्र इंग्लैण्ड से हटकर अफ्रीका में जा पहुँचा। अगस्त १६४० में अंग्रेज़ों ने सुमालीलैण्ड ख़ाली कर दिया था। परन्तु नवम्बर १६४० में जनरल वेवल के सेनापतित्व में अंग्रेज़ी, आस्ट्रेलियन, भारतीय और दक्षिण अफ्रीकन सेनाओं ने लीबिया पर ऐसा ज़बरदस्त आक्रमण किया कि वहां से इटैलियनों को खदेड़ कर बाहर कर दिया। उधर मिश्र को केन्द्र बना कर इटली के एबीसीनियन साम्राज्य पर भी आक्रमण किया गया। क्रमशः इटली की पराजय होती गई और जून १६४१ तक व्यावहारिक रूप में सम्पूर्ण एबीसीनिया का इटैलियन साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट हो गया। इटली के अनेक जनरल और वायसराय तथा लाखों सैनिक और अफ़सर गिरफ़्तार कर लिए गए। इटली ने अफ्रीका के युद्ध में जर्मनी से सहायता मांगी। हज़ारों जर्मन अफ्रीका जा पहुँचे। परन्तु जर्मन सेनाओं की सहायता से भी अफ्रीका के युद्धों में इटली की विजय बहुत कम हुई। हां, बैनगाज़ी और लीबिया के कुछ भाग पर उनका अधिकार पुनः स्थापित हो गया। इन प्रदेशों में आज भी युद्ध जारी है।

अमेरिका और वर्त्तमान महायुद्ध—नवम्बर १६४० में अमेरिकन राष्ट्रपति का नया निर्वाचन होना था। राष्ट्रपति रूज़वैल्ट वर्तमान महायुद्ध को अमेरिका का महायुद्ध समझते थे। महायुद्ध की सम्पूर्ण घटनाओं और परिस्थितियों का अध्ययन कर वह इस परिणाम पर पहुँचे थे कि वर्तमान महायुद्ध वास्तव में सिद्धान्तों का महायुद्ध है। एक ओर प्रजातन्त्रवाद है और दूसरी ओर डिक्टेटरशिप। यूरोप के इस महायुद्ध में यदि नाज़ीइज़्म की विजय हो गई

तो संसार भर में कहीं भी प्रजातन्त्र नहीं रहेगा। इससे उनका कहना था कि, इंग्लैण्ड अमेरिका की लड़ाई लड़ रहा है और अमेरिका का यह कर्तव्य है कि वह इंग्लैण्ड की भरसक सहायता करे।

इसी विचार को अमेरिकन राष्ट्र का लोकप्रिय विचार बनाने की इच्छा से रूज़वैल्ट तीसरी बार राष्ट्रपतित्व के लिये उमीदवार खड़े हुए। अमेरिका के इतिहास में आज तक कोई व्यक्ति, यहां तक कि अमेरिकन स्वाधीनता के पिता जार्ज वाशिंगटन भी, तीन बार राष्ट्रपति नहीं बने थे। दूसरी ओर अमेरिका में ऐसे लोगों की कमी भी नहीं थी जो अमेरिका को युद्ध से एकदम पृथक् रखना चाहते थे। रिपब्लिकन दल ने मि० विण्डल विल्की को अपना उम्मीदवार खड़ा किया। अमेरिकन जनता ने इस चुनाव में बड़ी दिलचस्पी ली। चुनाव में मि० रूज़वैल्ट ही विजयी हुए।

इस निर्वाचन से अमेरिका की नीति स्पष्ट हो गई। राष्ट्रपति रूज़वैल्ट का कहना था कि हम इंग्लैण्ड की पूरी सहायता करेंगे। सीधे युद्ध में भाग लेने की बात छोड़ कर वह सभी कुछ करने को तैयार थे। निर्वाचन के कुछ समय बाद मि० विल्की स्वयं इंग्लैण्ड की दशाओं का अध्ययन करने गए। इंग्लैण्ड में पहुँच कर उनकी आंखें खुल गईं। वह मानो रूज़वैल्ट से भी बढ़ कर इस महायुद्ध में इंग्लैण्ड की सहायता करने को उतारू हो गए। मि० विल्की पर इतना प्रभाव डालना अंग्रेज़ी जनता का एक अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य था।

उधार और पट्टे का कानून—अमेरिका की सरकार अब जीजान से इंग्लैण्ड के लिए युद्ध का सामान तैयार करने में जुट

गई। इंग्लैण्ड यथेष्ट सामान पैसा देकर नहीं ख़रीद सकता था, इस कारण 'नकद ख़रीद कानून' को बदल कर इंग्लैण्ड तथा मित्रराष्ट्रों को यथेष्ट माल उधार और पट्टे पर देने का कानून बना दिया गया। अरबों रुपयों की युद्ध सामग्री अमेरिका ने इंग्लैण्ड को दी।

एटलांटिक महासमुद्र का युद्ध—जब अमेरिका बहुत बड़े पैमाने पर युद्ध सामग्री, शस्त्रास्त्र और हवाई जहाज़ इंग्लैण्ड को देने लगा तो जर्मनी को इस बात की चिन्ता होना स्वाभाविक ही था। मार्च १६४१ में हिटलर ने एटलांटिक महासमुद्र के युद्ध की घोषणा की और वहां बहुत बड़ी संख्या में यू० बोट (पनडुब्बियां) इस इरादे से भेज दिए कि वे इंग्लैण्ड को माल पहुँचाने वाले जहाज़ों को डुबो दें। एप्रिल और मई १६४१ में करीब ११ लाख टन के जहाज़ जर्मनी ने डुबो दिये। यह संख्या बहुत चिन्ताजनक थी। इस से मई १६४१ में अमेरिकन राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने यह घोषणा कर दी कि भविष्य में अमेरिका इंग्लैण्ड को माल ले जाने तथा पहुँचाने में भी यथेष्ट सहायता देगा। तदनुसार जुलाई १६४१ के प्रारम्भ में अमेरिका की एक बड़ी सेना ने आइसलैण्ड में अपनी छावनी बना ली।

यह कहा जा सकता है कि अब अमेरिका पूर्णरूप से इंग्लैण्ड के साथ है और नाज़ी जर्मनी का शत्रु है।

यूगोस्लाविया और ग्रीस पर आक्रमण—सन् १६४१ की बसन्त के आगमन के साथ-साथ जर्मन सेनाओं को पुनः कुछ करके दिखाने की धुन सवार हुई। इटली ने बहुत समय से ग्रीस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की हुई थी, परन्तु ग्रीस को हराने की बजाय वह स्वयं अपने एल्बानियन प्रदेश के कुछ भाग से हाथ धो

बैठा था। इस बीच में जर्मन राजनीति के प्रभाव से क्रमशः ३ बाल्कन राष्ट्रों, हंगरी, रूमानिया और बल्गेरिया ने जर्मनी के सन्मुख आत्म समर्पण कर दिया था। केवल यूगोस्लाविया और ग्रीस ने जर्मनी की अधीनता स्वीकार नहीं की थी। एप्रिल १६४१ के प्रारम्भ में जर्मनी ने इन देशों पर एक साथ आक्रमण कर दिया। इंग्लैण्ड ने इन देशों की सहायता करने का निश्चय किया, परन्तु अंग्रेज़ी सेनाओं के ग्रीस तक पहुँचने से पहले ही यूगोस्लाविया की पराजय हो गई और लगभग दो सप्ताह की अत्यन्त वीरतापूर्ण लड़ाई के बाद ग्रीस को भी पराजय स्वीकार कर लेनी पड़ी। ये दोनों देश जर्मनी की भयंकर शक्ति का मुकाबला नहीं कर सके। भूमध्य सागर में अंग्रेज़ी प्रभुत्व को इस पराजय से भारी क्षति पहुँची। परन्तु यूगोस्लाविया और ग्रीस की वीरता से जर्मनी का भी कम नुकसान नहीं हुआ।

क्रीट पर आक्रमण—भूमध्य सागर में यूनानी टापू क्रीट की सैनिक महत्ता बहुत अधिक है। ग्रीक सरकार अब इसी टापू पर आ गई थी। जून १६४१ में जर्मनी ने अपनी पैराशूटिस्ट सेना की सहायता से इस टापू पर आक्रमण कर दिया। हज़ारों जर्मन सैनिक हवाई जहाज़ों की मदद से क्रीट में जा उतरे। अंग्रेज़ी और यूनानी सेनाओं ने जर्मन सेनाओं का जमकर मुकाबला किया, परन्तु १२ दिनों के घमासान युद्ध के बाद क्रीट जर्मनी के हाथों में चला गया। अंग्रेज़ी और यूनानी सेनाएं वहां से चली आईं।

ईराक सीरिया पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व—इस बीच में जर्मनी के उत्साह देने पर इराक में अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रयत्न

किया गया था, जिसे अंग्रेज़ी सेनाओं ने दबा दिया। क्रीट पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद सभी राजनीतिज्ञों का विचार था कि अब साइप्रेस पर अपना अधिकार करने के लिए जर्मन सेनाएं सीरिया पर आक्रमण करेंगी। सैनिक दृष्टि से इस फ्रांसीसी उपनिवेश की महत्ता बहुत अधिक है। विशी की कमज़ोर सरकार सीरिया पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के मार्ग में कोई बाधा देगी, ऐसी सम्भावना किसी को नहीं थी। इस कारण जून १६४१ के प्रारम्भ में अंग्रेज़ी तथा भारतीय सेनाओं ने स्वाधीन फ्रांसीसी सेनाओं के साथ सीरिया पर आक्रमण कर दिया। १२ जुलाई १६४१ को सीरियन सरकार ने शस्त्र डाल दिए और सीरिया पर मित्रराष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

रूसी-जर्मन युद्ध—२२ जून १६४१ की प्रातःकाल सम्पूर्ण संसार ने अत्यन्त आश्चर्य के साथ सुना कि जर्मनी ने अपने शक्तिशाली पड़ोसी रूस पर आक्रमण कर दिया है। वर्तमान महायुद्ध से कुछ ही दिन पहले (२६ अगस्त १६३६) जिस प्रकार अत्यन्त नाटकीय ढंग से इन दोनों में अत्यन्त विरोधी आदर्शों के शक्तिशाली राष्ट्रों में परस्पर मित्रतापूर्ण सन्धि हुई थी, उससे भी अधिक नाटकीय ढंग से २२ जून १६४१ की प्रातःकाल जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया। एक विचारक का कथन है कि रूसी-जर्मन सन्धि से इस महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ था और रूसी-जर्मन विग्रह से इस युद्ध का अन्त होगा। भविष्य ही बताएगा कि यह कथन कहां तक ठीक है।

रूस एक अत्यन्त शक्तिशाली राष्ट्र है। उसकी आबादी १६ करोड़ से ऊपर है और क्षेत्रफल इतना बड़ा है कि रूस के एक

छोर से दूसरे तक पहुँचने में एक तेज़ एक्सप्रेस गाड़ी पर एक सप्ताह का समय लगता है। रूस के पास भौतिक साधन तथा खनिज सम्पत्ति भी बहुत अधिक है। जर्मनी की देखादेखी रूस ने अपने को सैनिक दृष्टि से बहुत शक्तिशाली बना रक्खा है। आज तक कोई भी राष्ट्र या कोई भी विदेशी विजेता रूस पर अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सका।

जर्मनी ने करीब १८०० मील लम्बे भू-भाग से रूस पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में रूमानिया, फ़िनलैण्ड और हंगरी की सेनाएं भी जर्मनी का साथ दे रही हैं। पहले दो सप्ताहों में जर्मन सेनाएं अवश्य ही कुछ अंश तक रूसी सेनाओं को पीछे धकेल सकीं, परन्तु बाद में उनकी रफ़्तार बहुत कम हो गई। यह युद्ध प्रारम्भ होते ही इंग्लैण्ड और अमेरिका ने रूस को पूरी सहायता देने का वचन दिया। रूसी लोग बड़ी वीरता और सफलता पूर्वक जर्मन सेनाओं का मुकाबला कर रहे हैं। रूस और इंग्लैण्ड में परस्पर एक दूसरे को पूरी सहायता देने की एक सन्धि १३ जुलाई १६४१ को हुई।

स्टालिन ने इस युद्ध में एक नई नीति का प्रारम्भ किया है, इसे 'मरुभूमि की नीति' (Scorched earth policy) कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पीछे हटते हुए रूसी सेनाएं और रूसी जनता अपना सभी कुछ नष्ट कर देती हैं। ऐसी एक भी चीज़ या खाद्यपदार्थ बाकी नहीं रहने देते जो शत्रु के काम आ सके। जर्मन सेनाओं के मार्ग में इस नीति से भारी बाधा आगई है।

युद्ध के ४० दिनों में जर्मनी को बहुत कम सफलता हुई है। रूसी और जर्मन हाई कमांडों की विज्ञप्तियों से प्रतीत होता है

कि १८०० मील लम्बे इस भयंकर महायुद्ध में दोनों ओर के लाखों सैनिक इस समय तक हताहत हो चुके हैं। इनकी संख्या ३० लाख से ऊपर पहुँच गई है। रूसी सेनाओं की हिम्मत अभी ज़रा भी नहीं टूटी। वे लोग अब संगठित होकर आक्रमण करने का इरादा कर रहे हैं। वर्तमान महायुद्ध में इस रूसी-जर्मन युद्ध की महत्ता बहुत अधिक है। इस युद्ध में दोनों ओर के लगभग १ करोड़ सैनिक भाग ले रहे हैं। संसार के इतिहास में इससे अधिक भयंकर युद्ध और कोई नहीं हुआ।

उधर यूरोप से सुदूर पूर्व में जापान अब बहुत समय तक तटस्थ देश बना रहेगा, इसकी सम्भावना प्रतीत नहीं होती। पिछले दिनों यद्यपि टर्की और जर्मनी में तटस्थता की एक सन्धि हुई है तथापि टर्की की सहानुभूति इंग्लैण्ड के साथ है।

हाल ही में जापान में नई सरकार स्थापित हुई है। यह सरकार उग्र नीति की पक्षपाती है। इस जापानी सरकार ने, विशी सरकार की अनुमति से इण्डो चाइना के एक प्रमुख भाग पर अधिकार कर लिया है। रूस के साथ भी इस सरकार के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण रहेंगे, इसमें सन्देह है।

भारतवर्ष स्वराज्य की ओर

(१)

भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना

भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है, अतः भारतीय शासन-पद्धति के समझने के लिये भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना कैसे हुई, यह जानना आवश्यक हो जाता है। उस पर आजकल की शासनपद्धति एक राजनीतिक विकास के फलस्वरूप में हमें मिली है। यद्यपि १९३५ के विधान के "घड़ने" के लिये लगभग ५ वर्ष लगे थे तो भी यह विधान केवल पाँच वर्ष के परिश्रम का फल नहीं। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए हमने इस विषय का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना है।

भारतवर्ष केवल एक देश मात्र नहीं, बल्कि वह एक उप-महाद्वीप है। यूरोप से यदि रूस को निकाल दिया जाये तो भारत यूरोप के बराबर में बैठता है। कई भारतीय प्रान्त यूरोप के अनेक देशों से क्षेत्रफल तथा जनसंख्या में बड़े हैं। उदाहरण के लिये पंजाब को लीजिये। इसका क्षेत्रफल इटली से; तथा इसकी आबादी की घनता फ्रांस से अधिक है। भाषाओं की संख्या की दृष्टि से वह यूरोप से कम नहीं। पिछली १९३१ की गणना के

अनुसार भारत-साम्राज्य में २२५ भाषायें थीं—जिन में मुख्य हिंदी, बंगाली, तेलगु, मराठी, तामिल, पंजाबी, राजस्थानी, कन्नड़ी, उड़िया, गुजराती, मलयालम, लँहडा आदि भाषाओं को कम से कम ८५ लाख तथा अधिक से अधिक ७ करोड़ से अधिक बोलने वाले लोग हैं। ब्रिटिश साम्राज्य की पचास करोड़ जनता में से ३५,२८,३७,७७८ भारतवर्ष में बसते हैं। अतः अंग्रेज़ों की दृष्टि में भारत का मूल्य क्या है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य में से भारतवर्ष को निकाल दिया जाय तो ब्रिटिश साम्राज्य रहता ही नहीं। विशेषतया जब कि ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागा—कैनेडा, दक्षिण अफ़रीका तथा आस्ट्रेलिया को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल चुका है। इसी लिये तो 'भारत' को ब्रिटिश राज्य-मुकुट का उज्ज्वलतम हीरा माना जाता हे। यह उज्ज्वलतम रत्न इन अंग्रेज़ों के हाथ मे कैसे आया ?

सीले (Seeley) आदि ब्रिटिशकालीन इतिहास के प्राचीन ऐतिहासिकों के कथन के अनुसार तो यह रत्न दैववशात्, बिना जाने बूझे अंगरेज़ों के हाथों पड़ा। यह बात कुछ अश म ठीक अवश्य है--क्योंकि जब सर्वप्रथम "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" के जहाज़ भारतीय तट पर आकर लगे—तो उन जहाज़ों में बैठे हुए तथा ग्रेट ब्रिटेन से उन जहाज़ों को भेजने वालों के मन में भारत में साम्राज्य स्थापित करने का विचार नहीं था। वे तो केवल व्यापार करके लाभप्राप्ति के लिये ही यहाँ आये थे। लेकिन बाद में ऐसा नहीं रहा। डच लोगों की देखादेखी—इन्हों ने सोचा कि यदि कुछ प्रान्त भी अपने अधिकार में कर लिये जायें

तो उससे दो लाभ होंगें। एक ओर तो व्यापार में सहायता मिलेगी, दूसरे उस प्रान्त का लगान हाथ में लगेगा। सन् १६८७ के इस निश्चय के परिणामस्वरूप उन्होंने औरंगज़ेब के साथ टक्कर ली। पर उस समय ऐसा करना बचपन था, क्योंकि कम्पनी वालों ने औरङ्गजेब की शक्ति का अनुमान न लगाया था। उसके बाद लगभग १७ वर्ष तक तो साम्राज्य-स्थापना के स्वप्नों को छोड़ना पड़ा, लेकिन उस नीति का त्याग नहीं किया गया। सन् १७०२ के 'चार्टर' ने कम्पनी को फ़ौज भरती करने की आज्ञा दी।

"जानबुल" का स्वभाव है कि वह कार्य प्रारम्भ करने में कुछ सुस्त रहता है। लेकिन जब दूसरों को कार्य में लगा देख-कर एक बार कार्य को हाथ में ले ले तो सब को पीछे ही छोड़कर रहता है। भारत में साम्राज्य स्थापना करने का फिर से पाठ इसे डुप्ले महाशय ने पढ़ाया। पहले तो क्लाइव ने डुप्ले को हरा कर भगा दिया, बाद में उसी के कदमों पर चल कर पलासी के युद्ध के उपरान्त बंगाल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। डुप्ले की सफलता से अंगरेज़ों ने सीखा कि कैसे देशी राजाओं को भारतीय सिपाहियों की सहायता से, सरलता से पराजित किया जा सकता है। डुप्ले की असफलता से उन्होंने सीखा कि साम्राज्य स्थापना के लिये किन किन ग़लतियों से अपनेको बचाना है। सबसे अधिक ध्यान रखने वाली बात यह थी किसी अन्य युरोपियन राष्ट्र को भारत में न रहने दिया जाय, क्योंकि यदि अंग्रेज़ न होते तो फ्रांसीसियों को भारत छोड़कर जाने की आवश्यकता कदाचित् न पड़ती। इसी लिये तो पहला काम अंगरेज़ों के सामने अपने राजनीतिक गुरु—फ्रैंच लोगों को देश से निकालने का था और यह काम उन्होंने करके ही छोड़ा।

क्लाइव के बाद साम्राज्य-वृद्धि का सिलसिला चलता रहा। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद की अंधाधुंधी में ऐसा होना ही था। पहले ऐसा होता भी आया था। यदि बाबर सा अकेला जवान कुछ हज़ार योद्धाओं से भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाल सकता था, तो अंग्रेजों जैसी शक्तिशाली जाति का—चाहे वह हजारों मीलों की दूरी से आई हो—भारत को अधीन करना समझ में आसकता है।

क्लाइव के बाद वारनहेस्टिंग्ज़ को, कुछ क्लाइव की ग़लतियों के कारण, कुछ तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की वजह से, और कुछ अपनी गलतियों के कारण दक्षिणी भारत में हैदरअली, मराठों तथा निज़ाम का सामना करना पड़ा। इस काल में ब्रिटिश साम्राज्य की सत्ता तक मिट जाने का अंदेशा था। इसी काल में अंग्रेज़ों के हाथों से संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका निकल कर स्वतंत्र होगया था। इस महान आपत्तिकाल में वारनहेस्टिंग्ज ने ही ब्रिटिश साम्राज्य के जहाज़ को चकनाचूर होजाने से बचाया। चाहे ऐसा करने के लिये उसे कुछ ऐसे कार्य करने पड़े जो कि उसके नाम को उज्ज्वल नहीं करते। पर जब एक बार ब्रिटिश साम्राज्य का जहाज़ चट्टान से बच निकला तो उसके बाद वह आगे ही बढ़ता गया। मार्ग में तूफान आये, उन से जहाज़ डोला अवश्य, लेकिन डूबा नहीं। पर वारेनहेस्टिंग्ज़ के काल के बाद अंग्रेजी सरकार ने कम्पनी की महत्वाकांक्षाओं को काबू करने में बुद्धिमत्ता समझी। सन् १७८४ में ब्रिटिश सरकार ने घोषणा ❀ की कि "भारतवर्ष में साम्राज्य-वृद्धि,

---

❀ " To pursue schemes of conquest and extension of dominion in India are measures

तथा युद्ध-विजय, इस राष्ट्र (अंगरेजों) की नीति, इच्छा तथा मान की दृष्टि से घृणित कार्य हैं।" पर यह तो कहने की बात थी। और वास्तव में राजनीतिक दृष्टि से ऐसा करना एक ओर अत्यन्त हानिकारक था, और दूसरी ओर असम्भव। यहां तक कि कार्नवालेस जैसे शान्ति-प्रिय व्यक्ति को भी, इस नीति को छोड़ कर टीपू से जान बूझ कर टक्कर लेनी पड़ी। कार्नवालिस के बाद सर जौन शोर के इस नीति के अनुसरण करने का परिणाम—भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के लिए—हानिकारक सिद्ध हुआ। जब अंग्रेजों ने निज़ाम को मराठों के विरुद्ध सहायता देने से इनकार करदिया, तो मराठों तथा टीपू के हौसले बढ़ गए। उनके मन में यह विचार बैठ गया कि अंग्रेजी राज्य का अन्तिम काल निकट ही है। इस विचार को, वैल्जली ने आकर पूरी तरह से दूर किया। उसने इस नीति को एक ओर रख कर घोषणा की कि भारत में अंग्रेज भी एक प्रभुत्व शक्ति हैं। और युद्धविजय से, सब-सिडिअरी-सिस्टम (Subsidiary system) से, तथा राजा महाराजाओं को कुछ पैन्शन और उपाधियाँ देकर उनके राज्य-कार्य को अपने हाथ में लेकर—वेल्जली ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की जितनी वृद्धि की, उतना कदाचित् अन्य किसी गवर्नर जनरल के काल में नहीं हुई। वैल्ज़ली की इस सरपट दौड़ से थक कर, कुछ काल के लिये, नाम मात्र को, लार्ड मिण्टो तथा विलियम बैंटिक के काल में पुनः अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया गया।

---

repugnant to the wish, the honour, and policy of this nation."

परन्तु परिणाम यह निकला कि इनके बाद जब हेस्टिंग्ज गवर्नर जनरल बन कर आया तो उसे वैल्ज़ली की नीति का ही अनुसरण कर, वैल्ज़ली के शेष कार्य को समाप्त करना पड़ा। मज़ा इस बात में है कि हेस्टिंग्ज़, वैल्ज़ली के शासन काल में उसकी नीति का नितान्त विरोधी था। बाद में लार्ड डलहौज़ी ने कुछ अवश्यकता से अधिक इस नीति का पालन किया। उसकी "डाक्टरिन आफ लैप्स" (Doctrine of lapse) १८५७ के विद्रोह का एक मुख्य कारण बनी। सन् १८५७ तक भारत को अधीन करने का लगभग सारा कार्य समाप्त हो चुका था। बाद में केवल १८७६ में कोइटे को, तथा १८८६ में शेष बर्मा को अधीन करना बाकी रह गया था।

१७८४ में, जब कि "पिट्स-इण्डिया एक्ट" में इस अहस्तक्षेप की नीति की घोषणा हुई थी—तब तो वास्तव में इंग्लैंड में बैठे हुए डाइरेक्टर इस नीति के पक्ष में थे। परन्तु बाद में वह अपने नियुक्त किये हुए गवर्नर-जनरलों के कार्यों का आंख मूंद कर ही निरीक्षण करते रहे। और हर्ज भी क्या था, जब कि वह सफलता पर सफलता प्राप्त करते चले जाते थे। परन्तु जब कभी कोई असफलता हुई, अथवा अधिक धन व्यय हुआ—तभी वह अपने महत्त्वाकांक्षी अनुचरों को डांटने की आश्यकता समझते थे।

अब ब्रिटिश सरकार की "साम्राज्य-वृद्धि की नीति" प्रतिपादन करने के उपरान्त "साम्रज्यवृद्धि का संक्षिप्त विवरण" देना आवश्यक है। सन् १६०० से १७६५ तक तो "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" एक व्यापारिक संघ ही रहा। इसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे और

प्रायः समुद्रतट के निकट इसकी बस्तियां तथा कारखाने थे। सबसे प्रथम सूरत में इनके पास कुछ फैक्टरियां थी। सन १६४० में चन्द्र गिरि के राजा से कुछ भूमि खरीद कर, मद्रास नामक स्थान पर किलाबन्दी कर मद्रास नगर और प्रान्त की नींव रखी गई। सन १६६६ में चार्ल्ज़ द्वितीय को पुरतगाल देश की राजकुमारी से विवाह के अवसर पर बम्बई दहेज़ में मिला, जिसे उसने नाममात्र किराये पर "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" के हवाले कर दिया। १६६० में जौब चार्नक ने भारत की भावी राजधानी कलकत्ता की नींव रखी। इस काल में कम्पनी अपने व्यापारिक स्थानों की किलाबन्दी तो करती रही, परन्तु मुख्यतः वह व्यापारकार्य में लगी हुई थी।

अठारहवीं शताब्दी में, दक्षिण की "अन्धाधुन्धी" में अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों के विरोध में स्थानीय राजाओं की सहायता करना प्रारम्भ किया। १६४६ में कर्नाटक के महायुद्धों का सूत्रपात हुआ, जिनमें अन्त में कंपनी विजयी हुई और मसलिपटम तथा उसके साथ का ८० मील लम्बा तथा ४० मील चौड़ा प्रान्त उनके हाथ लगा। पर यह तो केवल आरम्भ ही था।

सन् १७५६ ई० में अलीवर्दी खां की मृत्यु से ही बंगाल में भारतीय राज्य का अन्त समझना चाहिए। क्योंकि यद्यपि सिराजुद्दौला बंगाल की गद्दी पर बैठा, लेकिन न तो इस में अलीवर्दी खाँ की समझ थी और न वह व्यक्तित्व। यही कारण है कि पलासी के युग-प्रवर्तक युद्ध को युद्ध कहना भी उचित नहीं। नवाब के ५४००० योद्धाओं में से केवल ५०० या ६०० सैनिक मारे गये और अंग्रेज़ों की ओर से केवल ७०। यह युद्ध केवल सेनाओं से ही नहीं बल्कि कौटिल्य से जीता गया था—यद्यपि

इससे क्लाइव का राजनीतिक दृष्टि से महत्व कम नहीं होता। परन्तु इसका प्रभाव क्या पड़ा, इसे समझने के लिये हमें १७५६ की परिस्थितियों से तुलना करनी चाहिये। १७५६ में बंगाल में अंग्रेज़ अन्य युरोपियन जातियों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न थे। परन्तु इनके अधिकार में केवल एक ही स्थान था। इसके अतिरिक्त इनकी फ़ैक्टरियाँ कासिम बज़ार, ढाका, बालासोर, जगदेश्री तथा पटना में थीं। पर अभी तक अंग्रेज़ों में इतनी हिम्मत नहीं हुई थी कि वे अलीवर्दी खाँ के कटु शासन के विरुद्ध सिर उठा सकें। पर पालसी के युद्ध के उपरान्त, अंग्रेज़ों को यद्यपि नाम को तो केवल २४ परगने मिले, परन्तु वास्तव में भारतवर्ष के सब से अधिक सम्पन्न प्रान्त—बंगाल, बिहार, उड़ीसा—पर इनका राजनीतिक प्रभाव छा गया। कारण, केवल एक अंग्रेज़ी सेना ही शेष रह गई थी, जिस पर इन प्रान्तों की रक्षा का उत्तरदायित्व था। और इन प्रान्तों का नवाब उनकी मुट्ठी में था, इन्हीं का बनाया हुआ था। सन १७५६ तक क्लाइव ने बंगाल में फ्रांसीसियों तथा डचों को भी पूरी तरह से दबा दिया था, ताकि भविष्य में इन से कोई आशंका न रहे। १७६६ में बक्सर के युद्ध के उपरान्त अंग्रेज़ों ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के दीवानी तथा निज़ामत के अधिकार प्राप्त कर लिये, जिस से वास्तव में यह प्रान्त भी इनके हाथ में आगए। इन सम्पन्न प्रान्तों के हस्तगत होने से एक ओर कम्पनी की सम्पन्नता इतनी अधिक बढ़ गई कि अंग्रेज़ सरलता से फ्रांसीसियों को भारत से बाहर निकाल सकते थे, और दूसरी ओर साम्राज्यवृद्धि करने के लिये इन्हें साधन मिल गये। इसके बाद के इतिहास में तो केवल भारत के शेष प्रान्तों

का क्रम से अंग्रेज़ों के अधीन होने की सूची देने का कार्य ही शेष रह जाता है। १७७५ में बनारस अवध के नवाब से ले लिया गया। १७८८ में कार्नवालिस ने निज़ाम से गन्तूर छीन लिया।

इसके बाद अंग्रेज़ों को मुख्यता पांच काम और करने थे अर्थात् उन्हें मैसूर, मराठों, सिखों, बर्मा निवासियों को जीतना था तथा सीमा प्रान्त की समस्या का हल करना था। मैसूर के काम को कार्नवालिस तथा वैल्ज़ली ने, मराठों को वैल्ज़ली तथा हेस्टिंग्ज़ ने, सिक्खों को हार्डिंग तथा डलहौज़ी ने, बर्मा को एमहर्स्ट डलहौज़ी तथा डफ़रिन ने सम्हाला। सीमा प्रान्त की समस्या के प्रबन्ध के लिए लार्ड एलनबरो के काल में सर चार्लस नेपियर ने सिन्ध को हस्तगत किया, उससे पूर्व आकलैण्ड ने अफ़गानों के प्रथम महायुद्ध में मुंह की खाई थी। वही मूर्खता दोबारा लार्ड लिटन ने पाठानों के साथ दूसरे युद्ध करने म की। इसी बीच में लिटन ने १८७६ में कोइटे के आस पास के प्रान्त को अधीन किया। लेकिन सीमाप्रान्त की समस्या तो सदा बनी रहती है। इसीलिये सभी गवर्नर-जनरलों को इस पर विचार करना पड़ता है।

वर्षक्रम के अनुसार कार्नवालिस ने मैसूर-युद्ध की विजय के उपरान्त मलाबार, बारामहल, सलेम तथा दिन्दिगुल हथिया लिये। लार्ड वैल्ज़ली ने, जैसा कि हमने ऊपर भी कहा है, जिस तरह हो सका, साम्राज्यवृद्धि की। अन्तिम मैसूरयुद्ध की विजय में कनारा कोयमबटोर को; बुन्देलखण्ड, देहली, आगरा, दोआब को सीन्धिया से; कटक तथा बालासोर भोंसला से; तथा सत्रसिडियरी

सिस्टम (Subsidiary System) के अन्तर्गत कोटा, अलाहाबाद तथा रुहेलखण्ड अवध से; विलारी और कड़प्पा के ज़िले नज़ाम से, तथा कुछ प्रांत बसीन की सन्धि के अवसर पर पेशवा से लिये गए।

बसीन की सन्धि का विशेष महत्व है । क्योंकि इस से से अंग्रेज़ों का भारत में राज्य 'अंग्रेज़ी भारतीय राज्य' बन गया। कारण यह कि मैसूर के दमन के उपरान्त भारत में पंजाब को छोड़ कर केवल दो प्रबल शक्तियाँ थीं—अंग्रेज़ तथा मराठे। पेशवा मराठों का मुखिया था, चाहे नाम को ही केवल। परन्तु जब पेशवा ने अंग्रेज़ों का प्रभुत्व मान लिया तो अपने आप ही उस के सभी सरदार भी अंग्रेज़ों के अधीन होगये । यद्यपि इन सरदारों को वास्तव में अपने अधीन करने के लिये वैल्ज़ली तथा हेस्टिंग्ज़ को महा संग्राम करने पड़े। इसी संग्राम में ही, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, वैल्ज़ली ने सिंधिया तथा भोसला से कुछ प्रान्त अपने हाथ में लिये । इसके अतिरिक्त कर्नाटक, सूरत तथा तंज्जौर को, इन प्रदेशों के नवाबों तथा राजा की मृत्यु पर, अपने अधिपत्य में कर लिया। लार्ड वैल्ज़ली की इस वृद्धि से मद्रास प्रान्त पूरा हुआ, आगरे का प्रान्त नया बना तथा बम्बई प्रान्त की वृद्धि हुई।

लार्ड मिण्टो के शासनकाल में जमुना तथा सतलुज के मध्य का प्रान्त, अंग्रेजों के संरक्षण में आगया। बाद में लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने १८१६ में गढ़वाल, देहरादून तथा शिमले को; १८१८ में पेशवे का प्रदेश, खानदेश, सम्भल तथा नर्मदा प्रदेश को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। एमहर्स्ट ने बर्मा के प्रथम युद्ध के उपरान्त

(१८२६) में आसाम, कच्छार, तथा १८३४ में कुर्ग को; ऐलन बौरो ने १८४३ में सिन्ध को, और हार्डिंग ने प्रथम सिख युद्ध के बाद सतलुज-व्यास नदी के बीच के प्रान्त को अधीन किया। साम्राज्य को लगभग सम्पूर्ण बनाने का कार्य लार्ड डलहौजी ने किया। उसने बाक़ायदा सिलसिलेवार 'हस्ताक्षेप तथा मिलाने की नीति' का प्रयोग किया। लैप्स के सिद्धान्त के उपयोग से सितारा, नागपुर, झाँसी, जौनपुर, उदयपुर (मध्यप्रान्तीय) तथा सम्बलपुर को हस्तगत किया। अवध को, नवाब पर कुशासन का अभियोग लगाकर ले लिया, बरार को निज़ाम के ऋण व सेना को रखने के व्यय के लिये ब्रिटिश राज्य के अन्तर्गत किया। पंजाब के द्वितीय युद्ध के बाद समस्त पंजाब तथा उत्तरपश्चिम सीमा प्रान्त के कुछ जिले तथा बर्मायुद्ध की विजय के अन्तर पीगू को भी ले लिया। डलहौज़ी के बाद लार्ड लारैंस ने भूटान के कुछ प्रदेश, १८७६ में लार्ड लिटन ने कोईटा तथा १८८६ में लार्ड डफरिन ने सम्पूर्ण बर्मा को ब्रिटिश आधिपत्य में ले लिया।

यह तो हुआ ब्रिटिश साम्राज्य की वृद्धि का एक संक्षिप्त विवरण। परन्तु दो एक विशेष बातें ध्यान में रखने की आवश्यकता है। प्रथम यह कि अंग्रेज़ों ने जैसा कि भारत के वर्तमान नक़शे के पीले रंग से पता चलता है—सम्पूर्ण देश को पूर्णतः अपने अधीन नहीं किया। भारत के १८,०८, ६७९ वर्गमील क्षेत्रफल में से ७,१२, ५०८ वर्गमील तथा ३१,२८, ३७, ७७८ जनसंख्या में से—८,१३,१०, ८५४ व्यक्ति देशी राजाओं तथा नवाबों के अधीन हैं।

दूसरी विशेष बात (सीले* के शब्दों में) यह है कि "यह एक विदेशी विजय नहीं बल्कि एक आन्तरिक क्रान्ति थी।" अभिप्राय यह है कि भारत के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये केवल दो शासनों का मुकाबला न था क्योंकि भारत में कोई एक शासन नहीं था। वास्तव में भारतीय समाज की आन्तरिक क्रान्ति तथा शिथिलता के समय, देसी सेनाओं की सहायता ले अंग्रेज़ों ने यह विजय प्राप्त की थी। यहां पर अंग्रेज़ों की नीतिज्ञता का परिचय देने के लिये एक और बात कहनी है। अंग्रेज़ देसी सेनाओं को रखने का व्यय देशी राजाओं से लेते थे। विशेषतया लार्ड वैल्जली के "सबसिडिअरी सिस्टम" (Subsidiary system) के प्रयोग से। इस नीति के अनुसार प्रत्येक रियासत को, जो कि इस प्रणाली के अन्तर्गत थी—अपने प्रदेश की रक्षा के लिये अंग्रेज़ों को सेना रखने का खर्च देना पड़ता था। इस तरह ब्रिटिश सरकार बिना कुछ खर्च किये एक खासी सेना रख सकती थी, जिसका आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जा सकता था।

अन्त में एक बात कह कर इस अध्याय को समाप्त करना है। यद्यपि मुगलसाम्राज्य के पतन ने अंग्रेज़ों को ब्रिटिश राज्य स्थापित करने के अवसर दिया—तो भी अं`ज़ों ने सम्पूर्ण भारत पर एकाधिपत्य जमाकर, भारतवर्ष को सुशासन देकर और इस विशाल देश में एकता और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न कर इस अवसर का उपयोग किया।

---

* "It was not a foreign conquest, but rather an internal revolution."

(२)

शासन विधान का विकास

हमने कहा था कि आजकल की भारतीय शासन-पद्धति एक विकास का परिणाम है। इस विकास के दो मुख्य पहलू हैं, ब्रिटिश सरकार तथा भारत की राजनीतिक परस्थिति।—अब भी एक तरह से भारतीय शासन का अन्तिम उत्तरदायित्व ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथों में है, क्योंकि भारतीय शासन-विधान का परिवर्तन उसी क हाथों में है। सन् १६०० ईसवी से लेकर आज तक के काल को, इस दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जाता है। प्रथम काल १७६५ में, द्वितीय १८५७ में, तृतीय १९१७ में समाप्त हुआ और चतुर्थ अभी चल रहा है। प्रत्येक काल का यहां हमने विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं करना, केवल प्रधान सिद्धान्तों का विश्लेषण करना है, प्रथम काल इस दृष्टि से हमारे लिये कोई विशेष महत्व नहीं रखता। १६००—१७६५ तक तो प्राचीन या उत्तरकालीन कम्पनियों के परस्पर झगड़े चलते रहे। इसी काल में अंग्रेज़ों ने फ्रांसीसियों पर विजय पाई। इसके बाद भारतीय इतिहास के ब्रिटिश काल में फ्रांसीसी आतंक का भूत कभी कभी रगमंच पर आया सही। लेकिन वास्तव में फ्रांसीसियों के भारत में साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न स्वप्न ही रहे।

वास्तव में आज की शासनपद्धति का सूत्रपात १७६५ के बाद से ही होता है। क्योंकि १७६५ में बंगाल, विहार, उड़ीसा में दीवानी तथा निज़ामत की शक्तियाँ प्राप्त करने के बाद ही से अंग्रेज़ों ने भारत के ऊपर शासन करना प्रारम्भ किया। इस काल में (१७६५–१८५७ शासन की बागडोर कम्पनी के नाम पर ही रही—यद्यपि शनैः शनैः पार्लियामेंट का कम्पनी के ऊपर नियमन बढ़ता गया। इसी काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संघ से एक शासक संस्था बन गई तथा इस समय जिस शासन का विकास हुआ—उसका कुछ अंश मुगल शासन पद्धति से तथा कुछ अंश समुद्र के पार से लाया गया।

अंग्रेज़ों का स्वभाव है कि वे सिद्धांत या प्रथा पहिले निकाल लेते हैं और उसका नामकरण बाद में करते हैं। उनके अपने देश के शासन-विधान को लीजिये। वह एक लिखित वस्तु नहीं है। और तो और, १९०५ तक इन्होंने ब्रिटिश प्रधानसचिव के—जो कि संसार भर के सब से अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से है—पद की, अन्य सचिवों के मुकाबले में, उच्चता को शासन-विधान में स्वीकार नहीं किया था, यद्यपि व्यवहार में प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियों का नेता माना जाता रहा है। भारत में भी ऐसा रहा है। नाम को तो ब्रिटिश सरकार ने १८५७ में महा-विद्रोह के बाद ही भारत के शासन की बागडोर को अपने हाथों में ले लिया। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं हुआ। और यह कहना कि १८५७ के विद्रोह के फलस्वरूप कम्पनी से भारत पर शासन करने के अधिकार छीन लिये गये— एक भ्रम है। कारण, कम्पनी को महाविद्रोह के लिये उत्तरदायी ठहरा कर उससे

अधिकार नहीं छीने गये, क्योंकि राजनीतिक कार्य सम्पूर्ण रूप से पहले भी ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण में थे।

वास्तव में यदि हमें कपम्नी के हाथों से अधिकार लेने के कारणों पर विचार करना हो, तो हमें १७६७ सन—जब कि पार्लियामेंट ने सर्वप्रथम भारतीय मामलों में हस्तक्षेप किया—की परिस्थिति को समझना चाहिये। १७६५ में दीवानी मिल जाने से ब्रिटिश सरकार को मालमाल होने की आशा थी। लेकिन हुआ उसका उलटा। एक ओर तो भारतवर्ष से इकट्ठा करके लाये हुये धन से बने नये अंग्रेज़ नवाब विलायत पहुँचे। उधर कम्पनी के हिस्सेदारों को बहुत लाभ हुआ, दूसरी ओर कम्पनी की सरकार पर ६० लाख पौंड का ऋण चढ़ गया। कम्पनी को ब्रिटिश सरकार के आगे ऋण के लिये हाथ पसारने पड़े। इस गड़बड़ का प्रबन्ध करने के लिये पार्लियामेंट को कम्पनी के मामलों पर निगरानी तथा नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पड़ी। १७७३ में रैगूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) के अंतर्गत उन्होंने डायरेक्टरों का एक बोर्ड बनाया जिसके नियन्त्रण में भारत में कम्पनी की कार्रवाई को रखा गया। १७७३ से पार्लियामेण्ट का प्रायः प्रत्येक बीस वर्ष के बाद कानूनों का सिलसिला चला, जिससे एक ओर तो कम्पनी के ऊपर पार्लियामेंट का नियन्त्रण अधिक से अधिक होता चला गया और दूसरी ओर कंपनी को एक व्यापारिक संघ से शासनसंस्था बना दिया गया।

११ वर्ष के बाद सन् १७८४ में पिट्स इण्डिया एक्ट (Pits India Act) के अन्तर्गत एक बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल (Board of Control) बनाया गया, जिसके ६ मेंम्बरों में इंग्लैंड का अर्थ सचिव, सैक्रेटरी आफ़ स्टेट्स तथा चार प्रीवी-

कौंसिल के सदस्य रखे गये। इनका काम पूर्वी प्रदेश के जीते हुए देशों पर निगरानी तथा नियन्त्रण करना था। इसके अनुसार उस द्वैधशासन की नींव डाली गई, जो कि १८५७ तक कायम रही—क्योंकि कानून की दृष्टि से एक ओर कम्पनी तथा दूसरी ओर पार्लियामेंट का एक बोर्ड मिलकर शासन करते थे। इसलिये यह कहा जाता है कि कार्नवालिस के समय से लेकर सभी राजनीतिक कार्यों में ब्रिटिश सरकार का उत्तरदायित्व था।

१७९३ में आजकल के सैक्रेटरी आफ़ स्टेट के पद की नींव रखी गई। इस कानून (१७९३) के अनुसार, बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल के प्रथम सदस्य को बोर्ड का सभापति बना दिया गया। इस काल से इस बोर्ड के सामूहिक अधिकार नाममात्र के ही रह गये क्योंकि सभापति के हाथ में समस्त अधिकार चले गये थे। और साथ ही में इस सभापति को ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल में स्थान मिल जाने से इस का गौरव और भी बढ़ गया।

१८१३ के एक्ट ने भारत के साम्राज्य तथा लगान को और बीस साल के लिये कम्पनी के सपुर्द कर दिया। ऐसा करने से ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व की घोषणा की। १८३३ के कानून ने कम्पनी को अपना व्यापारिक कार्य बंद करने का आदेश किया और बीस वर्ष के लिए कम्पनी को भारत पर शासन करने की अनुज्ञा दी। ऐसा करने से कम्पनी एक व्यापारिक-संघ से शासन-संस्था बन गई। अब से यह भारत में ब्रिटिश सरकार की शासन व्यवस्था के विषय में प्रतिनिधि के रूप में भारत में काम करने लगी। अभी तक कम्पनी के हाथों में भारत में नौकरियाँ आदि देने का अधिकार था, लेकिन १८५३ के एक्ट ने वह भी उससे ले लिया।

इस एक्ट से पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार अपने कन्धों पर भारत का शासन उठाने का विचार कर रही थी क्योंकि पहले की तरह इस कानून ने कम्पनी को किन्हीं विशेष वर्षों के लिये अधिकार नहीं दिये थे। यह सब होने पर भी डायरेक्टरों के हाथों में काफी अधिकार थे, क्योंकि उनसे बहुत अधिकार ले लेने पर भी शासन का कार्य तो इन्हीं के हाथ में था। महाविद्रोह के बाद १८५८ के एक्ट ने केवल एक ही नई बात की। डायरेक्टरों के हाथ में जो शेष शासनाधिकार थे उनको लेकर द्वैध-शासन का अन्त कर दिया। बोर्ड आफ़ कण्ट्रोल के सभापति का स्थान भारत मन्त्री (Secretary of State) ने तथा बोर्ड आफ़ डायरेक्टर का स्थान इण्डिया कौंसिल ने लिया। इसका कार्य केवल सम्मति प्रकट करना था। भारतमन्त्री तथा इण्डिया कौंसिल, ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत पर राज्य करते थे। यह हमारी भारतीय शासनपद्धति का एक अंग है।

तृतीयकाल १८५७ से लेकर १६१७ तक चलता है। इस काल में, जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, ब्रिटिश सम्राट् ने भारत का शासन अपने हाथों में लिया। इसी काल में प्रतिनिधि-सत्तात्मक संस्थाओं की स्थापना हुई तथा स्थानीय शासन-पद्धति बनाई गई। इस काल में भारतशासन में पार्लियामेण्ट का हस्ताक्षेप कम हो गया, यद्यपि सम्राट् के शासन की बागडोर को अपने हाथ में लेने से पार्लियामेण्ट से अधिक हस्ताक्षेप की आशा थी। पर ऐसा नहीं हुआ, कारण पार्लियामेण्ट ने भारत का उत्तरदायित्व एक मन्त्री के ज़िम्मे डालकर और अधिक कष्ट उठाने की आवश्यकता न समझी। एक और बात भी हुई। भारतीय मामलों को

पार्लियामेण्ट के दल-संघर्ष से पृथक् रखने की प्रथा चल पड़ी।

यह काल तीन मुख्य कानूनों के लिये प्रसिद्ध है। हमारा अभिप्राय १८६१, १८६१, तथा १९०६ के इण्डिया कौंसिल्ज़ एक्टों से है। १८६१ के एक्ट से व्यवस्थापिका सभा में ग़ैर-सरकारी सदस्योंको भी स्थान मिला। इसी एक्ट से बंगाल, बम्बई, मद्रास उत्तरपश्चिमीय प्रान्त तथा पंजाब के लिए एक एक स्थानीय कौंसिल बनाई गई। अतः इस एक्ट ने भारत में आधुनिक व्यवस्थापिका सभा की नींव डाली। परन्तु इन सभाओं में केवल कुछ विषयों पर विचार-विनियम करनेकी अनुज्ञा थी। इनके सदस्यों की संख्या केन्द्रीय सरकार की शासनकारिणी समिति के अतिरिक्त कम से कम ६ तथा अधिक से अधिक १२ थी। प्रान्तीय सभाओं में ४ से ८ तक मेम्बर हो सकते थे। परन्तु यह सब असन्तोषजनक था, क्योंकि गैर सरकारी सदस्यों की संख्या कम थी और सभायें भी छोटी छोटी थी। उनको व्यवस्थापक प्रस्तावों पर केवल विचार प्रकट करने का अधिकार था। अतः सदस्यों की संख्या को बढ़ाने के लिये और सभाओं में बजट पर विचार करने, प्रश्नों को पूछने तथा प्रस्तावों को पेश करने के अधिकार के लिए भारतीय कांग्रेस ने मांग की। इस मांग का इंग्लैण्ड के उदार दल ने तथा भारत में रहने वाले गौर सरकारी यूरोपियनों ने भी समर्थन किया। इसका परिणाम यह निकाला कि १८९२ के एक्ट से एक ओर तो सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई और दूसरी ओर उनको वार्षिक बजट पर विवाद करने का, तथा प्रश्न पूछने का अधिकार मिला। एक और बात भी हुई। १८९२ के एक्ट से एक प्रकार से परोक्ष निर्वाचन-पद्धति प्रारम्भ हुई। अब तक कुछ विशेष संस्थाए सदस्यों को निर्वाचित कर लेती थी। और

सरकार उनको सदस्य नामज़द कर देती थी। इस एक्ट के अनुसार प्रान्तीय सभाओं में सदस्य ग़ैर सरकारी होने लगे।

परन्तु इससे उद्‌बुद्ध जनता को सन्तोष न मिला। एक ओर तो पाश्चात्य विद्याध्ययन से उनके विचार तथा उनकी महत्वाकांक्षायें बढ़ने लगी और दूसरी ओर रूस जापान युद्ध में जापान के रूस को पराजित करने से पाश्चात्यों की अजेयता का भ्रम दूर होने लगा। उस पर बंगाल प्रान्त को दो भागों में बांटने से एक और आंदोलन उठ खड़ा हुआ। इन सब बातों ने भारत की शिक्षित जनता में शासन में अधिक अधिकार प्राप्त करने की भावना जागृत हुई। अतः जब १६०६ में उदार दल ने इंग्लैण्ड में ब्रिटिश सरकार की बागडोर अपने हाथ में ली, तब मिस्टर मार्लें भारतमन्त्री बने। आप इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध उदारदल के नेता ग्लैडस्टन के अनुयायी थे। इसीलिए इनके पद प्राप्त करने पर भारतीयों को अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति होने की आशा बनी। १६०६ के मिन्टो मार्लें सुधार ने सदस्यों की संख्या और उनके कुछ अधिकार भी बढ़ा दिये। प्रान्तीय सभाओं में ग़ैर-सरकारी सदस्यों की संख्या सरकारी सदस्यों से अधिक कर दी गई। परन्तु केन्द्रीय सभा में सरकारी सदस्यों की ही संख्या अधिक रही। परोक्ष निर्वाचन की पद्धति को जारी रखा गया। मुसलमानों का निर्वाचन हिन्दू सदस्यों के निर्वाचन से पृथक् कर दिया गया।

पहले पहल तो मिन्टो मार्लें सुधार का स्वागत किया गया। परन्तु बाद में सभाओं में सरकारी सदस्यों की उपस्थिति और प्रभाव ने तथा मिस्टर मार्लें के वक्तव्य

ने—कि इस एक्ट से भारत में पार्लियामैन्ट्री संस्था स्थापन करने का विचार बिल्कुल नहीं—भारत की शिक्षित जनता में फिर से असन्तोष जगा दिया। उस पर भारतीयों को उच्च सरकारी नौकरियों में भी स्थान बहुत कम मिलता था। अतः भारतीय शिक्षित जनता ने, विशेषतया राष्ट्रीय कांग्रेस ने और सुधारों के लिये मांग की। पहले तो इन मांगों की ओर ब्रिटिश सरकार ने कोई ध्यान न दिया। परन्तु १६१४ के महायुद्ध में भारतीयों के महत्वपूर्ण भाग को स्मरण कर, ब्रटिशि सरकार को, भारतीयों की उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग के सम्बन्ध में विचार करना पड़ा। १६१७ सन् की १० अगस्त को श्री मौंटेगू ने, जो कि उस समय भारत-मंत्री थे, यह घोषणा की—

"The policy of His Majesty's Government,......is that of the increasing association of Indians in every branch of the administration and the gradual development of self-governing institutions with a view to the progressive realisation of responsible government in India as an integral part of the British Empire."

—कि "ब्रिटिश सरकार की, भारत में, यह नीति होगी कि भारतीयों को शासन के सभी विभागों में क्रमशः अधिक से अधिक स्थान दिया जायेगा। तथा भारत में क्रमशः उत्तरदायित्वपूर्ण शासन को स्थापित करने के लिए शनैः शनैः स्वराज्य संस्थाओं का विकास किया जायेगा। इस तरह जो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित होगा वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक आन्तरिक भाग होगा।" परन्तु

किस गति से यह विकास होगा यह पार्लियामेंट के निर्णय पर छोड़ा जायेगा।

इस घोषणा से भारत-शासन-विधान के विकास का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है। यह युग अभी तक चल रहा है। इस नीति को अनुसरण करते हुए ब्रिटिश सरकार ने अभी तक सुधार की दो किश्तें दी हैं। एक १६१६ में; दूसरी ११३५ में।

१६१६ का एक्ट—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन प्राप्ति के लिये केवल एक प्रथम किश्त मात्र था। इसमें चार मुख्य सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत किया गया। उनमें से प्रथम सिद्धान्त यह है कि जहां तक हो सके स्थानीय संस्थाओं पर सार्वजनिक नियन्त्रण रहे। दूसरा—क्रमश: उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना के लिये प्रांतों को उपयुक्त क्षेत्र मान कर कुछ अंशों में उत्तर दायित्व देना। इसका अभिप्राय यह है कि प्रांतीय शासन को, कानून बनाने में, शासन व्यवस्था में, तथा आर्थिक मामलों में, केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से छुटकारा मिलना चाहिये, और कुछ शासन-विभाग भारतीय निर्वाचित मन्त्रियों के हाथों में दिये जाने चाहिये। इसका अनुसरण करते हुए इस एक्ट के अनुसार प्रान्तों में द्वैध शासन का सूत्रपात किया गया। प्रांतों के शासन विभागों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया, एक भाग को—जिसे ट्रांसफर्ड विषय कहते हैं—भारतीय मन्त्रियों के अधीन कर दिया गया। यह मन्त्री प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित सदस्यों में से गवर्नर द्वारा चुने जाते थे। [यहां यह भी कह दिया जाय कि इस एक्ट के अनुसार कौंसलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई, तथा कम से कम ७०% सदस्य जनता द्वारा चुने जाने लगे]

दूसरे भाग को—जिसे रिजर्वड विषय कहते हैं—गवर्नर की कार्य-कारिणी समिति के सरकारी सदस्यों के अधीन कर दिया गया।

तीसरा सिद्धांत यह था कि भारत के शासन के लिये पार्लियामेण्ट सर्वथा जिम्मेदार है। लेकिन फिर भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की वृद्धि कर दी जानी चाहिये, तथा इसके सदस्य निर्वाचित होने चाहिये—ताकि ऐसा करने से शासन विभाग को लोकमत से परिचित तथा प्रभावित होने का अवसर मिल सके। इस भाव को क्रियात्मक रूप में लाने के लिये केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के दो हाउस कर दिये गये। एक का नाम था कांउसिल आफ़ स्टेट और दूसरे का व्यवस्थापिका सभा। कांउसिल आफ़ स्टेट के अधिक से अधिक ६० सदस्यों में से ३३ निर्वाचित तथा अधिक से अधिक २० सरकारी हो सकते थे। यह कांउसिल भारत की धनिकश्रेणी की प्रतिनिधि थी। और व्यवस्थापिका सभा, जनता की। व्यवस्थापिका सभा के अधिक से अधिक १४० सदस्य हो सकते थे, जिनमें से १०० निर्वाचित तथा २६ सरकारी होते थे।

चौथा सिद्धांत यह था कि उपर्युक्त परिवर्तनों के लिये पार्लियामैंट के नियमन को जितना कम करने की आवश्यकता हो उतना कम कर दिया जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैण्ड में "इण्डिया हाउस" की निगरानी करने के अधिकारों में परिवर्तन किया गया तथा, भारत मन्त्री को पार्लियामेण्ट की ओर से अपना वेतन मिलने लगा।

यहाँ हमने इस शासन-विधान पर टीका टिप्पणी नहीं करनी, बल्कि संक्षेप से १९१९ से लेकर १९३५ तक का इतिहास देना है।

यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि १९१९ के विधान ने देश की महत्वाकाँक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं किया। भारत भर में इसके विरुद्ध मत प्रकट किया गया। उस पर कुछ निराशा और असन्तोष को बढ़ाने वाली घटनाओं ने जले पर नमक का काम किया। इन्हीं दिनों रौलट बिल कानून बना था। इसके विरुद्ध भारत में इतनी हलचल मची कि पंजाब में "मार्शल ला" की घोषणा करनी पड़ी और जलियाँवाला बाग में गोली चलाई गई, जिससे सारा देश तड़प उठा। इसी काल में मुसलमान भी खिलाफ़त के प्रश्न पर क्षुब्ध हुए बैठे थे। उन्होने मित्र राष्ट्रों द्वारा तुर्किस्तान के टुकड़े करने की नीति का विरोध करने के लिये देश भर में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। इस सारी हलचल ने १९२१ में गान्धी जी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन का रूप धारण किया। तथा राष्ट्रीय कांग्रेस ने नये कानून के अन्तर्गत स्थापित की गई सभाओं का बायकाट किया।

तो भी, सब से प्रथम केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा ने—जिसमें गरम दल के कोई प्रतिनिधि नहीं थे—१९२१ के सितम्बर मास में इस एक्ट को बदलने के लिये एक प्रस्ताव पास किया। तीन वर्ष बाद, काँग्रेस के बहुत से सुप्रसिद्ध नेताओं ने लेजिस्लेटिव सभाओं में प्रवेश किया और वहाँ स्वराज्य दल की स्थापना की। इस असैम्बली ने, पं० मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में, बहुमत से भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना करने के लिये एक गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस बुलाने का प्रस्ताव पास किया। सरकार ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, परन्तु सर अलक्ज़ैण्डर मुडीमैन के सभापतित्व में, १९१९ के एक्ट की जाँच करने के लिये एक कमेटी नियुक्त कर दी। इस कमेटी के अधिक

सदस्यों ने, जिनमें सरकारी अफसर भी थे, यह मत प्रकट किया कि १९१९ का शासन विधान अच्छी तरह से चल रहा है। लेकिन अल्पसंख्यक सदस्यों का मत इसके विरुद्ध था। उनके मत के अनुसार द्वैध शासनप्रणाली चल नहीं सकती थी। अत: उन्होंने बताया कि इस विधान का प्रयोग असफल रहा है। सरकार बहुमत से सहमत थी, अत: सरकार ने उस कमेटी के प्रस्तावों का समर्थन करने के लिये एक प्रस्ताव पेश किया। लेकिन स्वराज्य पार्टी के नेता ने उस पर एक संशोधन पेश कर एक गोल मेज़ कान्फ्रेंस बुलाने की आवश्यकता पर पुन: ज़ोर दिया।

१९१९ के शासन-विधान के अनुसार अंग्रेज़ सरकार ने दस वर्ष बाद भारत में शिक्षावृद्धि और उत्तरदायित्व पूर्ण संस्थाओं के विकास की जांच करने के लिये एक सरकारी कमेटी नियुक्त करनी थी। इस कमेटी का काम जांच करने के अतिरिक्त नये परिवर्तनों के विषय में प्रस्ताव पेश करना भी था। साधारण तौर पर तो इसे १९३० में भारत में आना चाहिये था, लेकिन भारतीय आन्दोलन के कारण यह कमेटी १९२७ में नियुक्त की गई। इसका सभापति था सर जोन साइमन। लेकिन इस कमेटी ने भारतीय मान को और भी ठेस पहुंचाई, क्योंकि इस कमेटी में एक भी सदस्य भारतीय नहीं था। परिणाम यह निकला कि भारतीय उदारदल ने भी इसका बायकाट कर दिया। कांग्रेस ने तो ऐसा करना ही था। इसके उपरान्त १९३० में जब इस कमीशन की रिपोर्ट निकली—तो इसकी सभी ओर से निन्दा की गई।

इसी बीच में मज़दूर दल इंग्लैण्ड में शासनाधिरूढ़ हुआ। मज़दूर दल की भारत के प्रति सहानुभूति होने से भारतीयों में अब तक कुछ आशा बंधी हुई थी। मज़दूर सरकार ने लण्डन में गोल-मेज़ कान्फ्रेंस बुलाने की घोषणा की तथा भारतीय नेताओं को भावी शासन विधान पर विचार-विनिमय तथा परामर्श के लिये बुलाया।

परन्तु, दुर्भाग्य से, ब्रिटिश सरकार के इस निश्चय में यह बात स्पष्ट नहीं की गई थी कि इस शासन विधान का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य होगा! अतः राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसका भी बायकाट किया, और दोबारा सत्याग्रह आन्दोलन चलाया, जिसमें हज़ारों तथा लाखों की संख्या में पुरुष तथा स्त्रियों ने जान बूझकर कानून को तोड़ कर जेलयात्रा की।

नवम्बर के द्वितीय सप्ताह में प्रथम गोल मेज़ कान्फ्रेंस सम्राट् जार्ज पंचम द्वारा उद्घाटित की गई। प्रधान सचिव श्री रैम्ज़े मैकडानल्ड इसके सभापति चुने गये। कुछ भाषणों के अनन्तर कान्फ्रेंस को उपसमितियों में बाँट दिया गया, ताकि वह विधान के विभिन्न पहलुओं पर रिपोर्ट कर सकें। दस सप्ताह के विचार विनिमय के बाद प्रधान सचिव ने नये विधान के निम्नलिखित सिद्धान्तों की घोषणा की—

१.—अखिल भारतीय संघ की योजना
२.—केन्द्र में उत्तरदायित्व
३.—प्रान्तों में पूर्ण-स्वराज्य
४.—भारत के हित के लिये "सेफ़गार्ड्स" (Safeguards)

कांफ्रैंस के समाप्त होने पर भारत सरकार तथा राष्ट्रीय कांग्रेस में समझौता करने का प्रयत्न किया गया। इसके उपयुक्त वातावरण पैदा करने के लिये बन्दी नेताओं को मुक्त कर दिया गया। वायसराय लार्ड इरविन तथा महात्मा गांधी जी लम्बी बातचीत के बाद एक समझौते पर पहुंचे। कांग्रेस ने सत्याग्रह आन्दोलन को बन्द कर दिया, सत्याग्रहान्दोलन के बन्दी छोड़ दिये गये, तथा लार्ड इर्विन ने ब्रिटिश सरकार की अनुमति से घोषणा की कि द्वितीय गोल मेज़ कांफ्रेंस में संघ-शासन को एक स्वीकृत सिद्धान्त माना जायगा ; केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायित्व पूर्ण शासन दिया जायगा तथा रक्षा, बाह्य मामले, अल्प संख्यक जातियों की स्थिति आदि विषयों पर भारत के हित की दृष्टि से सेफ़गार्ड्ज़ भी होंगे। १६३१ के कांग्रेस के कराची अधिवेशन में कांग्रेस ने गोलमेज़ कांफ्रैंस को बायकाट करने का विचार छोड़ दिया। महात्मा गांधी को कांग्रेस का एकमात्र प्रतिनिधि बना कर भेजा गया। इन्हीं दिनों, इंग्लैण्ड में मज़दूर सरकार ने त्यागपत्र दे दिया तथा इसका स्थान "नैशनल गवर्नमेण्ट" ने लिया। इसमें अनुदार दल का बहुमत था। अब सैमुअल होर नया भारत मंत्री बना।

द्वितीय गोलमेज़ कांफ्रैंस में को निश्चय नहीं किया जासका। रियासतों के राजाओं ने अपने अधिकारों की रक्षा की मांग की-तथा इस बात पर ज़ोर दिया कि रियासत निवासियों के प्रतिनिधि न चुने जायें। अल्प-संख्यक जाति-समस्या का भी हल न होसका। इस पर रैम्ज़े मैकडानल्ड ने घोषणा की 'ब्रिटिश सरकार यथासम्भव बुद्धिमत्ता तथा न्यायशीलता से इस समस्या को हल

करेगी"। राष्ट्रीय मन को रक्षा, विदेशी नीति आदि विषयों पर सेफ़गार्ड्स पसन्द न आये। कांफ्रैंन्स के समाप्त हो जाने पर इस कार्य को जारी रखने के लिये भारत में वाइसराय के सभापतित्व में एक विमर्श समिति बनाई गई। अन्य उपसमितियां भी सुधार-संबंधी अन्य समस्याओं की जांच करने के लिये, नियुक्त की गई। इनका काम भारत में दौरा करके मताधिकार, तथा निर्वाचन क्षेत्र बनाने तथा संघ की आर्थिक स्थिति आदि विषयों पर छान बीन कर अपनी रिपोर्ट देना था।

महात्मा जी के भारत लौटने पर १९३२ के प्रारम्भ में ही सविनय-आज्ञाभंग आंदोलन फिर से प्रारम्भ हुआ। महात्मा गान्धी तथा अन्य प्रमुख नेता फिर से जेलों में डाल दिये गये। १९३२ में जैसा कि श्री रैम्से मैकडानल्ड ने घोषणा की थी—ब्रिटिश सरकार की ओर से "कम्यूनल अवार्ड" दिया गया। इससे भारतवर्ष में व्यवस्थापिका सभाओं में अल्पसंख्यक जातियों के लिये पृथक् निर्वाचन निश्चित करके, मुसलमान, सिखों तथा हरिजनों के लिये पृथक् २ हलके बना दिये गये इस प्रकार पृथक् निर्वाचन पद्धति जारी की गई। घोषणा के कुछ दिन बाद महात्मा गांधी ने 'कम्यूनल आवर्ड' की हरिजन सम्बन्धी धाराओं के विरोध में आमरण उपवास प्रारम्भ करने की घोषणा की। महात्मा जी के इस उपवास ने सारे देश भर में एक लहर सी उत्पन्न कर दी। इस के परिणाम स्वरूप पूना-पैक्ट हुआ, जिसके अनुसार "कम्यूनल अवार्ड" के मुकाबले में हरिजनों को व्यवस्थापिका सभाओं में दुगने स्थान मिले। लेकिन इनका चुनाव पृथक् निर्वाचन पद्धति के अनुसार न कर सम्मिलित रूप में करने का निश्चय किया गया। प्रत्येक हलके के लिये हरिजन

मिलकर चार उम्मीदवार चुन लेंगे। उन चारों में से सामान्य निर्वाचन में एक हरिजन ले लिया जायगा। इस तरह एक ओर तो हरिजनों के स्थान सुरक्षित रहेंगे, दूसरी ओर वह हिन्दु जाति से पृथक् न होंगे।

१९३२ के अन्त में तृतीय गोल मेज़ कांफ्रेंस का अधिवेशन हुआ, जिस में भिन्न भिन्न उपसमितियों की रिपोर्टों की जांच कर कांफ्रेंस ने अपने निर्णयों को ब्रिटिश सरकार के आगे पेश कर दिया। उन पर विचार कर के मार्च १९३३ में 'व्हाइट पेपर' प्रकाशित किया गया। इस में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय शासन विधान में सुधार करने के लिये अपने प्रस्ताव उपस्थित किये। कुछ दिनोंके बाद पार्लियामेंट के दोनों भवनों से कुछ सदस्य लेकर एक संयुक्त कमेटी बनाई गई। इसका काम "व्हाइट पेपर" पर भारतीय प्रतिनिधियों की सहायता से विचार करना था। लार्ड लिनलिथगो इस कमेटी के सभापति थे। इस कमेटी ने एक बड़ी-सी रिपोर्ट पेश की।

इस के बाद ब्रिटिश सरकार ने इतने लम्बे चौड़े विचार विनिमय के परिणाम को क्रियात्मक रूप देने के लिये पार्लियामेंट में एक बिल पेश किया, जो कि १९३५ के सितम्बर में कानून बन गया।

इस नवीन विधान के मुख्य सिद्धान्त थे—

प्रथम—रियासती भारत तथा ब्रिटिश भारत का एक अखिल भारतीय संघ।

द्वितीय—संघ के केन्द्र में किसी सीमा तक उत्तरदायित्व सिद्धान्त का स्थान। (इसके साथ ही पर्याप्त सेफगार्ड्स भी रक्खे

गए। गवर्नर जनरल के हाथों में भारी संख्या में अधिकार तथा विशेष उत्तरदायित्व दिये गये हैं।)

तृतीय—प्रान्तों में पूर्ण स्वराज्य।

(यहां भी गवर्नर को भारी संख्या में अधिकार तथा विशेष उत्तरदायित्व दिये गए हैं।)

(३)

शासन विधान के कुछ सिद्धान्त

भारतीय शासन विधान के अध्ययन में हमने मुख्यतया इसके तीन अंगों को समझना है। प्रथम अंग—इंग्लैण्ड में भारतीय शासन-सत्र, दूसरा केन्द्र तथा तीसरा प्रान्तीय सरकारें। लेकिन इसके पूर्व कि हम इन तीनों विषयों पर कुछ विस्तार से कहें, यहाँ व्यवस्थापिका सभा तथा संघ शासन के सिद्धान्तों पर कुछ कहना आवश्यक है, ताकि पाठक इसके बाद लिखे जाने वाले पृष्ठों को समझ सकें और उन पर अपने विचार बना सकें।

व्यवस्थापिका सभा—

इस शीर्षक के अन्तर्गत हमने चार मुख्य बातों पर विचार करना है। प्रथम यह देखना है कि आधुनिक शासनविधानों में व्यवस्थापिका सभाओं का क्या महत्त्व है, दूसरे इनके कार्य क्या हैं। उसके बाद मताधिकार तथा निर्वाचकमण्डल के विषय पर और अन्त में व्यवस्थापिका सभा की दो भवनों की पद्धति पर विचार करना है।

लोकतन्त्र तथा प्रजातन्त्र के नाम से सभी परिचित हैं। शब्दार्थ इसका है—लोगों का राज्य। लेकिन लोगों का राज्य कैसे होता है—यह सभी लोग नहीं जानते। लोकतन्त्र के आदर्श को क्रियात्मक रूप देने का श्रेय अंग्रेज़ों को है। यह कार्य कोई

एक बार बैठकर कुछ दिनों या मासों या वर्षों में नहीं हुआ, बल्कि इसके विकास होने में शताब्दियाँ लगीं। हमने यहां इस विकास का इतिहास नहीं देना। केवल लोकतन्त्र को क्रियात्मक रूप में लाने के ढंग का वर्णन करना है। यह तो सभी समझ सकते हैं कि शासन के कार्य में सारी की सारी जनता भाग नहीं ले सकती। इस समस्या को हल करने के लिये प्रतिनिधि प्रणाली की आवश्यकता पड़ी। अर्थात् सारे देश को कुछ भागों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक हल्के से प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। उनकी एक या दो काउंसिलें बनती हैं—उपरला हाऊस तथा निचला हाऊस। निचले हाउस के बहुमत दल में से दल का नेता मन्त्रियों को चुनता है। यही मन्त्रिमण्डल कहलाता है। यह मन्त्रिमण्डल सारे देश के शासन के लिये व्यवस्थापिका सभा की अनुमति से सामान्य नीति को स्थिर करता है। इस नीति को शासक विभाग (executive) कार्यरूप में लाता है। इस प्रकार देश के शासन पर मन्त्रिमण्डल का, मन्त्रिमण्डल पर व्यवस्थापिका सभा का, तथा व्यवस्थापिका सभा पर लोगों का प्रभुत्व होता है। इस पद्धति को प्रतिनिधि सत्तात्मक या पार्लियामेन्ट्री शासनविधान कहते हैं।

इस संक्षिप्त विवरण देने का अभिप्राय प्रजातन्त्र में व्यवस्थापिका सभा के महत्व का निर्देश कराना है। पहले व्यवस्थापिका सभा का काम देश के लिये कानून बनाना ही होता था। परन्तु अब उस सरल स्थिति से बढ़कर इसका कार्य शासन पर सामान्य नियन्त्रण करना भी है।

उत्तरदायी शासन की घुण्डी है—शासकवर्ग पर व्यवस्थापिका सभा का पूर्ण नियन्त्रण। अतः लोकतन्त्र शासन में उत्तरदायी

शासन को जाँचने की कसौटी है—व्यवस्थापिका सभा की शक्तियाँ तथा कार्य। आधुनिक व्यवस्थापिका सभाओं का कार्य केवल कानून बनाना ही नहीं, बल्कि आवश्यक धन को व्यय करने की अनुज्ञा देना, मन्त्रियों को एक प्रकार से चुनना, मन्त्रिमण्डल की नीति पर नियन्त्रण, उनके कार्य पर निगरानी रखना तथा उसमें आवश्यक परिवर्तन करना। यदि मन्त्रिमण्डल की नीति प्रतिनिधियों को ठीक न जंचे और मन्त्रिमन्डल अपनी बात पर अड़ा रहे तो उसे हटाया तक जा सकता है। एवं, यद्यपि व्यवस्थापिका सभा शासन कार्य की दैनिक कार्रवाही का निरीक्षण नहीं करती तो भी शासन के तथा राष्ट्र नीति के सामान्य सिद्धान्तों का निर्णय उसी के हाथों में रहता है। ऐसे शासन को उत्तरदायी शासन कहते हैं। ऐसे शासन के लिये ही भारतीय मांग कर रहे हैं। अतः किसी भी शासनविधान में प्रजातन्त्रत्व तथा उत्तरदायित्व को मापने के लिये यह देखना होगा कि उस विधान में व्यवसथापिका सभा का शासक-वर्ग पर कितना प्रभाव है।

व्यवस्थापिका सभा के कार्यों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - कानून बनाना, शासन की देख-भाल करना तथा आय-व्यय पर नियन्त्रण रखना। अर्थात् देश में जो भी कानून लागू हों, जिनका पालन जनता से करवाना हो तथा जो कानून कचहरियों में चलते हैं, वे सब इस सभा में पास होने चाहिएं।

शासन की देख-भाल कई उपायों से की जाती है। सार्वजनिक महत्वशाली विषयों पर अपने स्पष्ट मत को प्रकट करने के लिये सभा प्रस्ताव को पास करा देती है। इससे कानून बनाते समय की पेचीदगी से मुक्त हो सकती है। यद्यपि ऐसे प्रस्तावों का कानून की

दृष्टि में महत्व नहीं होता, तो भी यह शासकवर्ग को प्रदर्शित करने का कार्य अवश्य करते हैं। यदि शासकवर्ग अधिक अड़ियल हो और वह सदस्यों के मत का तिरस्कार करे तो सरकार पर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उनको होश में लाया जा सकता है। अविश्वास के प्रस्ताव के पास हो जाने पर उत्तरदायी शासकवर्ग को शासन कार्य से हटा दिया जाता है और नया मन्त्रिमण्डल बनाया जाता है। और यदि कोई विशेष घटना हो जाय, जिसका सार्वजनिक हित से सम्बन्ध हो तो सरकार का ध्यान उस पर खींचने के लिये स्थगित-प्रस्ताव पेश किया जा सकता है। शासन के किसी विभाग के रूटीन कार्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछे जासकते हैं। इससे शासन कार्य की गड़बड़ी को लोगों के सन्मुख लाया जा सकता है।

व्यवस्थापिका सभा का तीसरा मुख्य कार्य है, आय-व्यय का नियन्त्रण तथा निरीक्षण। वास्तव में यह लोकतन्त्र का एक सार है, क्योंकि जैसे शरीर के लिये श्वासप्रश्वास की आवश्यकता है, वैसे ही एक राष्ट्र को धन की आवश्यकता है। इस अधिकार को प्राप्त करने के लिये, इंग्लैंड में चिरकाल तक, विशेषतया ब्रिटिश इतिहास के स्टूअर्ट-काल में लोगों तथा इंग्लैंड के राजाओं में भारी संघर्ष रहा। अब तो इंग्लैण्ड में पार्लियामेंट का ही आर्थिक मामलों पर अखण्ड प्रभुत्व है। शासक-वर्ग केवल उतना ही व्यय कर सकते हैं, जितना पार्लियामेंट पास करे। वास्तव में उत्तरदायी शासन की परीक्षा के लिये व्यवस्थापिका सभा का आय-व्यय पर नियन्त्रण एक कसौटी है।

मताधिकार तथा निर्वाचक-मण्डल

प्रजातन्त्र शासन का अन्तिम आधार है, निर्वाचन पद्धति। अतः आदर्श स्थिति में तो प्रजातन्त्र में सभी पुरुषों तथ स्त्रियों को वोट देने का अधिकार होना चाहिये और जहां तक हो सके, कम से कम व्यक्तियों को वोट के अयोग्य समझा जाना चाहिये। किन व्यक्तियों को वोट नहीं मिलना चाहिये ; इस प्रश्न के उत्तर पर प्रजातन्त्र का प्रजातन्त्रत्व निर्भर है। इस कार्य के लिये कुछ अयोग्य व्यक्ति तो स्पष्ट ही हैं—जैसे बच्चे, लड़के, पागल, अपराधी, दिवालिये। पहले तो प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन में स्त्रियों, निर्धनों, श्रमजीवियों तथा मज़दूरों को भी वोट का अधिकार नहीं दिया जाता था। लेकिन आधुनिक काल में ऐसा करना ठीक नहीं माना जाता। अब तो मताधिकार के लिये जायदाद, टैक्स तथा शिक्षासम्बन्धी शर्तें होती हैं। कुछ पाश्चात्य देशों ने जायदाद की शर्त भी हटा दी है। नेहरु रिपोर्ट ने भारत में सभी बालिग़ों को मताधिकार देने के प्रस्ताव का समर्थन किया था।

भारत में मताधिकार प्रायः जायदाद, जाति तथा विशेष हितों की शर्तों पर दिया जाता है। भारत में इसके अतिरिक्त निर्वाचन मण्डल भी इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। सामान्य निर्वाचक-मण्डल में किसी प्रकार के जातीय भेद का विचार नहीं किया जाता। भारत में ऐसे मण्डल नहीं हैं। कुछ थोड़ा-बहुत सामान्य-मण्डल से मिलते-जुलते निर्वाचक-मण्डल ग़ैर-मुसलमानी हैं। इनमें हिन्दु, पारसी, ईसाई आदि सभी वोट देते हैं। इन मतदाताओं को केवल जायदाद की शर्त पूरी करनी होती है, और किसी विशेष हलके में निवास करना होता है। साम्प्रदायिक निर्वाचनमण्डलों में किसी विशेष सम्प्रदाय को

अधिकार प्राप्त होता है। भारत में पृथक् निर्वाचन पद्धति के अनुसार मुसलमानों, सिक्खों तथा कई नगरों में यूरोपियनों का चुनाव होता है। इन दोनों पद्धतियों को मिलाया भी जा सकता है— जिसमें संयुक्त निर्वाचन पद्धति के साथ विशेष जातियों के लिये विशेष स्थानों की संख्या सुरक्षित रखी जाती है। उदाहरण के तौर पर एक हलके को लीजिये, जिस में से तीन प्रतिनिधियों में से एक स्थान मुसलमान को मिलता है। इस अवस्था में यदि सब से अधिक वोट प्राप्त करने वाले प्रथम तीन व्यक्ति हिन्दु हों तो दो स्थान तो हिन्दुओं को दिये जायेंगे और तीसरा स्थान मुसलमानों को मिलेगा। भेद इतना ही होता है कि पृथक् निर्वाचन-पद्धति में उम्मीदवार को केवल अपनी जाति की दृष्टि में अपने को योग्य सिद्ध करना होता है, परन्तु संयुक्त निर्वाचन में उसे सभी लोगों में सर्वप्रिय होना होता है।

इसके अतिरिक्त विशेष निर्वाचक-मण्डल भी होते हैं। इनके द्वारा देश के ज़मींदार, व्यापार-व्यवसाय तथा विश्व-विद्यालय आदि अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। इस विशेष निर्वाचन से देश के उन विशेष हितों को—जो कि राष्ट्र के लिए उपयोगी हों—प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिलता है। भारत में कुछ विश्व-विद्यालयों को तथा यूरोपियन व्यापार संघ, भारतीय व्यापार संघ आदि संस्थाओं को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया है।

एक बात। और १९१९ के एक्ट के अनुसार—६० लाख व्यक्तियों को मताधिकार मिला था। लेकिन १९३५ के एक्ट ने ३ करोड़ व्यक्तियों को वोट के अधिकार दे दिये हैं।

पृथक निर्वाचन पद्धति क्यों ?

भारत में यह पद्धति, सर्वप्रथम १९०९ में मिण्टो मोर्ले सुधार के अन्तर्गत प्रारम्भ की गई थी। इसका उद्देश्य भारत में अल्प-संख्यक जातियों के हितों की रक्षा करना था। प्रजातन्त्र में सबसे बड़ी त्रुटि है—बहुमत से अल्पसंख्यक जातियों को भय। क्योंकि बहुमत वाली जातियां प्रायः अपनी संकुचित भावनाओं के कारण अल्पमत वाले लोगों की परवाह नहीं करतीं, और शासनकार्य में पक्षपात से काम लेती हैं। ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में भारत जैसे देश में इस भय के लिये विशेष स्थान है। क्योंकि यहां दलबन्दी राजनीतिक तथा सामाजिक विचारों से भी हैं; मोर्ले साहब को इसका सबसे अच्छा उपाय १९०९ में पृथक्-निर्वाचन पद्धति ही सूझा।

परन्तु इससे राष्ट्र की राष्ट्रीयता को हानि होती है, क्योंकि पृथक् निर्वाचन में पृथक् पृथक् दलों की विभिन्नता पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, जिससे उस देश के बसने वाले संगठित होने के स्थान पर एक दूसरे से शंकित रहते हैं। एक दूसरे के पड़ोसी बनने के स्थान पर प्रतिद्वन्द्वी तथा शत्रु बन जाते हैं। इस पद्धति में कट्टर व्यक्तियों के चुने जाने की अधिक सम्भावना होती है। पृथक्-निर्वाचन से चुने जाने के कारण, इन जातियों के प्रतिनिधि केवल साम्प्रदायिक हितों का ही ध्यान रखकर अपने निर्वाचक मण्डल की दृष्टि में सर्वप्रियता प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में वह राष्ट्रीय हितों की परवाह नहीं करते। लेकिन अब तो साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति भारतीय शासन विधान का स्थिर अंग बन गई है।

व्यवस्थापिका सभा के दो भवनों की पद्धति

इस पद्धति के अनुसार व्यवस्थापिका सभा के दो भवन होते हैं। इन दोनों भवनों के पृथक् पृथक् निर्वाचक मण्डल होते हैं। इनकी शक्तियाँ, तथा राजनीतिक महत्व एक जैसा नहीं होता। उपरले हाउस में देश के धनिक वर्ग तथा ज़मींदारों आदि के प्रतिनिधि रहते हैं। निचला हाऊस जनता द्वारा निर्वाचित होता है। इसलिए इसके अधिकार भी अधिक होते हैं, क्योंकि ऊपरले हाऊस के सदस्य सम्भ्रान्त व्यक्ति होते हैं, अतः वे राष्ट्र के सभी अंगों की आवश्यकताओं को नहीं समझ सकते, इसीलिए उनके हाथों में अर्थनीति और आय-व्यय सम्बन्धी क्षेत्र में अधिकार नहीं दिया जाता। इन प्रश्नों पर प्रायः निचले हाऊस का निर्णय अन्तिम होता है।

इस विषय पर—कि व्यवस्थापिका सभा के दो भवन होने चाहियें या नहीं—राजनीतिक विचारकों में मतभेद है। कई राज-नीति शास्त्रज्ञ उपरले हाउस को निरर्थक समझते हैं, क्योंकि इससे शासन कार्य में पेचीदगी बढ़ती है, अतः इससे राष्ट्र के बहुमूल्य समय, धनादि की हानि होती है। भारत में १६१६ के एक्ट से केन्द्र में दो भवनों की व्यवस्थापिका सभा बनाई गई। अब नये एक्ट के अन्तर्गत कुछ प्रान्तों में भी ऊपरला हाऊस बना दिया गया है, ताकि वह निचले हाऊस के प्रस्तावों में परिवर्तन कर सके। लेकिन भारतीय राष्ट्रीय विचार वाले इसे भारतीय प्रगति में एक बाधा मानते हैं।

संघ शासन

जैसा कि प्रायः विदित ही है, लोकतन्त्र का सिद्धान्त ईसा

से पहले भी इतिहास में प्राचीन ग्रीस की कतिपय जातियों में तथा भारत में लिच्छवी आदि जातियों में मिलता है। लेकिन संघ शासन एक नवीन संस्था है। इसका नामकरण संस्कार एक प्रकार से १७८७ में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के स्वतन्त्रता प्राप्त करने के अवसर पर हुआ था। संघ शासन की आवश्यकता परिस्थितियों ने पैदा की। आवश्यकता का कारण था स्वतन्त्र छोटे छोटे राज्यों का पड़ोस। ये छोटे छोटे राज्य एक ओर अपनी स्वतन्त्रता को छोडना नहीं चाहते थे और दूसरी ओर विदेशी आक्रमणों से अकेले अपनी रक्षा नहीं कर सकते थे। उस पर आधुनिक युग में आर्थिक हितों के लिये बड़े राष्ट्र तथा एक नीति का होना लाभदायक होता है। ऐसी परिस्थितियाँ संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कैनेडा तथा आस्ट्रेलिया में पैदा हुई—अतः वहां संघशासन स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी।

सुप्रसिद्ध विधान-शास्त्रज्ञ डाइसे ने संघशासन स्थापित करने के लिये दो अवस्थाओं का होना आवश्यक माना है। एक तो यह कि जो राष्ट्र या प्रान्त अपने आपको संघशासन के अधीन करना चाहें वे जातीय, ऐतिहासिक आदि किसी भाव के कारण सम्पूर्ण संघ को एक राष्ट्र के रूप में जान सकें ताकि उन पर एकराष्ट्रीयता की मुद्रा लग सके। दूसरे वे संघ (union) के इच्छुक हों, एकता (unity) के नहीं। अर्थात् एक ओर तो वे अपनी स्वतन्त्रता सुरक्षित रख सकें, और दूसरी ओर राष्ट्रीय कार्यों के लिये वे एक साथ जुट सकें।

इस विधान के बनाने के लिये, स्वतन्त्र राष्ट्र अपने प्रभुत्व के कुछ विभागों को संघ के हाथों में सौंपना स्वीकार करते हैं। बस, उसी सीमा तक आन्तरिक मामलों में वे संघ के सीधा

अधीन रहेंगे। ऐसी अवस्था में भविष्य के झगड़ों को रोकने के लिये इस विधान को विस्तारपूर्वक लिखा जाता है। विशेषतया इसमें प्रभुत्व के जिस भाग को छोटे राष्ट्र संघ को सौंपा जाता है, उसको स्पष्टतया लिखा जाता है। तो भी ऐसे विधान में, विधान की व्याख्या पर झगड़ा होने की काफ़ी गुञ्जा-यश रहती है। इन झगड़ों को निबटाने के लिये फ़िडलर कोर्ट की आवश्यकता पड़ जाती है। इस कोर्ट का काम संघ के सदस्य प्रांतों से; तथा एक सदस्य प्रान्त का दूसरे सदस्य प्रान्त के बीच झगड़ा निपटाना होता है।

ऊपर के विवरण से यह पता चल गया होगा कि संघ शासन की मुख्य विशेषतायें क्या क्या हैं। पहली बात तो विधान की प्रमुखता है, क्योंकि संघशासन का अस्तित्व ही इससे है। इस प्रसंग में कतिपय बातों को नोट करना चाहिये। एक विधान लिखित, तथा अपरिवर्तनीय होता है। दूसरे, संघ के सदस्य प्रान्तों में जितनी व्यवस्थापिका सभाएं होती हैं वे संघ की व्यवस्थापिका सभा के अधीन होती हैं। तीसरी बात शक्तियों का संघ के सदस्य विभागों में बांटना तथा फ़िडरल कोर्ट का नियमों की व्याख्या करने का सर्वमाननीय अधिकार शक्तियों को बांटते समय, जो शक्तियाँ सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिये आवश्यक होती हैं, उन्हें संघ के अधीन कर दिया जाता है। तथा स्थानीय आन्तरिक आवश्यकताओं के लिये जिन शक्तियों की ज़रूरत होती है, वे प्रान्तों के पास ही रहने दी जाती हैं।

अगले अध्याय में भारतीय शासन विधान का विवरण देना है। इसको हम तीन भागों में विभक्त करेंगे—इंगलैण्ड में, केन्द्र में तथा प्रान्तों में। परन्तु इस क्रम को कुछ बदल

दिया जायेगा। सब से प्रथम केन्द्र के सम्बन्ध में अर्थात् भारतीय संघ शासन पर लिखा जायेगा। उसके बाद प्रान्तों पर और सबसे अन्त में इंग्लैण्ड से संचालित होने वाले भारतीय शासन पर। यहां यह भी बता दिया जाय कि १६३५ के एक्ट में भारत मन्त्री के अधिकार ११ वें अध्यायों में दिये गये हैं। ऐसा क्यों किया गया। यह अपने आप बाद में पता चल जायेगा।

अखिल भारतीय संघ

अंग्रेज़ों ने सारे भारत को अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया था, इसी लिये नक्शे में आज भारत के दो भाग नज़र आते हैं, एक पीला तथा दूसरा लाल, अर्थात् रियासती तथा ब्रिटिश। लेकिन यह तो एक ऐतिहासिक घटनामात्र है। इन देसी राजाओं के पूर्वज या तो स्वतन्त्र राजे थे या शक्तिशाली शासक सचिव, व सेनापति। १८ वीं तथा १६ वीं शताब्दी के राजनीतिक बवण्डर के सन्मुख बहुत से ऐसे महत्वाकांक्षियों का नाश होगया। केवल वही जो कि उस बवण्डर के आगे झुकने की बुद्धिमता रखते थे – अपने गौरव तथा राजनीतिक अधिकारों का मूल्य देकर अपने आप को बचाये रख सके।

परन्तु रियासती तथा ब्रिटिश भारत के इस द्वैध के होते हुए भी भारत, वास्तव में, सांस्कृतिक दृष्टिकोण से; बहुत हद तक एक ही देश है। भूगोल की दृष्टि से तो वह एक ही है। ऐतिहासिक दृष्टि कोण से, चन्द्रगुप्त, अशोक, अकबर आदि सम्राटों के काल में वह एक रह चुका है। रियासती तथा ब्रिटिश भारत की जनता जाति तथा धर्म की दृष्टि से एक जैसी हैं। सम्पूर्ण भारत की आर्थिक समस्यायें भी भिन्न नहीं। राजनीतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत अंग्रेज़ों के अधीन है। उस पर राष्ट्रीय भावना भी जनता में जागृत हो चुकी है। ऐसी अवस्था में संघशासन की वांच्छनी-

यता स्पष्ट हो जाती है। ऐसा विचार श्री मौण्टेगु के मनमें भी था। बटलर कमेटी[1] तथा साइमन कमीशन के सामने भी ऐसा विचार था। लेकिन यह कभी उनके मन में न था कि यह बात इतना शीघ्र वैधानिक रूप धारण कर लेगी, क्योंकि तब यह सम्भव प्रतीत नहीं होता था कि रियासती नरेश भी इसमें प्रवेश करना चाहेंगे। वे प्रवेश क्यों नहीं करना चाहते थे ?

इस विषय को समझने के लिये हमें रियासतों की तथा प्रान्तों की वैधानिक स्थिति की जाँच करनी होगी। रियासतों की वैधानिक स्थिति बड़ी अजीब-सी है। उनकी राजनीतिक स्वतन्त्रता अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में स्वीकार नहीं की जाती। उनके रक्षा तथा बाह्य मामले तो ब्रिटिश सरकार के हाथों में है, लेकिन आन्तरिक मामलों में कई रियासती राजाओं को सम्पूर्ण शासन के अधिकार प्राप्त हैं। आन्तरिक क्षेत्र में भी, कुशासन के समय ब्रिटिश सरकार हस्ताक्षेप कर सकती है। लेकिन ऐसा प्रायः नहीं किया जाता। यद्यपि जब कभी हस्ताक्षेप किया जाता है तो वह प्रभावरहित नहीं होता। सम्राट् की ओर से यह नियन्त्रण सम्राट् का प्रतिनिधि वायसराय तथा भारतसरकार किया करती थी।

ब्रिटिश भारत में रेगुलेटिंग एक्ट और विशेषतया १८३३ तथा १८५८ के कानूनों ने, एक अति केन्द्रित शासनप्रणाली स्थापित करदी थी। सम्पूर्ण फौजी तथा सिविल अधिकार इसके हाथ में थे। शासन की सुगमता के लिये प्रान्तों को बनाने की अवश्यकता पड़ी और वहां प्रान्तीय शासन की स्थापना भी की गई, लेकिन उनको यह सारे अधिकार केन्द्रिय सरकार से मिले थे। प्रान्तीय सरकार वही कार्य कर सकती थी

---

1. देखो पृष्ट ४४

जिन के लिये उन्हें केन्द्रीय सरकार से आदेश मिलते थे। लार्ड मेयो ने १८७० में अधिकार विभाजन (Decentralisation) प्रारम्भ किया। यह विभाजन मोण्टफ़ोर्ट सुधार के समय काफी हद तक पहुंच गया था, लेकिन ऐसा होने पर भी प्रान्तों को कोई नई वैधानिक पदवी नहीं मिली। केन्द्रीय सरकार ही भारत के शासन के लिये उत्तरदायी थी। प्रान्तीय सरकार तो केवल केन्द्रीय सरकार की एजेण्ट-मात्र थी।

इस प्रकार आज भारत में दो अंग हैं, जो राजनीतिक भारत को बनाते हैं। एक अंग तो इनमें से आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र है। अतः इस अंग को अखिल भारतीय संघ में प्रवेश करने के लिये अपने अधिकारों के कुछ भाग का त्याग करना पड़ेगा। दूसरा अंग ब्रिटिश प्रान्तीय सरकारें हैं, जिनको केन्द्रीय सरकार से अधिकार मिले हैं और जो केन्द्रीय सरकार की इच्छानुसार घटाये अथवा बढ़ाये जा सकते हैं। उन्होंने तो संघ में प्रविष्ठ होने के लिये कुछ भी नहीं छोड़ना। उनके पास अपने अधिकार हैं ही कौन से, जिनको उन्होंने छोड़ना हो। बल्कि संघ शासन में प्रवेश करने से उन्हें तो एक नई वैधानिक पदवी प्राप्त हो जायगी।

इस अवस्था में रियासतें संघ में प्रवेश करने से झिझकती थीं। उनको प्रवेश करने के लिये कोई बाधित भी नहीं कर सकता। एक और बात भी थी। रियासतों के सम्बन्ध में सम्राट् के स्थान पर वायसराय तथा भारत सरकार सम्राट् की पैरामऊंट (Paramount) शक्ति का प्रयोग करते थे। अब तक भारतसरकार का रूप तो नौकरशाही था। लेकिन ब्रिटिश भारत में राजनीतिक प्रगति के साथ-साथ भारतसरकार के

स्वरूप में भी परिवर्तन आना था, इसे अपना नौकरशाही रूप छोड़कर उत्तरदायी रूप धारण करना था। उत्तरदायी रूप की प्राप्ति पर भारतीय रियासतों पर (चाहे परोक्ष रूप में) भारतीय जनता का नियन्त्रण हो जाना था। यह रियासती नरेश भला कैसे पसन्द कर सकते थे? इसलिये उनके कहने पर बटलर कमेटी बैठाई गई, जिसने यह निश्चय किया कि रियासतों का सम्बन्ध सीधा सम्राट् से है, भारतीय सरकार से नहीं। दूसरी बात इस कमेटी ने यह कही कि रियासतों को, बिना उनकी अपनी मर्ज़ी के ब्रिटिश भारत में नई उत्तरदायी सरकार के साथ किस प्रकार से सम्बद्ध न किया जाये। यह १९२७ की बात है।

गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस पर किसी को यह आशा न थी कि रियासतें संघ में प्रवेश करना स्वीकार करेंगी। अतः सभी को, रियासती नरेशों के संघ में प्रवेश करने के निश्चय को सुन कर अचम्भा हुआ था। इसका विशेष कारण था। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता को सन्तुष्ट करने के लिये कुछ अंशों में केन्द्र में उत्तरदायित्व शासन देना था। लेकिन इस बात से वह घबराती भी थी। यदि किसी प्रकार से केन्द्र में अनुदार दल का बहुमत कायम हो जाता, तो उनको घबराने का कोई कारण न रहता। मारक्वेस आफ रीडिङ्ग के शब्दों में "यदि संघशासन में भारतीय नरेश प्रवेश करें तो मैं भारत को कुछ सेफ़गाड्ज़ के साथ उत्तरदायी शासन देने को तैयार हूं।"

भारतीय राजाओं के निश्चय को मान कर ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि भारतीय रियासतों का राजनीतिक सम्बन्ध ब्रिटिश सम्राट् से अथवा उसके प्रतिनिधि वायसराय से है, न कि भारत सरकार से। रियासती नरेशों को संघ में प्रवेश कराने के

लिये उन्हें उनके अनुपात से कहीं अधिक स्थान फिडरल व्यवस्थापिका सभा में दिए गए।

नरेशों को अपना रुख बदलने में लाभ नज़र आया, संघ में प्रवेश करने से वे ब्रिटिश भारत में राजनीतिक प्रगति के प्रभाव को रियासतों में फैलने से रोक सकेंगे। उस पर उनको "पैरामाऊंट पावर" से कुछ सीमा तक मुक्ति मिलेगी, तथा पोलिटिकल डिपार्टमेंट के बर्ताव से छुटकारा मिलेगा। संघ में प्रवेश करने से ब्रिटिश भारत तथा रियासतों के परस्पर विरोधी हितों का समीकरण हो सकेगा और भारतीय सरकार में उनकी आवाज़ सुनी जायगी।

अब रियासतों के संघ में प्रवेश करने से उनकी वैधानिक स्थिति तीन तरह की हो जायगी। आन्तारिक मामलों में वे लगभग स्वतन्त्र होंगी, दूसरे उस सीमा तक वे संघ शासन के अन्तर्गत होंगी, जिस सीमा तक उन्होंने अपनी शक्तियां संघ शासन को सौंप दी हैं। तीसरे वे सम्राट् की पैरामाऊंट पावर के अधीन होंगी।

दूसरी ओर प्रान्तों को, कुछ सेफ़ागार्डों के साथ, आंतरिक स्वराज्य मिला। इस विषय पर हम अगले अध्याय में विस्तार से लिखेंगे

भारतीय संघशासन की विशेषतायें

पिछले अध्याय में हमने सामान्य संघ शासन की विशेतायें संक्षेप से बताई थीं। उनमें से कुछ विशेषतायें इस में भी हैं। यह भी लिखित है। इसमें भी केन्द्र तथा प्रान्तीय अधिकारों की बांट की गई है। यहां भी एक फिडरल कोर्ट की स्था-

पना की गई है । लेकिन अन्य बहुत बातों में भेद भी है। सबसे पहले तो संघ में शासन राष्ट्र की एकता को तोड़ रहा है। संघ शासन तो वहां स्थापित किया जाता है, जहाँ भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को, आक्रमण आदि भयों तथा अन्य कारणों से अपनी रक्षा करनी हो। यहां तो पहले ही सारा देश केन्द्रीय सरकार के अधीन था। यहां वह स्थितियाँ—जिन में प्रायः संघ शासन का निर्माण किया जाता है - थीं ही नहीं । यह बात संयुक्त पार्लियामेण्ट्री कमेटी ने भी मानी है ।

दूसरी बात यह है कि रियासतों तथा प्रान्तीय सरकारों की वैधानिक स्थिति में भेद है । रियासतें तो राजाओं के व्यक्तिगत शासन के अन्तर्गत हैं। लेकिन प्रान्तीय सरकारें लगभग उत्तरदायित्व पा चुकी हैं । उस पर रियासतों के प्रतिनिधियों को देशी नरेश नामज़द करेंगे, लेकिन प्रान्तीय प्रतिनिधि, निर्वाचन से ही फिडरल व्यवस्थापिका सभा में स्थान प्राप्त करेंगे । प्रायः संघ शासन का संघ के सदस्य प्रान्तों में एक जैसा प्रभुत्व होता है । लेकिन यहां ऐसा नहीं । ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में तो संघ शासन का प्रभुत्व सामान्य होगा। लेकिन रियासतों में केवल उन्हीं क्षेत्रों में प्रभुत्व होगा, जिन में देशी रियासतों के नरेश उसका प्रभुत्व मनाना स्वीकार करें। इसके अतिरिक्त रियासतों का संघ में प्रवेश करना उनकी मर्जी पर निर्भर है। लेकिन ब्रिटिश भारत के प्रान्तों को तो संघ शासन में प्रवेश करना ही होगा ।

तीसरी बात यह कि इस विधान में परिवर्तन करने का ब्रिटिश पार्लियामेण्ट को ही अधिकार है ।

चौथी बात फ़िडरल व्यवस्थापिका सभा के दोनों भवन निर्माण करने के सम्बन्ध में है। आम तौर पर निचले हाउस में

संघ के सभी सदस्यों को आबादी के अनुपात से स्थान दिये जाते हैं तथा उपरले हाउस में राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से सभी को सामन प्रतिनिधित्व दिया जाता है। लेकिन यहां इस सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया गया। यहां तो व्यवस्थापिका सभा के उपरले हाउस के लिये सीधा चुनाव होता है तथा निचले हाउस के लिये परोक्ष ढंग से—वह भी सम्प्रदायिक पद्धति का अनुसरण करते हुए। इसके फल स्वरूप, संघ-शासन स्थापित करने के उद्देश्य—अर्थात् भारत की सहज एकता तथा राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से—को एक प्रकार से हानि पहुंचती है।

पांचवीं बात; यह-संघशासन नाममात्र को ही संघ-शासन है। वास्तव में यह अति केन्द्रित शासन रहेगा। और तो और, प्रान्तीय विषयों पर भी यहां गवर्नर जनरल का नियन्त्रण रहता है। अतः एक तरह से प्रान्तीय सरकारें भी पूर्णतया उत्तरदायी नहीं।

उस पर अतिरिक्त शक्तियों (Residuary powers) के विषय में निर्णय करना गवर्नर जनरल की विवेचनात्मक शक्तियों के अन्तर्गत कर दिया गया है।

एक अजीब बात यह है कि रियासतों के प्रतिनिधि तो ब्रिटिश भारतीय कानून बनाने के समय वोट दे सकते हैं, लेकिन रियासती मामलों पर विचार करते समय ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधियों को वोट देने का अधिकार नहीं।

इन्हीं युक्तियों को ध्यान में रखते हुए भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इस संघ शासन की निन्दा की है। क्योंकि प्रान्तीयता तथा साम्प्रदायिकता आदि के भावों के बढ़ने से राष्ट्रीयता के भावों में, और नरेशों के प्रतिनिधियों के व्यवस्थापिका सभा में होने से भारतीय प्रगति में बाधा पड़ेगी।

संघ शासन स्वायत्त प्रान्तों, चीफ़ कमिश्नरियों तथा रियासतों के प्रवेश करने से स्थापित होगा। संयुक्त पार्लियामेण्ट्री कमेटी के शब्दों में "यह बात स्पष्ट है कि यदि नये विधान में सम्राट् के अधीन स्वायत्त प्रान्त, संघ योजना में मिलाये जायेंगे—तो न केवल प्रान्तीय सरकार अपनी शक्तियां तथा अधिकार केन्द्रीय सरकार से नहीं पायेगी, बल्कि केन्द्रीय सरकार भी इंग्लैंड में स्थित भारत मन्त्री की एजेण्ट नहीं रहेगी। बल्कि दोनों ही सम्राट् से अपने अधिकार प्राप्त करेंगी। इसीलिये सन १६३५ के विधान में भारत मन्त्री को ११ वें अध्याय में स्थान दिया गया है। प्रान्तों में उत्तरदायी शासन स्थापित होने पर भारत मन्त्री का प्रान्तीय शासन के लिये उत्तरदायित्व कैसे रह सकता है ?

इसी बात को ध्यान में रख कर संघशासन की स्थापना होने से पहले, सम्राट. ब्रिटिश भारत प्रदेश के सभी स्वत्वों, तथा अधिकारों को अपने हाथ में लेगा, चाहे यह अधिकार भारतमन्त्री के ज़िम्मे हों, चाहे गवर्नर जनरल या प्रान्तीय गवर्नरों के। इसके बाद उन अधिकारों को एक ओर केन्द्रीय सरकार तथा दूसरी ओर प्रान्तीय सरकारों में बाँट दिया जायेगा। यह बंटवारा कैसे होगा, यह विधान में दिया गया है। एवं केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों सरकारें एक ही स्रोत से अपने-अपने अधिकारों को प्राप्त करेंगी।

रियासती नरेशों का संघ में प्रवेश करना उनकी मर्ज़ी पर निर्भर होगा। उनको संघ में प्रवेश करने से पहले एक "इंस्ट्रूमेण्ट आफ़ एक्सैशन" भरना पड़ेगा, जो सम्राट् द्वारा स्वीकरणीय होना

चाहिये। इस में यह लिखा जायगा कि किस सीमा तक नरेश अपने अधिकारों को फिडरेशन के सुपुर्द करेंगे। संघशासन तब तक स्थापित नहीं हो सकेगा, जब तक फिडरल कौंसिल आफ़ स्टेट में उतने नरेश प्रवेश न कर लें, जिनके प्रतिनिधियों की संख्या ५२ हो। इन प्रवेश करने वाली रियासतों की जनता की संख्या, सम्पूर्ण रियासतो जनता की संख्या का आधा होनी चाहिए। यहां यह भी बता दिया जाय कि बीस वर्ष के बाद जो रियासत संघ में प्रवेश करना चाहेगी, उसके प्रवेश होने का प्रस्ताव पहले फिडरल हाउसों द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक होगा। जब ऊपर की दोनों शर्तें पूरी हो जायेंगी, तब पार्लियामेण्ट के दोनों भवनों के द्वारा प्रार्थना किये जाने के अनन्तर सम्राट् अखिल भारतीय संघ की स्थापना की घोषणा करेंगे।

अधिकार-विभाजन—

संघ शासन स्थापित करते हुए फिडरल तथा उसके सदस्य प्रान्तों के अधिकारों का विभाजन करके उनकी सूची तैयार की जाती है। यहां भी वैसा किया गया है। धारा ६६ से ११० तक में फिडरल तथा प्रान्तों के व्यवस्थापक अधिकारों की परिभाषा दी गई है। इसके अतिरिक्त उन अधिकार क्षेत्रों की सूची तैयार की गई है, जिन पर फिडरल सरकार तथा प्रान्तों को समानाधिकार होंगे। संघ व्यवस्थापिका सभा उसी सीमा तक रियासतों के लिये कानून बना सकती है, जहाँतक कि "इंस्ट्रूमेण्ट आफ़ ऐक्सेशन" में निश्चित किया गया है। इसके इलावा "अतिरिक्त अधिकारों" (residuary powers) को गवर्नर जनरल के अन्तर्गत कर दिया गया है। वास्तव में यह अधिकार फिडरल या प्रान्तीय सभाओं

को दिये जाते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से इस विषय को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से जांचा गया। हिन्दु चाहते थे कि यह अतिरिक्त अधिकार केन्द्र के ज़िम्मे कर दिये जायें। मुसलमान इन्हें प्रान्तोंके अधीन करना चाहते थे। ब्रिटिश सरकार ने इस झगड़े को निपटाने के लिये न इनको प्रान्तों के अधीन किया, न केन्द्र के। धारा १०४ के अनुसार गवर्नर जनरल केन्द्र व प्रान्तों को इन क्षेत्रों में कानून बनाने का अधिकार दे सकता है।

एक्ट की सातवीं तालिका में इन विभाजित अधिकारों की सूची दी हुई है। केन्द्रीय सरकार के अधीन जो विभाग हैं, उनमें से कुछ यह हैं—रक्षा, बाह्य मामले, देशी रियासतों से सम्बन्ध, रेल, जहाज़रानी, डाक-तार, कस्टम्स, रुई या एक्साइज़ कर, नमक पर कर, मुद्रा तथा करैंसी, भारत का सार्वजनिक ऋण, अफ़ीम, कापीराइट, पब्लिक सर्विस कमीशन।

प्रान्तीय सरकार के अधीन मुख्य विभाग हैं—शिक्षा, स्थानीय स्वराज्य, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, लगान, अकाल-निरोध, कृषि, आबपाशी, उद्योग-व्यवसाय, पोलीस तथा न्याय।

इस विभाजन के समय यह ध्यान रक्खा गया है कि जिन विषयों का सम्पूर्ण भारत से सम्बन्ध है, उनको केन्द्र के अन्तर्गत रखा जाय—जैसे डाक-तार, रक्षा आदि। तथा शिक्षा, कृषि, स्थानीय स्वराज्य आदि क्षेत्र जिनका स्थानीय स्थितियों से गहरा सम्बन्ध है—प्रांतीय सरकार के अधीन छोड़ दिये गए हैं।

१९३५ के शासन विधान का दूसरा सिद्धान्त पर्याप्त सेफ़गार्ड्ज़ के साथ संघ—केन्द्र—में किसी सीमा तक उत्तर-

दायित्व देना था। हम ऊपर बता चुके हैं कि उत्तरदायित्व देने के लिये केन्द्र पर एक प्रकार की द्वैध शासन प्रणाली का निर्माण किया जायेगा। फिडरल सूची के विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया है। इनमें से एक विभाग को सुरक्षित विभाग कहा जा सकता है। रक्षा, बाह्य तथा चर्च-सम्बन्धी कार्य आदि विषय इसके अन्तर्गत होंगे। इस विभाग पर गवर्नर-जनरल सलाहकारों की सम्मति से शासन करेंगे। ये सलाहकार फिडरल व्यवस्थापिका सभा के सन्मुख उत्तरदायी नहीं होंगे। इन सलाहकारों की संख्या तीन होगी और यह गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किये जायेंगे।

दूसरा विभाग—जिसको हस्तान्तरित विभाग (transferred) कहा जा सकता है—पर गवर्नर-जनरल मन्त्रिमण्डल के परामर्श से शासन करेगा। इस मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यवस्थापिका सभा के सदस्य होंगे। इनका नियुक्त करना तथा हटाना गवर्नर जनरल के हाथों में होगा।

इसके अतिरिक्त, गवर्नर जनरल को एक्ट की १५ वीं धारा के अन्तर्गत एक आर्थिक-सलाहकार को नियुक्त करने का अधिकार है। यहां यह बता दिया जाय कि यह व्यक्ति अर्थ-सचिव से भिन्न है। इसका अर्थ विभाग से सम्बन्ध नहीं होगा। सलाहकारों तथा मन्त्रियों के क्षेत्रों को स्पष्टतया पृथक-पृथक कर दिया गया है। लेकिन तो भी ऐसी द्वैध प्रणाली में त्रुटियाँ रह ही जाती हैं, जैसा कि प्रान्तीय क्षेत्र की द्वैध प्रणाली के अनुभव से विदित ही है।

इनके अतिरिक्त लोकमत के प्रतिनिधियों को जो उत्तर-दायित्व दिया भी गया है, वह सेफ़गार्ड्ज़ तथा गवर्नर

के विवेचनात्मक अधिकारों और उनके विशेष उत्तरदायित्वों के होने से बहुत कम हो जाता है। जैसा संयुक्त पार्लियामेंट कमेटी की रिपोर्ट से पता चलता है, अंग्रेजों के मन में, उत्तरदायित्व देते समय यह भाव निरन्तर रहा कि कहीं भारतीय इन अधिकरों का दुरुपयोग न करें। फलस्वरूप एक ओर तो वह अधिकार देने की इच्छा प्रकट करते हैं और दूसरी ओर उनको अपने हाथ में रखने की।

वैधानिक दृष्टि से वास्तव में सारा शासन कार्य तो गवर्नर जनरल तथा गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व के अन्तर्गत आ जाता है। यह विशेष उत्तरदायित्व (special responsibilities) पहले नहीं थे। इन विशेष उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत केवल कुछ विशेष बातों पर ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण प्रान्तीय तथा केन्द्रीय शासन-कार्य पर एक प्रकार से नियन्त्रण हो जाता है।

एक्ट की १२वीं धारा में गवर्नर जनरल के तथा ५२वीं में गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों की जो परिसंख्या की गई है, वह नीचे दी जाती है:—

१—भारत में शान्ति और व्यवस्था को भारी खतरे से बचाना।

२, ३, ४—संघ शासन की आर्थिक स्थिरता और साख की और अल्पसंख्यक जातियों तथा सिविल सर्विस के अधिकारों की रक्षा करना। ५, ६—ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध किसी प्रकार के अनुचित विरोध को रोकना।

७. रियासतों के अधिकारों की रक्षा करना।

८. जो कार्य विशेष उत्तरदायित्व को निभाने के लिये तथा विवेचनात्मक अधिकारों के अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय अनुसार किए जाने हों, उनको ठीक तौर से करवाना।

इस सूची पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि शासन के सभी विभाग – शान्ति तथा व्यवस्था, अर्थ, सरकारी नौकरियाँ, आर्थिक स्वातन्त्र्य, अल्पसंख्यक समस्या, ग्रेटब्रिटेन के विरुद्ध अनुचित विरोध—इस सूची के अंतर्गत आजाते हैं। इस प्रकार संघशासन एक व्यक्ति के हाथ में अति-केन्द्रित बन गया है।

इसके अतिरिक्त, गवर्नर जनरल जिस कानून को चाहे रद्द कर सकता है, नये आर्डिनैन्स जारी कर सकता है। और तो और, एक्ट की ४५वीं धारा के अन्तर्गत वह गवर्नर जनरल के कानून भी बना सकता है। इसके लिये उसे केवल व्यवस्थापिका सभा को, उस कानून की आवश्यकता बताने के लिए एक संदेश भेजना ही आवश्यक हैं।

व्यवस्थापिका सभा

व्यवस्थापिका सभा में सम्राट् का प्रतिनिधि गवर्नर जनरल तथा दो हाउस होंगे। गवर्नरजनरल के हाथ में सभी शासनाधिकार होंगे। उपरले हाउस का नाम होगा, काउँसिल आफ स्टेट तथा निचले का "हाउस आफ़ ऐसेम्बली।" इनकी बनावट का इन तालिकाओं से पता चल जायेगा:—

नाम	ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि			नरेशों द्वारा नामज़द रियासती प्रतिनिधि	कुल जोड़
	निर्वाचित	गवर्नर जनरल द्वारा नामज़द	कुल जोड़		
काउँसिल आफ़ स्टेट	१५०	६	१५६	१०४	२६०
फिडरल एसेम्बली	२५०	...	२५०	१२५	३७५

काउँसिल आफ़ स्टेट में ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि

प्रान्त व जाति	कुल स्थान	सामान्य स्थान	हरिजनों के लिये	सिक्खों के लिये	मुसलमानों के लिये	स्त्रियों के लिये
मद्रास	२०	१४	१	—	४	१
बम्बई	१६	१०	१	—	४	१
बंगाल	२०	८	१	—	१०	१
संयुक्त-प्रान्त	२०	११	१	—	७	१
पंजाब	१६	३	—	४	८	१
बिहार	१६	१०	१	—	४	१
मध्यप्रान्त तथा बरार	८	६	१	—	१	—
आसाम	५	३	—	—	२	—
सीमाप्रान्त	५	१	—	—	४	—
उड़ीसा	५	४	—	—	१	—
सिन्ध	५	२	—	—	३	—
ब्रिटिश बलोचिस्तान	१	—	—	—	१	—
दिल्ली	१	१	—	—	—	—
अजमेर मारवाड़	१	१	—	—	—	—
कुर्ग	१	१	—	—	—	—
एंग्लो-इण्डियन	१	—	—	—	—	—
यूरोपियन	७	—	—	—	—	—
भारतीय ईसाई	२	—	—	—	—	—
कुल जोड़	१५०	७५	६	४	४९	६

फिडरल असेम्बली में ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि

प्रान्त	कुल सीटें	कुल सामान्य स्थान	हरिजनों के लिये	सिखों के लिये	मुसलमानों के लिये	एंग्लो इण्डियनों के लिये	यूरोपियनों के लिये	भारतीय ईसाईयों के लिये	व्यापारियों के लिये	ज़मींदारों के लिये	मज़दूरों के लिये	स्त्रियों के लिये
मद्रास	३७	१९	४	—	८	१	१	२	२	१	१	२
बम्बई	३०	१३	२	—	६	१	१	१	३	१	२	२
बंगाल	३७	१०	३	—	१७	१	१	१	३	१	२	१
संयुक्त-प्रान्त	३७	१९	३	—	१२	१	१	१	—	१	१	१
पंजाब	३०	६	१	६	१४	—	१	१	—	१	—	१
बिहार	३०	१६	२	—	९	—	१	१	—	१	१	१
मध्यप्रान्त, बरार	१५	९	२	—	३	—	—	—	—	१	१	१
आसाम	१०	४	१	—	३	—	१	१	—	—	१	—
सीमाप्रान्त	५	५	—	—	४	—	—	—	—	—	—	—
उड़ीसा	५	४	१	—	१	—	—	—	—	—	—	—
सिन्ध	५	१	—	—	३	—	१	—	—	—	—	—
ब्रिटिश बलोचिस्तान	१	१	—	—	१	—	—	—	—	—	—	—
दिल्ली	२	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
अजमेर-मारवाड़	१	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
कुर्ग	१	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
गैर-प्रान्तीय	४	—	—	—	—	—	—	—	३	—	१	—
कुल जोड़	२५०	१०५	१९	६	८२	४	८	८	११	७	१०	९

अब इस अध्याय को समाप्त करने से पहले इन भवन की निर्वाचन पद्धति पर कुछ कहना है। "काउँसिल आफ स्टेट" के सदस्य तो सीधे ही चुने जायेंगे, लेकिन "फिडरल असैम्बली" में परोक्ष चुनाव होगा। काउँसिल आफ स्टेट्स के सदस्यों को चुनने का मताधिकार बड़ी-बड़ी जायदाद वालों या बड़े व्यापारियों तथा सम्भ्रान्त श्रेणी को ही दिया गया है। फिडरल असैम्बली के लिये प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाएं निर्वाचन करेंगी। प्रत्येक प्रान्तीय असैम्बली के मुसलमान तथा सिख मेम्बर मुसलमान तथा सिख प्रतिनिधियों को चुनेंगे। स्त्रियों के प्रतिनिधियों को सारे भारत की प्रान्तीय सभाओं की सदस्य महिलायें चुनेंगी। इसी तरह ऐंग्लो इण्डियन, यूरोपियन तथा भारतीय ईसाई भी अपनी-अपनी जातियों के प्रान्तीय सदस्यों द्वारा चुने जायेंगे।

१६३३ के व्हाइट पेपर में फिडरल असैम्बली के चुनाव के लिये सीधे निर्वाचन का ही प्रस्ताव था। किन्तु बाद में संयुक्त कमेटी ने इसे परोक्ष कर दिया। कारण यह दिया गया था कि भारत जैसे विस्तृत तथा घनी आबादी वाले देश में ऐसा करने के लिये या तो निर्वाचक-मण्डल बहुत बड़े बनाने की, और या फिडरल असैम्बली के सदस्यों की संख्या को अधिक बढ़ाने की आवश्यकता पड़ेगी। और ये दोनों बातें करना कमेटी ने ठीक नहीं समझा। लेकिन कमेटी की आपत्तियों के उत्तर में बताया जा सकता है कि यदि अमेरिका, कैनेडा तथा आस्ट्रेलिया में सीधा निर्वाचन किया जा सकता है, तो भारत में भी हो सकता है। विशेषतया जब अमेरिका में मताधिकार प्राप्त लोगों की संख्या भारत में मताधिकार प्राप्त लोगों से कम नहीं।

फ़िडरल कोर्ट—

संघशासन के विषय पर लिखते हुए फ़ीडरल कोर्ट पर लिखना क्यों आवश्यक हो जाता है यह तो स्पष्ट ही है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि फिडरल कोर्ट संघविधान का संरक्षक तथा व्याख्याकार होता है। इसके अतिरिक्त संघ के सदस्य प्रान्तों के परस्पर झगड़ों को निबटाने के लिये ट्रिब्युनल भी यही होता है। फिडरल तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के कानून बनाने पर जो झगड़े उठें—इन सब के लिये एक निष्पक्ष, स्वतन्त्र, न्यायाधिकारी की आवश्यकता होती है। परन्तु इस न्यायाधिकारी पर किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभाव नहीं पड़ सकना चाहिये। इसलिये यह कोर्ट किसी भी भारतीय अधिकारी— चाहे वह गवर्नर-जनरल भी क्यों न हो—द्वारा नहीं हटाया जा सकता। इसका कार्य, संघ सम्बन्धी मामलों में निर्णय देना है। इस कोर्ट के आगे, जहां कानून की व्याख्या का प्रश्न हो—प्रान्तीय हाईकोर्टों के निर्णय पर अपील भी की जा सकती है। इसका तीसरा कार्य गवर्नर जनरल को कानूनी मामलों के तथा विधान की व्याख्या के विषय में परामर्श देना होता है। इस कोर्ट के आगे फौजदारी मामले नहीं लाये जा सकते। केवल इस बात का निश्चय करने के लिये-कि विशेष कानून वहाँ पर लागू हो सकता है या नहीं—इस कोर्ट के आगे अपील की जा सकती है। यह कोर्ट संघ की सदस्य रियासतों के हाईकोर्टों पर भी अधिकार रखता है। इस कोर्ट का एक प्रधान न्यायाधीश है। तथा उसके अतिरिक्त ६ और न्यायाधीश हो सकते हैं। इस कोर्ट का प्रारम्भ ६ दिसम्बर १९३७ में हुआ।

(५)

प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy)

कदाचित् सन १६३५ के शासनविधान पर लिखते समय प्रान्तीय स्वराज्य पर सबसे पहले लिखना चाहिये। कारण, अखिल भारतीय संघ शासन की स्थापना के लिये प्रान्तीय स्वराज्य केवल आवश्यक ही नहीं, बल्कि पहली सीढ़ी है। यह तो सर्व-विदित ही है कि प्रान्तीय स्वराज्य प्रान्तों को मिल चुका है, लेकिन अखिल भारतीय संघ अभी बनना है। वह बनेगा भी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। और यदि बनेगा, तो उसका क्या स्वरूप होगा, यह भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि युद्ध के प्रारम्भ होने पर वायसराय ने घोषणा की थी कि इस विधान के अंतर्गत जिस संघ शासन की स्थापना होनी थी-उसको अब युद्ध काल के लिये स्थगित कर दिया गया है। युद्ध के बाद एक कांफ्रेंस बुलाई जायेगी। उस में क्या होगा, यह तो भविष्य के गर्भ में है। लेकिन प्रान्तीय स्वराज्य तो प्रान्तों को मिल चुका है। यद्यपि इस समय कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र दे देने पर पंजाब, बंगाल, सिंध तथा आसाम को छोड़ कर अन्य सभी प्रान्तों में शासन विधान को बन्द करना पड़ा है। यहां इस विषय को नहीं लेना। यहां हमें प्रान्तीय सरकारों का ब्रिटिश सर-

कार के अन्तर्गत विकास दिखाना है तथा प्रान्तीय स्वराज्य की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करना है।

नये विधान के पूर्व, भारत में अति केन्द्रित शासन था। देश को प्रान्तों में बांटा गया था, लेकिन शासन को सरल बनाने की दृष्टि से। उनके अधिकार उन्हें केन्द्रीय सरकार से मिलते थे। सब से पहले १७७४ में रैगुलेटिंग कानून ने भारत के सभी ब्रिटिश प्रान्तों को गवर्नरजनरल के अधीन कर दिया था। प्रान्तीय सरकारों का विकास अध्ययन करते समय हमें इस विषय को तीन भागों में बांटना होगा—कानून बनाना, शासन करना तथा आय-व्यय का नियन्त्रण रखना। हम इस विषय को शासन-कार्य से प्रारम्भ करेंगे।

शासन-कार्य—सन् १७७४ के "रेगुलेटिंग एक्ट" से पहले तीनों प्रान्त, बंगाल, मद्रास तथा बम्बई स्वतन्त्र थे और अपने कार्य के लिये इंग्लेंड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आगे उत्तरदायी होते थे। वारेन हेस्टिंग के काल में, रेगुलेटिंग एक्ट के बावजूद भी, गवर्नर जनरल का शेष दो प्रान्तों पर प्रभुत्व नाम को ही था। लेकिन वैल्ज़ली के आने पर अन्य छोटे प्रान्तों के गवर्नरों को उसका प्रभुत्व स्वीकार करना ही पड़ा। एक कारण और भी था। साम्राज्य वृद्धि के लिये भी शासन को केन्द्रित करना आवश्यक था। वेल्ज़ली ने, गवर्नर जनरल बनने पर घोषणा की कि भारत में सभी सिविल, फौजी तथा राजनीतिक कार्यों में केन्द्रीय शासन का ही प्रभुत्व मानना पड़ेगा। इस काल के बाद जो भी अधिकार प्रान्तीय गवर्नरों अथवा चीफ़ कमिश्नरों के हाथ में होते थे, वह गवर्नर जनरल द्वारा ही उनको सौंपे जाते थे। साम्राज्य की वृद्धि होने पर, गवर्नर जनरल

को सारे देश पर शासन की अच्छी तरह से निगरानी रखने की आवश्यकता पड़ी। इस लिये १८५४ में गवर्नर जनरल को बंगाल की गवर्नरी के भार से छुटकारा दिलवा दिया गया। अब से गवर्नर जनरल का काम प्रान्तों पर निगरानी करना, आदेश देना तथा पथ निर्देश करना ही रह गया था। इसके अतिरिक्त रक्षा, सीमाप्रान्त, राजनीतिक सम्बन्ध, रियासतें, तट-कर, मुद्रा, विनिमय, डाक, तार आदि विषय गवर्नर जनरल के अधीन कर दिये गये। ऐसा करना ठीक भी था। क्योंकि व्यापार, व्यवसाय, रक्षा आदि की दृष्टि से सारे भारत के लिये एक जैसी नीति होनी चाहिये थी। उस पर केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों के कार्यक्रम पर निष्पक्ष होकर त्रुटियाँ निकाल सकती थी, तथा उन्हें दूर करवा सकती थी।

कानून बनाने का कार्य

१८०७ के चार्टर ने प्रैज़ीडैन्सी सरकारों को अपने-अपने प्रदेशों के लिये कानून बनाने की आज्ञा दी थी। लेकिन धीरे-धीरे यह अधिकार छीन लिये गये। १८३३ में यह अधिकार केन्द्रीय सरकार के सुपुर्द कर दिये गये। तब से सारे भारत के लिये कानून बनाने का कार्य गवर्नर जनरल के हाथों में हो गया। लेकिन १८६१ में कानून बनाने के अधिकार फिर से प्रान्तों को मिले। तब से दोनों—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें—ही कानून बना सकती थीं। यह बात सन् १९१९ के विधान तक रही। इस काल में व्यवस्थापिका सभाएं केवल शासकवर्ग (executive) में कुछ सदस्य और डालकर बनादी गई थीं। प्रजातन्त्र की दृष्टि से उन्हें व्यवस्थापिका सभायें कहना उचित नहीं, क्यों कि न तो जनता के प्रतिनिधि इन

के मेम्बर थे और न वह उत्तरदायी हो सकती थीं। उस पर कानून बनाने में कई प्रतिबन्ध थे। कानून बनाने से पहले गवर्नर जनरल की आज्ञा लेनी पड़ती थी। पार्लियामेण्ट के किसी भी कानून को रद नहीं किया जा सकता था। किसी प्रकार के धार्मिक अथवा रियासत सम्बन्धी कानून बनाने की उसे आज्ञा न थी। उस पर सन् १८३३ तक बहुत से कानून पहले ही बन चुके थे। प्रान्तीय सरकारों के पास कानून बनाने के विषय ही बहुत कम रह गये थे। साथ ही गवर्नर जनरल जिस कानून को बनवाना चाहे उसे प्रान्तीय सरकार को आदेश देकर बनवा सकता था। इस तरह से प्रान्तीय सरकारों के कानून बनाने के अधिकार बहुत नियमित थे।

आय-व्यय पर नियन्त्रण

ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संघ था। उनका हिसाब-किताब व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुसार ही रखा जाता था। इसी से केन्द्रीय नीति की भारत में स्थापना हुई। प्रान्तीय सरकारों की हैसियत केवल केन्द्रीय सरकार की प्रबन्धकारी एजेण्ट की ही थी। करों को, किन से, कहां से तथा कैसे इकट्ठा किया जाये—ये सभी अधिकार केन्द्र के हाथों में थे। आय का व्यय करने के लिये भी केन्द्र से ही आदेश लेने पड़ते थे।

कर इकट्ठा हो जाने के बाद, उसे प्रान्तों में आवश्यकतानुसार बाँटा जाता था। लेकिन आय के अनुपात के अनुसार नहीं, बल्कि शासन की आवश्यकताओं की दृष्टि से। ऐसा करने के लिये केन्द्रीय सरकार को आर्थिक-मामलों के शासन कार्य का बड़ा भार सहना पड़ता था। उस पर प्रान्तों को मितव्ययता करने के लिये कोई प्रेरणा न थी।

इस त्रुटि को दूर करने के विचार से सन् १८७० में लार्ड मेयो ने अधिकार-विभाजन (devolution) करना ही उपयुक्त समझा । एक और कारण भी था। भारत में साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, अतः सारे शासन का फ़ौजी आधार अब लोप होना जा रहा था । मेयो साहब ने पोलिस, जेल, शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य आदि कुछ विभागों को प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिया । इन विभागों से जो आय होती थी, वह प्रान्तों को मिलती थी। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को कुछ निश्चित रकम सहायता के लिये दी जाती थी। प्रान्तों को, कर आदि लगा कर अपनी आय बढ़ाने का थोड़ा-सा अधिकार भी दे दिया गया ।

यह अधिकार-विभाजन संघ के सिद्धान्त की दृष्टि से नहीं किया गया था। बल्कि ऐसा करने का उद्देश्य तो शासन कार्य में सुगमता स्थापित करना ही था। इससे कार्य-भार में बँटवारा हो जाता था। इस विभाजन से केन्द्रीय सरकार ने अधिकारों को छोड़ा नहीं, केवल प्रान्तीय सरकारों के सपुर्द कर दिया। अर्थात् ऐसा करने के उपरांत भी उस पर केन्द्र का अधिकार वैसा ही रहा। हाँ, ऐसा करने से केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में अधिक अनुकूलता हो गई और पहले की तरह आय को बाँटने के समय होने वाले झगड़े बन्द होगये तथा प्रान्तीय सरकारों को प्रान्त के हितों के लिये कार्य करने की प्रेरणा मिली ।

सन् १८७७ में लिटन साहिब ने कुछ और विभाग प्रान्तों के अधीन कर दिये और यह निश्चय किया कि जितनी अधिक आय हो, उसका आधा भाग केन्द्रीय सरकार को और आधा प्रान्तीय सरकारों को मिले। और हानि के समय उसी सीमा तक केन्द्रीय

सरकार को हानि पूरी करनी पड़ती थी। आसाम तथा बर्मा जैसे पिछड़े हुए प्रान्तों में लगान में से भी कुछ भाग उन प्रान्तीय सरकारों को दिया गया। इसके अतिरिक्त बर्मा को चावल तथा नमक पर निर्यात कर का भी कुछ भाग मिला। इससे केन्द्रीय सरकार की आय में से प्रान्तों को भाग मिलने का एक नया सिद्धान्त चल पड़ा।

सन् १८८२ में लार्ड रिपन ने कुछ और विभाग प्रान्तीय सरकारों के अधीन कर दिये। अब से सरकारी विभागों को तीन मुख्य भागों—केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा विभक्त—में बाँट दिया गया। यह विभाजन पांच वर्ष के लिये किया जाता था। इससे प्रान्तीय शासन की निरन्तरता टूट जाती थी, क्योंकि यह निश्चित नहीं होता था कि अब आगे कितना रुपया मिलेगा। इस त्रुटि को दूर करने के लिए १६०४ में कर्ज़न ने लगभग स्थायी विभाजन कर दिया। इसके बाद १६१२ में लार्ड हार्डिङ्ग ने इस विभाजन को स्थायी मान लिया। इससे प्रत्येक पांच वर्ष बाद होने वाले झगड़ों का भी अन्त होगया।

सन् १६१६ के सुधार के पूर्व, सम्पूर्ण भारत से सम्बन्ध रखने वाले—रक्षा, विदेशी नीति, डाक, तार, रेलवे, कस्टम, आबपाशी, आदि विषयों को केन्द्रीय, पोलिस, जेल, शिक्षा, सिविलविभाग की आय आदि को प्रान्तीय विषय तथा लगान, आय कर, जंगल, स्टैम्प, रजिस्ट्रेशन आदि को विभक्त विभाग के अन्तर्गत किया हुआ था। टैक्स लगाने का अधिकार भारत सरकार के हाथों में था। प्रान्तीय सरकारों को ऋण लेने की अनुज्ञा नहीं थी। प्रान्तीय बजटों को ड्राफ्ट रूप में केन्द्रीय सरकार के पास भेजना आवश्यक होता था। इस दशा में प्रान्तों के हाथों में बहुत थोड़ी-

सी स्वतन्त्रता रह जाती थी।

लेकिन १६१६ सुधार के बाद प्रान्तों को वैधानिक परीक्षण का उपयुक्त क्षेत्र समझा गया। श्री० मौंटेगू ने तभी प्रान्तीय स्वराज्य का स्वप्न देखा था। उस स्वप्न के अनुसार स्वायत्त प्रान्त एक संघशासन के अंग होंगे। पता नहीं, मौंटेगू को प्रान्तीय स्वराज्य की सन् १६३७ तक मिलने की आशा थी या नहीं, लेकिन उसके वह स्वप्न कुछ अंशों में तो पूरे हो गये हैं। अस्तु।

सन १६१६ में न तो संघ शासन स्थापित करने का और न प्रान्तीय स्वराज्य देने का ही विचार था। प्रान्तों में द्वैध प्रणाली स्थापित कर, शासन कार्य में किसी सीमा तक केन्द्रके नियन्त्रण को ढीला कर दिया गया था। आय-व्यय के नियन्त्रण में भी प्राँतों को कुछ अधिक स्वतन्त्रता मिली। प्रान्तों के बजटों को पृथक कर दिया गया। प्राँतों से वसूल किये गये आय कर की वृद्धि में से प्रांन्तों को कुछ भाग मिलने लगा। प्राँतीय सरकारें अब से सार्वजनिक लाभ—नहरें आदि बनवाने—के लिये ऋण भी ले सकती थीं। तथा प्रान्तों को, बिना केन्द्र की अनुज्ञा के कर लगाने का अधिकार प्राप्त हो गया था। कानून बनाने से पूर्व अब गवर्नर जनरल की आज्ञा लेने की आवश्यकता न रही।

यहाँ हमने १६१६ के कानून पर विस्तार से नहीं कहना। केवल इस बात पर ज़ोर देना है कि १६१६ के एक्ट ने यह सिद्धान्त मान लिया कि भारत जैसे विस्तृत देश की सब प्रकार की उन्नति के लिये प्रान्तों को स्वतन्त्र करना ही ठीक है।

१६३५ का विधान, १६१६ के विधान के बाद, प्रान्तीय स्वराज्य प्राप्ति की ओर दूसरी सीढ़ी है। केवल सीढ़ी ही नहीं,

वास्तव में प्रान्तों को बहुत हद तक स्वराज्य मिल गया है। कैसा? किस सीमा तक? इन प्रश्नों का उत्तर अब आगे देना है।

१६३५ के विधान की ४६वीं धारा में गवर्नर द्वारा शासित ११ प्रान्तों के नाम दिये हैं। इनमें दो नये प्रान्त सिन्ध तथा उड़ीसा हैं। यहां यह भी बता दिया जाय कि बर्मा प्रान्त को भारत से पृथक् कर दिया गया है।

संघशासन के स्थापित हो जाने पर प्रान्तीय सरकारें अब केन्द्रीय सरकार की एजेण्ट मात्र नहीं रहेंगी। बल्कि उनके अस्तित्व तथा अधिकार उस ही स्रोत से उनको प्राप्त होंगे, जिससे संघ (केन्द्र) को। सबसे पहले, सम्राट् भारत सम्बन्धी सभी अधिकारों को अपने हाथ में लेंगे, उसके बाद केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकार के अधिकार क्षेत्रों को बिलकुल पृथक्-पृथक् कर उन दोनों को सौंप दिया जायगा। इन अधिकारों की पृथक-पृथक सूचियां तैयार की गई हैं, जो कि एक्ट की सातवीं तालिका में दी गई हैं। प्रान्तीय सूची में, प्रान्तीय शासन तथा फिडरल सूची में संघ के अधिकार दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त प्रान्तों तथा संघ के अधिकार, कुछ क्षेत्रों में समान भी होंगे।

प्रान्तों को इस नई पदवी देने के विरुद्ध एक मुख्य बात यह है कि इन प्रान्तों को बनाने में व्यर्थ रुपये की हानि करनी पड़ेगी। सिन्ध तथा उड़ीसा जैसे प्रान्तों को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये लगभग डेढ़ करोड़ रुपया प्रत्येक वर्ष संघ को देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त संयुक्त प्रान्त को पहले पाँच वर्षों के लिये २५ लाख, आसाम को ३० लाख, सीमाप्रान्त को एक करोड़ रुपया प्रतिवर्ष देना पड़ेगा। नये विधान को कार्यरूप में लाने के लिये डेढ़

करोड़ रुपया और खर्च होगा। लेकिन यहां यह भी कह दिया जाय कि प्रान्तों को स्वराज्य देने के विषय पर मतभेद है।

प्रान्तीय शासन विभाग तथा द्वैधशासन प्रणाली का अन्त

सन् १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत प्रान्तों में द्वैधशासन प्रणाली स्थापित की गई थी, जिस में शासन के कुछ विभाग सुरक्षित (reserved) रखे गये थे। उनका शासन अनुत्तरदायी गवर्नर की शासन-समिति के सदस्य करते थे तथा कुछ विभागों को हस्तान्तरित (transferred) कर दिया गया था। लेकिन अब नये शासन विभाग से इस द्वैध प्रणाली का अन्त कर दिया गया। अब कोई सुरक्षित विभाग नहीं है। तथा अब से प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डल, निर्वाचित सदस्यों के बहुमत के दल से, उस दल के नेता द्वारा चुने जाते हैं। मन्त्रिमण्डल का काम गवर्नर को परामर्श तथा सहायता देना है। कानूनन गवर्नर ही प्रत्येक प्रान्त में एकमात्र शासक है।

गवर्नर को सम्राट् नियुक्त करता है। गवर्नर को सिवाय उन क्षेत्रों के, जिनमें उसने अपने विवेचनात्मक अधिकारों का प्रयोग करना होता है, अथवा व्यक्तिगत निश्चयों के अनुसार कार्य करना होता है, अथवा अपने विशेष उत्तरदायित्वों का विचार रखना होता है—शेष क्षेत्रों में अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श तथा सहायता से शासनकार्य चलाना होगा। उन विषयों के लिये, जिन पर उसने अपने विवेचनात्मक अधिकारों से काम लेना होता है—गवर्नर को मन्त्रियों से सलाह लेना तक आवश्यक नहीं। तथा जहां उसके अपने विशेष उत्तरदायित्वों का प्रश्न है, वहां

वह मन्त्रियों के विचारों को सुन कर इनके परामर्श के अनुसार कार्य करने पर बाधित नहीं। इसके अतिरिक्त गवर्नर किसी भी विषय में अपने व्यक्तिगत निर्णय से काम ले सकता है। उन क्षेत्रों में, जहां उसने अपने निर्णय से काम लेना होता है, उसके निर्णय को सिवाय गवर्नर जनरल के कोई काट नहीं सकता; एवं किसी सीमा तक गवर्नर ने अपने हाथ अधिकार रखने हैं, इसका निश्चय गवर्नर अपने आप ही करता है। यदि वह चाहे तो मन्त्रिमण्डल की बैठकों का सभापति भी बन सकता है।

गवर्नर जिसको चाहे मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये निमन्त्रण दे सकता है। यद्यपि "इंस्ट्रूमेण्ट आफ़ इंस्ट्रक्शन" (instrument of instructions) के अनुसार उसे उस ही व्यक्ति, को बुलाना होगा जो कि असैम्बली में बहुमत को अपने साथ रख सके। उसके बाद शेष मन्त्रियों को, गवर्नर, उस नेता की सलाह पर ही रखेगा। ऐसा करने का उद्देश्य मन्त्रिमण्डल को संयुक्तरूप से उत्तरदायी बनाना है, यद्यपि यह बात विधान में नहीं लिखी गई। इन मन्त्रियों के वेतनों को असैम्बली निश्चित करेगी। मन्त्रि-मण्डल को बनाते समय गवर्नर को अल्पसंख्यक जातियों के हितों का भी विचार रखना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त गवर्नर एडवोकेट-जनरल को भी नियुक्त करता है, जो कि प्रान्तीय शासन को कानूनी मामलों पर परामर्श देता है। उसे अन्य कुछ कानूनी कार्य भी करने होते हैं।

शान्ति तथा व्यवस्था को कायम रखने के लिये गवर्नर को विशेष शक्तियां दी गई हैं। पोलीस के नियमों को परिवर्तन करना

गवर्नर के व्यक्तिगत निर्णय पर होता है। पोलीस विभाग के कर्मचारी बिना इन्सपेक्टर-जनरल की आज्ञा के किसी व्यक्ति को भी, चाहे वह मन्त्री भी क्यों न हों—किसी प्रकार की सूचना का स्रोत नहीं बना सकते। जिन क्षेत्रों में गवर्नर का विशेष उत्तरदायित्व हो, उन क्षेत्रों के विषय में सभी प्रकार की सूचना गवर्नर को पहुँचाना— मन्त्रियों तथा विभागाध्यक्षों (Secretaries) का कार्य है।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित हैं—

१. शान्ति तथा व्यवस्था के खतरे को दूर करना।

२. अल्पसंख्यक जातियों के समुचित हितों की रक्षा करना।

३. नौकरशाही सेवकों के अधिकारों को सुरक्षित रखना।

४. शासन क्षेत्र में ग्रेटब्रिटेन के विरुद्ध अनुचित विरोध से रक्षा करना।

५. आंशिक बाह्य प्रदेश (Partially Excluded Areas) की शान्ति तथा सुशासन को कायम रखना।

६. भारतीय रियासतों के गौरव तथा अधिकारों की रक्षा करना।

७. गवर्नर जनरल, की अपनी विवेचनात्मक शक्तियों (discriminatary powers) के अन्तर्गत दी गई आज्ञाओं का पालन करना।

ऊपर लिखित गवर्नर के अधिकारों के रहते हुए हम प्रांतीय स्वराज्य को केवल बनावट के लिहाज़ से ही उत्तरदायी शासन कह सकते हैं। वास्तव में गवर्नर की इतनी असाधारण शक्तियों के रहते हुए ऐसा कहना अनुचित हो प्रतीत होता है। पर इन सब शक्तियों का प्रान्तीय स्वराज्य के मिल जाने पर प्रयोग नहीं

किया गया। लेकिन जब कभी बहुमत वाला दल नीति विरोध होने से शासन-कार्य को हाथ में न ले, तब गवर्नर बिना मन्त्रिमण्डल व व्यवस्थापिका सभाओं के छः मास तक शासन कर सकता है। मद्रास, बम्बई, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, तथा सीमाप्रान्त में आजकल ऐसी ही स्थिति है।

इन्स्ट्रूमेण्ट आफ इन्स्ट्रक्शन—

उत्तरदायी शासन में, सिद्धान्त से, राष्ट्र के राजाओं के हाथों में ही सभी शासनाधिकार होते हैं। लेकिन वैधानिक प्रथा तथा अभ्यास से इन सभी अधिकारों का प्रयोग "राजा" सदैव अपने उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही करता है। यह बात इंग्लैण्ड के शासन विधान में विशेषरूप से है। वास्तव में तो गवर्नर का प्रान्तीय शासन में वही स्थान होना चाहिए, जैसा कि ग्रेटब्रिटेन के नरेश का ग्रेटब्रिटेन के शासन में है। लेकिन क्योंकि एक-दम से ही ग्रेटब्रिटेन के सभी वैधानिक सिद्धान्तों को किसी अन्य देश में प्रयोग करना ठीक नहीं, इसलिये औपनिवेशिक विधान का निर्माण करते समय एक उपाय निकाला गया था, 'जिसे इंस्ट्रूमेण्ट आफ़ इन्स्ट्रक्शन' कहा जाता है। इसमें उपनिवेशों (Dominions) के गवर्नर जनरल को हिदायतें दी जाती हैं कि कहां तक उन्हों ने अंग्रेज़ी सिद्धान्तों का प्रयोग करना है। अथवा किन-किन परिस्थितयों में उन्हें कैसे कार्य करना होगा। इस रीति से जिस प्रदेश को अंग्रेज़ी सिद्धान्तों के प्रयोग की जितनी आवश्यकता होती है, उतना ही उनका प्रयोग किया जा सकता है। अथवा जो सिद्धान्त देश के अनुकूल बैठें उनको अपनाया जा सकता है। इससे लाभ यह होता है कि विधान के ढांचे में परिवर्तन किये बिना ही परिस्थितियों के अनुसार विधान

में, वास्तव में, परिवर्तन किया जा सकता है। इसी साधन की सहायता से उपनिवेशों ने अपने विधान का ढांचा बदले बिना उत्तरदायी शासन प्राप्त कर लिया है।

यह इन्स्ट्रूमेण्ट, सम्राट् द्वारा, गवर्नर की नियुक्ति के अवसर पर गवर्नर को दिये जाते हैं। यह इंस्ट्रूमेण्ट भी पार्लियामेन्ट की अनुमति से ही बनाए गये हैं। इनमें जो हिदायतें होती हैं, उनमें बताया जाता है कि गवर्नर को अपनी विवेचनात्मक शक्तियों का प्रयोग कैसे करना है तथा अपने विशेष उत्तरदायित्वों को कैसे निभाना है। अतएव इंस्ट्रूमेन्ट तथा विधान का परस्पर श्वास और जीवन-सा सम्बन्ध है।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभायें

शासन को व्यवस्थापिका सभा के आगे उत्तरदायी बनाने के लिये सब शासनाधिकार नाममात्र के एक वैधानिक नरेश या गवर्नर के सिपुर्द कर दिये जाते हैं। वह गवर्नर उन अधिकारों का प्रयोग अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श से—जो कि व्यवस्थापिका सभा के बहुमत वाले दल में से चुना जाता है—करता है। उत्तरदायी शासन होने के लिये व्यवस्थापिका सभा को देश का पूर्णरूप से, जहां तक हो, प्रतिनिधि होना चाहिये। अतः उत्तरदायी शासन देने के लिये यथासम्भव अधिक जनसंख्या को मताधिकार मिलना चाहिये। इसी बात को ध्यान में रख कर १९१९ के मुकाबले में १९३५ के कानून के अन्तर्गत मताधिकार प्राप्त लोगों की संख्या बहुत अधिक कर दी गई है। १९१९ के एक्ट के समय केवल जनसंख्या के ३ प्रतिशत भाग को ही वोट देने के अधिकार प्राप्त थे। साइमन कमीशन ने १० प्रतिशत के लिए सिफारिश की।

प्रथम गोलमेज़ कान्फ्रैंस के अवसर पर १५ प्रतिशत जनता को वोट देने का विचार था। लेकिन मताधिकार पर विचार करने के लिए जो उपसमिति बैठाई गई, उसने १४ प्रतिशत जनता को मताधिकार देने के लिये कहा। उसी के अनुसार ही भारत की १४ प्रतिशत जनसंख्या को मताधिकार मिला है। हरिजनों में १० प्रतिशत को मताधिकार मिला है। मताधिकार प्राप्त करने के लिये जायदाद की मुख्य शर्त है, जिसको लगान, आय कर तथा किराये आदि की रकम से पाया जाता है। यह सम्पूर्ण निर्वाचन पृथक् निर्वाचन पद्धति से होता है।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के दो या तीन विभाग हैं। प्रथम, सम्राट् का प्रतिनिधि गवर्नर, द्वितीय—उपरला हाउस (Legislative Council) तथा तृतीय निचला हाउस (Legislative Assembly) मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त-प्रान्त, आसाम तथा बिहार में दो हाउस हैं। पंजाब, मध्यप्रान्त, उड़ीसा, सिन्ध तथा सीमाप्रान्त में एक-एक।

मौंटेगु तथा चेम्सफ़ोर्ड के सामने भी दो भवनों के बनाने का प्रश्न उठा था। लेकिन उन्होंने दो हाउसों को अनावश्यक समझ कर इस प्रस्ताव को अस्वीकार किया था। अब इस विधान में दो हाउसों को स्थापित कर दिया गया है। पहले पहल केवल तीन ज़मींदार-पंच प्रान्तों में ही ऐसा करने का विचार था, लेकिन बाद में तीन अन्य प्रान्तों में भी दूसरा हाउस स्थापित कर दिया गया। पंजाब में भी उपरला हाउस स्थापित करने का विचार था, लेकिन मुसलमानों के विरोध के कारण इस विचार को छोड़ दिया गया। इस दूसरे हाउस के निर्माण करने का

अभिप्राय यह था कि निचले हाउस द्वारा पास किये कानूनों का पुनरवलोकन किया जा सके तथा निचले हाउस को बिलों पर दोबारा विचार करने का अवसर दिया जाय, जिससे निचले हाऊस वाले जल्दबाज़ी तथा नासमझी न कर बैठें। लेकिन गवर्नर के विशेषाधिकारों के रहते हुए इनकी ऐसी कौनसी आवश्यकता थी, यह समझ में नहीं आता। देश के राष्ट्रीय विचारों वाले नेता तो इसे अनुदारत्व का गढ़ तथा प्रगति के पथ की बाधा मानते हैं।

उपरला हाउस एक स्थायी सभा है। इसको विसर्जित नहीं किया जायेगा। प्रति तीन वर्षों के बाद इस भवन के $\frac{1}{3}$ सदस्य अवसर प्राप्त कर जाया करेंगे। अतः ऐसे अनुदार तथा स्थायी भवन का, उत्तरदायी शासन में प्रतिबन्ध होना बहुत सम्भव है। जैसा कि "टैनेंसी-कानून" के अवसर पर संयुक्तप्रान्त तथा बंगाल में हुआ भी है।

ऊपर जो मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या बताई गई थी, वह निचले हाउस के लिये थी। निचला हाउस पांच वर्षों के बाद विसर्जित कर दिया जायेगा। इसके लिये मुसलमान, सिक्ख, युरोपियन, ऐंग्लो इण्डियन तथा भारतीय ईसाई अपनी जाति के निर्वाचक-मण्डल से ही अपने-अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करेंगे।

दोनों हाउस अपने अपने सभापति आप चुनेंगे। निचले हाउस के सभापति को स्पीकर (Speaker) कहा जायेगा। इन दोनों भवनों के अधिकार एक जैसे नहीं होंगे। बजट पर यह उपरला हाउस वोट नहीं देगा। किसी बिल के पास होने में देर करवाने का, तथा उसके पुनरवलोकन करने का ही ऊपरले हाउस को प्रधान अधिकार होगा। लेकिन यदि निचला हाउस एक बिल

पास कर दे और उपरला हाउस उसे पास करने से इनकार कर दे, तो उस अवस्था में गवर्नर बारह मास के बाद एक संयुक्त अधिवेशन बुलावेगा, जिसमें दोनों भवनों के सदस्य इकट्ठे बैठेंगे। तब उस प्रस्ताव पर वोट लिये जायेंगे और यदि बहुमत से वह प्रस्ताव पास हो जाये, तो वह कानून बन जायगा। लेकिन यदि उपरला हाउस कोई प्रस्ताव पास करे और निचला हाउस उसे रद्द करदे—तो उस अवस्था में प्रस्ताव रद्द ही हो जाता है। उसके लिये संयुक्त अधिवेशन नहीं किया जायेगा।

प्रान्तीय बजट में भी कुछ रकमें ऐसी होंगी, जिन पर लैजिस्लेटिव असैम्बली को वोट देने का अधिकार नहीं होगा। उन रकमों की, जिन पर वोट नहीं दिया जा सकता—सात श्रेणियां हैं। उन पर असैम्बली केवल बहस कर सकती है। गवर्नर के वेतन तथा गवर्नर के स्टाफ़ के व्यय पर बहस तक भी नहीं की जा सकती।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की शक्तियां एक्ट में एक स्थान पर एकत्र करके नहीं लिखी गई, बल्कि इन के अधिकार ९९ वें और १०० वें सैक्शन में तथा सातवीं तालिका में दिये गये हैं। इन में दिये गये विषयों पर प्रान्तीय सभायें, अपने सारे प्रान्त के लिये अथवा प्रान्त के किसी विभाग के लिये जो कानून चाहें, बना सकती हैं। उन विषयों पर, जहां प्रान्तीय तथा संघ सरकार दोनों को ही देश तथा प्रान्त का कानून माना जायेगा। ऐसे झगड़ों के अवसर पर ही फिडरल कोर्ट की आवश्यकता पड़ती है। इसके अति-

रिक्त कुछ नये कानून बनाने से पहले गवर्नर जनरल की अनुमति लेनी आवश्यक होती है। किसी बिल के व्यवस्थापिका सभा द्वारा पास हो जाने पर गवर्नर की स्वीकृति का मिलना कानून बनने के लिये अनिवार्य होता है। गवर्नर अपनी स्वीकृति को रोक भी सकता है। यदि गवर्नर ठीक समझे तो किसी कानून को गवर्नर जनरल द्वारा विचार किया जाने के लिये भी भेज सकता है। गवर्नर जनरल भी यदि किसी प्रस्ताव में परिवर्तन करवाना ठीक समझता हो, तो वह उस बिल को गवर्नर के पास वापस भेज सकता है। तब व्यवस्थापिका सभा को उस संशोधित प्रस्ताव पर विचार करना ही पड़ता है।

इसके अतिरिक्त जब गवर्नर आवश्यकता अनुभव करे, तब वह सैक्शन ९० के अन्तर्गत गवर्नर्स ऐक्ट (Governor's Act) जारी कर सकता है। गवर्नर को ऐसा करने के लिये व्यवस्थापिक सभा को एक सन्देश भेजना होता है, जिसमें उस एक्ट को बनाने के कारणों का प्रतिपादन तथा एक्ट का ड्राफ होता है। यदि व्यवस्थापिका चाहे तो उस पर अपनी राय प्रकट कर सकती है। पर इस एक्ट के बनने के लिए व्यवस्थापिका सभा की अनुमति की कोई आवश्यकता नहीं होती।

क्योंकि नये विधान में प्रान्तों को स्वराज्य प्राप्त हो गया है, अतः गवर्नर को भी गवर्नर जनरल की तरह आर्डिनैंस (Ordinance) जारी करने का अधिकार मिल गया है।

प्रान्तीय लैजिस्लेटिव काउंसिल

(उपरला भवन)

प्रान्त	कुल स्थान	सामान्य स्थान	मुसलमानों के लिये	यूरोपियनों के लिये	भारतीय ईसाइयों के लिये	निचले हाउस द्वारा पूरित किये जाने वाले स्थान	वह स्थान जिन्हें गवर्नर ने भरना है
मद्रास	कम से कम ५४ अधिक से अधिक ५६	३५	७	१	३	—	कम से कम ८ अधिक से अधिक १०
बम्बई	कम से कम २९ अधिक से अधिक ३०	२०	५	१	—	—	कम से कम ३ अधिक से अधिक ४
बंगाल	कम से कम ६३ अधिक से अधिक ६५	१०	१७	३	—	२७	कम से कम ६ अधिक से अधिक ८
संयुक्त प्रान्त	कम से कम ५८ अधिक से अधिक ६०	३४	१७	१	—	—	कम से कम ६ अधिक से अधिक ८
बिहार	कम से कम २९ अधिक से अधिक ३०	९	४	१	—	१२	कम से कम ३ अधिक से अधिक ४
आसाम	कम से कम २१ अधिक से अधिक २२	१०	६	२	—	—	कम से कम ३ अधिक से अधिक ४

प्रान्तीय लैजिस्लेटिव असेम्बलियां (निचले-

प्रान्त	कुल स्थान	सामान्य स्थान	सामान्य स्थान किंतु हरिजनों के लिए सुरक्षित	पिछड़े हुए प्रदेशों तथा वर्गों के लिए	सिक्खों के लिए	मुसल्मानों के लिये	एंग्लो-इण्डियनों के लिये	यूरोपियनों के लिये
मद्रास	२१५	१४६	३०	१	—	२८	२	३
बम्बई	१७५	११४	१५	१	—	२६	२	३
बंगाल	२५०	७८	३०	—	—	११७	३	११
सयुक्त प्रान्त	२२८	१४०	२०	—	—	६४	१	२
पञ्जाब	१७५	४२	८	—	३१	८४	१	१
बिहार	१५२	८६	१५	७	—	३६	१	२
मध्यप्रान्त तथा बरार	११२	८४	२०	१	—	१४	१	१
आसाम	१०५	४७	७	६	—	३४	—	१
सीमाप्रान्त	५०	९	—	—	३	३६	—	—
उड़ीसा	६०	४४	६	५	—	४	—	—
सिन्ध	६०	१८	—	—	—	३३	—	२

भवन)

स्थानों की तालिका

भारतीय ईसाइयों के लिये	व्यापारियों के लिये	ज़मींदारों के लिये	यूनिवर्सिटी के लिये	मज़दूरों के लिये	स्त्रियों के लिये				
					सामान्य	सिक्ख	मुसलमान	ऐंग्लो इण्डियन	भारतीय ईसाई
८	६	६	१	६	६	—	१	—	१
३	७	२	१	७	५	—	१	—	—
२	१६	५	२	८	२	—	२	१	—
२	३	६	१	३	४	—	२	—	—
२	१	५	१	३	१	१	२	—	—
१	४	४	१	३	३	—	१	—	—
—	२	३	१	२	३	—	—	—	—
१	११	—	—	४	१	—	—	—	—
—	—	२	—	—	—	—	—	—	—
१	१	२	—	१	२	—	—	—	—
—	२	२	—	१	१	—	१	—	—

"सिविल-सर्विसिज़" (Civil Services)

पार्लियामेण्टी लोकतंत्र में शासन कार्य का, नाममात्र को अधिष्ठाता तो "वैधानिक राजा" होता है। उसके बाद मन्त्रि-मण्डल का स्थान आता है, जो देश का शासन करने के लिए व्यवस्थापिका सभा की अनुमति से शासन सिद्धान्त निश्चित करता है तथा इस बात का निरीक्षण भी करता है कि शासन कार्य उन्हीं सिद्धान्तों तथा नीति के अनुसार ही रहा है या नहीं। लेकिन शासन कार्य तो वास्तव में सिविल सर्विसिज़ को ही करना होता है। अतः किसी भी शासन विधान के अध्ययन करने के लिये सिविल सर्विसिज़ को समझना आवश्यक होता है।

भारत में शासन कार्य सार्वजनिक सर्विसिज़ को सौंपा जाता है। उन सर्विसिज़ को सुगमता के लिये—भारतीय, केन्द्रीय (प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी), रेलवे के लिये (प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी) तथा प्रान्तीय—इन ६ भागों में विभक्त किया जाता है। इन में कुछ को भारत सचिव, कुछ को गवर्नर जनरल,

कुछ को रेलवे शासन, तथा कुछ को गवर्नर अथवा प्रान्तीय सरकार नियुक्त करती है। संघ शासन के विशेष शासक-वर्ग को संघ की सर्विसिज़ का नाम दिया गया है। फिडरल कोर्ट के स्टाफ़ को प्रधान न्यायाधीश नियुक्त करेगा।

इनको नियुक्त करने के लिये, केन्द्र में "फिडरल पब्लिक सर्विसिज़ कमीशन" तथा प्रान्तों में "प्रांतीय पब्लिक सर्विसिज़ कमीशन" का निर्माण किया गया है। ये कमीशन नौकरियों पर नियुक्त करने के लिये मुकाबले की परीक्षा लेते हैं। कुछ लोग तो इन मुकाबले की परीक्षाओं के परिणाम पर लिये जाते हैं, और कुछ लोग सीधे नामज़द किये जाते हैं।

उत्तरदायी शासन में इन पर व्यवस्थापिका सभा का पूरा-पूरा नियन्त्रण होना चाहिए। लेकिन ऐसा करना अंग्रेज़ी जनता को भला न लगा। क्योंकि भारतीय नौकरियों में से अंग्रेज़ों को निकाल देना, अथवा भारतीय शासन में उनकी स्थिति को किसी प्रकार की हानि पहुंचाना, उन्हें बहुत खतरनाक जान पड़ा। उत्तरदायी शासन मिलने से पहले सिविल सर्विस के हाथ में ही शासन के पूर्ण अधिकार थे। नौकरशाही सरकार में उन पर जनता का किसी प्रकार से भी कोई नियन्त्रण न था। अतः तब से शक्तियों का प्रयोग करना इन कर्मचारियों का स्वभाव बन गया है। लेकिन उत्तरादायी शासन में उन्हें 'अफसर" नहीं, बल्कि वास्तविक 'सेवक' बनना पड़ता है। इस बात से स्थिति में फरक पड़ना ही था। इसके विरुद्ध एक ओर तो सरकारी अफ़सरों ने आवाज़ उठाई। अंग्रेज़ी जनता ने उनका समर्थन किया, क्यों कि यदि सिविल सर्विसिज़ की स्थिति में कुछ अन्तर पड़ गया, तो अंग्रेज़ों का

भारत सरकार पर नियन्त्रण कम हो जाएगा। अतः सिविल सर्विसिज़ को गवर्नर, गवर्नर जनरल तथा भारत मन्त्री के अधीन कर दिया गया। मज़ा इस बात का है कि कहने को तो शासक मन्त्रि-मण्डल को बनाया जा रहा है परन्तु राज्य कर्मचारी उनके अधीन नहीं होंगे। उनकी भर्ती, उनके वेतन, उनके छुट्टी मिलने के नियम आदि सभी बातों का निश्चय करने का व्यवस्थापिका सभा को अधिकार नहीं। इन नौकरियों के ऊपर जितना व्यय होगा, उस पर व्यवस्थापिका सभा वोट भी नहीं दे सकती। नये विधान में सर्विस वालों की पेन्शन, चिकित्सा, विदेशों से आकर नौकरी करने के लिये विशेष उपवेतन आदि विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखा गया है। यहां यह नोट कर लेना चाहिये कि इन उच्च नौकरियों के वेतन के लिये प्रति वर्ष १०० करोड़ रुपया खर्च होता है। यह व्यय सम्पूर्ण व्यय का ३० प्रतिशत है।

भारतीयकरण (Indiansation)

वास्तविक स्वराज्य में एक ओर तो कर्मचारी-वर्ग व्यवस्थापिका सभा के नियन्त्रण में होना चाहिये। दूसरे सभी कर्मचारी भी भारतीय ही होने चाहियें। ताकि भारतीयों को अपना शासन आप करने का अवसर मिले, विशेषतः जब भारतीयों में शासन कार्य करने की आवश्यक क्षमता विद्यमान है। उस पर भारतीयकरण से व्यय भी कम हो जायेगा। स्मरण रहे कि प्रान्तीय आय में से, संयुक्त पार्लियामेण्ट्री कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार ४० प्रतिशत व्यय सर्विसिज़ पर होता है। भारतीयों की यह मांग किसी सीमा तक पूरी भी की गई है। "ली" कमिशन ने १९२४ में इण्डियन सिविल सर्विस में १९३९ तक ५० प्रतिशत; पोलीस में

१९४६ तक ५० प्रतिशत; जंगलात विभाग में ७५ प्रतिशत तथा आबपाशी विभाग में ५० प्रतिशत भारतीयों को नियुक्त करने का वचन दिया था। इसके अतिरिक्त केन्द्र के राजनीतिक विभाग में २५ प्रतिशत; कस्टम्ज़ में कम से कम ५० प्रतिशत; तार तथा वायरलैस विभाग में ७५ प्रतिशत, रेलवे में ७५ प्रतिशत स्थान भारतीयों को देने का निर्णय हुआ था।

संयुक्त पार्लियामेन्ट्री कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार १९३३ में भारतीय तथा प्रान्तीय सरकारों में यूरोपियन भारतीय उच्च कर्मचारी निम्नलिखित संख्या में थे:—

	यूरोपियन	भारतीय	कुल
सिविल सर्विस	८१९	४७८	१२९७
पोलीस	५१३	१५२	६६५
जंगल	२०३	९६	२९९
इंजीनियरिंग विभाग	३०४	२९२	५९६
चिकित्सा विभाग (सिविल)	२००	९८	२९८
शिक्षा विभाग	९६	७९	१७५
कृषि विभाग	४६	३०	७६
पशु-चिकित्सा विभाग	२०	२	२२
	२२०१	१२२७	३४२८

संघ शासन

(प्रान्तों और रियासतों में शासन सम्बन्ध)

१९३५ के विधान से एक प्रकार से भारतवर्ष को तीन भागों में बिभक्त किया गया है । एक भाग ब्रिटिश प्रांत तथा चीफ़ कमिश्नर के प्रदेश हैं, दूसरा भाग रियासतें, तथा इन दोनों को सम्बद्ध करने वाला तीसरा भाग—संघ--केन्द्र है । हम ने यहां संघ शासन तथा प्रान्तीय और रियासती सरकारों के पारस्परिक शासन सम्बन्ध को समझना है ।

ब्रिटिश भारत केन्द्रित शासन से संघ शासन बनेगा, इस लिये संघ तथा प्रान्तों के अधिकार क्षेत्रों को पृथक-पृथक भी कर दिया गया है । तो भी सम्पूर्ण भारत में शान्ति तथा व्यवस्था का अतिरिक्त उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल पर है । इस लिये चाहे प्रान्तों को स्वराज्य मिल गया है, तथापि गवर्नर जनरल का प्रान्तीय शासनों पर पर्याप्त निरीक्षण रहता है ।

नये विधान के अनुसार प्रान्तों के शासनाधिकारों का इस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिये, जिससे संघ के प्रान्तों तथा रियासतों में लागू कानून की अवज्ञा न हो । उन क्षेत्रों में, जिन में संघ तथा प्रान्तों का समानाधिकार (Concurrent issues) है-संघ की सरकार प्रान्तों को आदेश दे सकती

है। प्रान्तों को संघ की फौज़ी आवश्यकताओं के लिये मार्ग आदि ठीक रखने की व्यवस्था करनी पड़ेगी, इस बात का प्रबन्ध कानूनन कर दिया गया है। संघ के कानून को लागू करवाने के लिये गवर्नर जनरल प्रान्त के गवर्नर को अपने एजेण्ट के रूप में अपनी विवेचनात्मक शक्तियों का प्रयोग करने का आदेश दे सकता है। गवर्नर को जिन अधिकारों में अपनी विवेचनात्मक शक्तियों का प्रयोग करना होता है, अथवा जहां उसके विशेष उत्तरदायित्व का प्रश्न होता है—उस सीमा तक वह गवर्नर जनरल के अधीन रहता है।

शासन कार्य में तीन सीढ़ियां होती हैं। सबसे पहले तो संघ के कानूनों को कार्य रूप में लाने के लिये नियमों का बनाना, दूसरे, उन नियमों का अफसरों द्वारा कार्य रूप में लाना; तीसरे, यह देखना कि वह ठीक तरह से कार्य रूप में लाये जा रहे हैं या नहीं। ऐसा करने के लिये जहां तक ब्रिटिश प्रान्तों तथा चीफ़ कमिश्नरियों का सम्बन्ध है—तरीका सीधा है। संघ के कुछ कानून तो स्वयं संघ के कर्मचारियों द्वारा लागू करवाये जायेंगे, तथा कुछ कानूनों को लगवाने का कार्य प्रान्तीय शासन की अनुमति से प्रान्तीय सरकारों के ज़िम्मे सौंप दिया जायेगा। संघ शासन, कोई विशेष कानून बना कर प्रान्तीय सरकार तथा उसके कर्मचारियों को विशेष अधिकार भी दे सकता है।

रियासतों में यह तरीका कुछ भिन्न होगा। संघ शासन के कानूनों को लागू करने का काम नरेशों के सुपुर्द कर दिया जायगा। उसके बाद यह नरेशों का काम होगा कि विभिन्न कर्मचारियों द्वारा उनको कार्य रूप में लाया जाय। फ़िडरल शासन

केवल यही आदेश दे सकता है कि किस प्रकार उनको लागू करवाना है। यदि संघ-सरकार चाहे तो रियासत के नरेशों द्वारा नियुक्त कर्मचारियों को सीधा अपने अधीन भी कर सकती है। पर उस अवस्था में रियासत को, संघ-शासन से इन कर्मचारियों का वेतन मिलेगा। कुछ रियासतों को यह कार्य सीधा ही सौंप दिया जायगा। लेकिन यह कार्य रियासतें संतोषपूर्वक न करेंगी, तो गवर्नर-जनरल विवेचनात्मक शक्तियों का प्रयोग कर रियासती नरेशों को अपनी ज़िम्मेवारी को ठीक तौर से निभाने के लिये आज्ञा दे सकता है। इस ढंग से केवल वे रियासतें संघ कानूनों को कार्य रूप दे सकेंगी, जिनका अपना शासन-ढंग उच्च कोटि का हो। कुछ रियासतों में तो फ़िडरल कर्मचारी सीधा भी कानून लागू करवा सकेंगे, लेकिन ऐसा केवल उन्हीं रियासतों में हो सकेगा, जिन्हों ने ऐसा करवाना "इंस्ट्रूमेण्ट आफ़ एक्सेशन (Instrument of accession) में मान लिया गया हो।

ब्रौडकास्टिंग

आधुनिक-युग में ब्रौडकास्टिङ्ग सार्वजनिक मत को बनाने, प्रभावित करने तथा जनता को पथ निर्देश करने का एक अति प्रभावयुक्त साधन है। इसी लिये एक्ट में इस विषय का विशेष ध्यान रखा गया है। ब्रौडकास्टिङ्ग को संघ-विषय नहीं रखा गया, यद्यपि कुछ स्थितियों में इस पर केन्द्र का नियन्त्रण रहता है। प्रान्तों तथा रियासतों को भी ब्रौडकास्टिङ्ग स्टेशन बनाने की अनुमति दी गई है। इसका एक कारण यह था कि भारत जैसे विस्तृत तथा बहुभाषायुक्त देश में इस विषय को केन्द्रित करके केन्द्र से भारत की सब भाषाओं से ब्रौडकास्ट करना

असम्भव सा हो जाता है। और यदि केवल एक ही भाषा में ब्रौडकास्ट किया जाय, तो ब्रौडकास्ट करने का लाभ बहुत कम हो जाता है, क्योंकि ब्रौडकास्टिङ्ग का प्रभाव तो तभी हो सकता है, जब कि लोग उसे समझें। उसके लिये लोगों की अपनी-अपनी भाषाओं में ब्रौडकास्ट किया जाना चाहिये।

कृषि के लिये पानी

१९१९ के विधान में "कृषि के लिये जल" एक प्रान्तीय विषय था। लेकिन जब इसका सम्बन्ध एक से अधिक प्रान्त से होता था, तब वह केन्द्रीय विषय माना जाता था। लेकिन नये विधान के अन्तर्गत जब कभी दो या दो से अधिक प्रान्तों में पानी के प्रश्न पर झगड़ा हो जाय, तो गवर्नर जनरल, आबपाशी, इन्जीनिअरिंग, अर्थ, तथा कानून के विशेषज्ञों का एक कमीशन नियुक्त करेगा। यह कमिशन अपनी रिपोर्ट देगा। उस रिपोर्ट पर विचार कर गवर्नर जनरल जो निर्णय देना ठीक समझेगा, वह दे देगा। लेकिन यदि इस निर्णय से प्रान्तों तथा रियासतों को सन्तोष न हो, तो वह सम्राट् (King in Council) से भी निर्णय प्राप्त कर सकते हैं।

अन्तर्प्रान्तीय सहयोग

भारत जैसे महादेश में कई ऐसी समस्याएं उठेंगी, जिनका सम्पूर्ण भारत से सम्बन्ध होगा तथा जिनको हल करने के लिए अखिल भारतीय आधार पर प्रयत्न करना आवश्यक होगा। १९१९ के विधान में तो ऐसी अवस्था में यदि सभी प्रान्त इकट्ठे होकर काम न कर सकें, तो इस बात का निर्णय गवर्नर जनरल कर सकता था। लेकिन १९३५ के विधान में इस बात का कानूनन

कोई प्रबन्ध नहीं किया गया। सम्राट् को, ऐसी परिस्थितियों के उपस्थित होने पर अन्तर्प्रान्तीय काउँसिल बनाने का अधिकार दिया गया है। इस काउँसिल का कर्तव्य, किसी अन्तर्प्रान्तीय विषय के सम्बन्ध में, जिस पर झगड़ा उठ खड़ा हो, जांच करना तथा परामर्श देना होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह पता चल गया होगा कि यद्यपि नया विधान प्रान्तीय स्वराज्य को मानता है, तो भी इस में संघ तथा इसके सदस्य प्रान्तों अथवा रियासतों के बीच एक ऐसा शासनात्मक तथा व्यवस्थात्मक सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है, जिस से एक ओर तो रियासतों के स्वत्वों की रक्षा की जा सकती है और दूसरी ओर सामान्य हितों वाले विषयों पर सम्पूर्ण भारतवर्ष के सहयोग का प्रबन्ध भी किया जा सकता है, और यदि किन्ही दो प्रान्तों अथवा रियासतों में झगड़ा उठ खड़ा हो, जिसका होना बहुत सम्भव है, तो उसका भी इन्तज़ाम किया जा सकता है।

१६३५ के विधान से पहले भारतवर्ष में केन्द्रित शासन था, और उस शासन की छाप अब भी नये शासन-विधान पर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

संघ की आर्थिक व्यवस्था

हम इस विषय को दो भागों में विभक्त करेंगे । प्रथम इस नये विधान को क्रियात्मक रूप देने में कितना अधिक व्यय होगा। दूसरे संघ तथा इसके सदस्य प्रान्तों और रियासतों में आय के स्रोतों को किस प्रकार बांटा जायगा।

इस विधान को क्रियात्मक रूप देने के लिये, व्यवस्थापिका सभाओं के आकार को बढ़ाने के लिये तथा फिडरल कोर्ट की स्थापना आदि के लिये ७५ लाख रुपया केन्द्र में तथा ७५ लाख रुपया प्रान्तों में व्यय होगा। इसके अतिरिक्त बर्मा के भारत वर्ष से पृथक हो जाने से केन्द्र की आय में प्रति वर्ष ३ करोड़ रुपये का अन्तर पड़ा है। उस पर सिन्ध को १०५ लाख, उड़ीसा को ४० लाख तथा सीमा प्रान्त को १०० लाख रुपया देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त रियासतों से आर्थिक निबटारे में एक करोड़ रुपया प्रति वर्ष हानि होगी। यह सारा व्यय तथा हानि, संयुक्त पार्लियामेण्ट्री कमेटी के मतानुसार इतना अधिक नहीं कि संघ शासन के विचार को छोड़ दिया जाय ।

दूसरा प्रश्न—अर्थात् संघ, इसके सदस्य प्रान्तों तथा रियासतों में आय के स्रोतों का बँटवारा बड़ा महत्वपूर्ण है। १९१९ के विधान में भी आय के स्रोतों को बांट दिया गया था।

कानून की दृष्टि में तो यह बंटवारा केन्द्र द्वारा शासन की सुगमता के लिये किया गया था, संघ के आदर्श को ले कर नहीं, लेकिन आर्थिक दृष्टि से वह संघ पद्धति के आदर्श पर ही था। उसमें भी आय के स्रोतों को स्पष्टता के साथ पृथक्-पृथक् किया गया था।

यहां यह बता देना कदाचित् ठीक होगा कि किसी भी संघ शासन में आय के स्रोतों का बँटवारा करना एक कठिन कार्य होता है, क्यों कि एक ही देश में, एक ही जनता से, दो भिन्न तथा स्वतन्त्र अंशों ने अपनी आय प्राप्त करनी होती है। इस अवस्था में, दोनों स्वतन्त्र अंशों के लिये आय क्षेत्रों का पृथक् कर देना सम्भव भी है, क्योंकि वैधानिक स्थिति तो अवश्य सरल हो जाती है, परन्तु इस बँटवारे से जो आय होती है, वह दोनों अंशों की आर्थिक आवश्ययताओं को पूरा नहीं कर सकती।

भारत में यह बँटवारा करते समय इस बात का विचार रखना था कि केन्द्र का व्यय, सिवाय युद्ध की अवस्था के, प्रायः एक तरह का रहता है। लेकिन प्रान्तों के राष्ट्रीय निर्माण सम्बन्धी कार्यों के लिये व्यय की वृद्धि की कोई सीमा नहीं। उस पर एक बात यह है कि केन्द्र की आय के स्रोतों से आय की वृद्धि होनी बहुत सम्भव है और प्रान्तों के आय-स्रोतों से ऐसी कोई आशा नहीं। अतः समस्या यह थी कि यह बँटवारा इस प्रकार से होना चाहिये जिस से एक ओर तो केन्द्र में आर्थिक स्थिरता रहे तथा दूसरी ओर प्रान्तीय सरकारों की आवश्यकताओं के लिये पर्याप्त आय का प्रबन्ध हो सके।

इस समस्या में कठिनाइयां यह हैं कि एक ओर तो प्रान्तों तथा केन्द्र के लिये आय को एक ही जनता से प्राप्त करना

होता है। उस पर बम्बई तथा बंगाल की प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार से तट कर की आय का एक विशेष भाग मांगती हैं, क्योंकि औद्योगीकरण से उन प्रान्तों में आय अधिक होती है। आय अधिक होने से केन्द्रीय सरकार को आय-कर भी, अन्य प्रान्तों की अपेक्षा इन प्रान्तों से अधिक मिलता है। उस पर कस्टम्ज़ से जो आय केन्द्रीय सरकार को होती है— उस में से रियासतें भी अपना भाग लेना चाहती हैं। बात यह है कि जो पदार्थ अन्य देशों से भारत में आते हैं, उन पर तट-कर लगाया जाता है। इस तट-कर से जो आय होती है, वह केन्द्रीय कोष में जाती है। लेकिन जो पदार्थ अन्य देशों से यहां भारत में आ कर बिकते हैं, उनका केवल ब्रिटिश-भारत वाले ही उपयोग नहीं करते। रियासत निवासी भी उसको खरीदते हैं। अतः रियासती नरेश इस तट-कर की आय के कुछ अंश पर अपना अधिकार समझते हैं। और वह अंश उन्हें दिया भी जायगा। इस दशा में केन्द्र की आय में कुछ और कमी होगी। संघ शासन को जो अन्य व्यय करने होंगे, वह तो हम प्रारम्भ ही में बता चुके हैं।

इसके अतिरिक्त एक और पेचीदगी पैदा हो जाती है। रियासतों के संघशासन में प्रवेश करने पर, सिद्धान्त तो यह है कि संघ शासन के सभी अंगों से एक ही रीति से संघ कोष में आय पहुंचे। अब केन्द्रीय सरकार की आय का $\frac{4}{5}$ वाँ भाग तो परोक्ष-कर (indirect taxes) से आता है शेष $\frac{1}{5}$ वां भाग ब्रिटिश भारत से आय-कर द्वारा। परोक्ष-कर के विषय में तो कोई झगड़ा नहीं। लेकिन रियासती नरेश किसी भी प्रकार का सीधा-कर अपनी रियासतों में से इकट्ठा किये जाने

के विरुद्ध हैं। उनकी युक्ति यह है कि हम रियासत वाले, घाटे वाले प्रान्तों (सिंध, उड़ीसा तथा सीमाप्रान्त) के लिये पैसा क्यों दें और न वे यह चाहते हैं कि संघशासन स्थापित होने से पहले भारत सरकार जो ऋण ले चुकी है—उनका उत्तरदायित्व उन पर हो। लेकिन मज़े की बात यह है कि वे संघ शासन में प्रवेश करना चाहते हैं, तथापि उनकी सीमा में ब्रिटिश भारत से जाने वाले पदार्थों पर जो कर लगा हुआ है, उसे वह नहीं हटाना चाहते। यहां यह सब बताने का उद्देश्य केवल इतना ही है कि रियासतों के संघ शासन में प्रवेश करने से संघ शासन की आर्थिक स्थिति में हानि ही होगी, लाभ कोई नहीं।

इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये सर ओटो नीमेअर के प्रधानत्व में एक कमीशन नियुक्त किया गया था। १९३५ के विधान में तो संघ शासन की आर्थिक व्यवस्था का ढांचा मात्र ही दिया था। उसको पूरा करने का काम इस कमीशन ने करना था। इस कमीशन के सपुर्द एक और भी काम था। इसने भारत तथा प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करके यह बताना था कि भारतीय आर्थिक स्थिति संघ शासन की आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगी या नहीं। संघ शासन के स्थापित करने से पहले जिन आर्थिक शर्तों का पूरा होना आवश्यक था, वे हैं—आर्थिक स्थिरता, रिज़र्वबैंक की स्थापना, बजटों का समतुलन, पर्याप्त सुरक्षित धन का प्रबन्ध तथा आयात-निर्यात का भारत के हक़ में समतुलन। सर औटो नीमेअर ने केन्द्र तथा प्रान्तों की आर्थिक स्थिति को सन्तोषजनक बताया, तथा केन्द्र और प्रान्तों से आय के स्रोतों का बंटवारा निर्दिष्ट किया। ऐसा करने पर ३ जुलाई १९३६ को, जो ढांचामात्र १९३५ के

विधान में दिया गया था, सम्राट् के आदेश से उसे पूरा कर दिया गया।

केन्द्र की आय के मुख्य स्रोत

केन्द्र की आय के मुख्य स्रोतों को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१—उत्तराधिकार कर, स्टैम्पकर, रेल तथा वायुयानों द्वारा लाई गई वस्तुओं पर टर्मिनल-टैक्स (Terminal tax) तथा रेलवे के किरायों आदि पर कर।

इन करों से जो आय होगी, उसे कानून के अनुसार प्रान्तों तथा रियासतों में बांट दिया जायगा।

२. आयकर।

इसका ५० प्रतिशत भाग उसी प्रान्त तथा रियासत (जिन रियासतों में यह कर लगाया जायेगा) को दिया जायगा, जहां से वह प्राप्त होगा। लेकिन, पहले पाँच वर्षों के लिये प्रान्तों को इस आय में से कुछ नहीं मिलेगा। उसके बाद भी उसी अवस्था में उन्हें भाग मिलेगा, जब कि संघ शासन की आर्थिक व्यवस्था स्थिर हो जाय।

इसके अतिरिक्त संघ की आवश्यकताओं के लिये बहुत बड़ी आयों पर अतिरिक्त आय-कर (surcharge) भी लगाया जा सकता है। इसमें रियासतों को भी अपना भाग देना पड़ेगा।

३. कारपोरेशन कर;

यह कम्पनियों की आय पर लगाया जायेगा। इस कर को रियासतों ने भी लगाना स्वीकार किया है। रियासतों से या तो यह कर सीधा वसूल किया जायगा, अथवा रियासतें इकट्ठा करके संघ को देंगी। इस अवस्था में कुल कर नियत कर दिया

जायगा। यदि रियासतों को यह कर अधिक प्रतीत हो, तो वे फ़िडरल कोर्ट में अपील भी कर सकती हैं। लेकिन रियासतों में यह कर दस वर्षों के बाद से ही वसूल किया जायगा।

४. नमक कर

संघ का आन्तरिक (एक्साइज़-excise) कर;

निर्यात-कर

इस आय में सारा या उसका कुछ अंश उस प्रांत तथा रियासत को दे दिया जायगा, जहां से यह वसूल किया गया होगा। जैसे जूट पर के निर्यात कर की आय में से ६२ प्रतिशत भाग बंगाल, बिहार, आसाम तथा उड़ीसा को दिया जायगा।

५—अन्य स्रोत ...

इस आय में से संयुक्त प्रान्त को ५ वर्ष के लिये २५ लाख, आसाम को ३० लाख, सीमा प्रान्त को १०० लाख, उड़ीसा को ४० लाख तथा सिन्ध को दस वर्षों के लिये १०५ लाख रुपया प्रति वर्ष दिया जायगा।

प्रान्तीय आय के स्रोत

१. आय-कर में से भाग।

२. भूमि कर और मकानों आदि पर कर।

३. कृषि की आय पर लगान; तथा कृषि-भूमि पर उत्तराधिकार प्राप्त करने पर कर।

४. अपने प्रान्त तथा भारत में बनाई गई शराब, अफ़ीम आदि वस्तुओं पर एक्साइज़ कर।

५. खनिज द्रव्यों के अधिकारों पर कर। इस कर को लगाते समय संघ व्यवस्थापिका सभा द्वारा खनिज द्रव्यों के निकालने के लिये जो पाबन्दियां लगाई गई होंगी; उनका ध्यान रखना होगा।

६. नौकरियों, पेशों आदि पर कर।

—इत्यादि १६ विभाग १९३५ के विधान में दिये गये हैं।

संघ तथा रियासतें

रियासतें संघ-कोष में अपना भाग परोक्ष कर के रूप में देती हैं। सिवाय, कारपोरेशन कर के (जो कि १० वर्ष बाद से ही लगाया जा सकता है) तथा संघ की आवश्यकताओं के लिये एक अतिरिक्त-आय कर (Surcharge) के—रियासतों से और किसी प्रकार का सीधा कर नहीं वसूल किया जा सकता।

इनके अतिरिक्त रियासतों के संघ शासन में प्रवेश करने पर कुछ आर्थिक परिवर्तन करने होंगे। आजकल बहुत सी रियासतें फौजी तथा अन्य खर्चों के लिये जो रुपया केन्द्रीय सरकार को देती हैं, वह २० वर्ष में क्रमशः बन्द कर दिया जायगा। इससे रियासतों की आय में प्रति वर्ष ७५ लाख रुपयों की वृद्धि या बचत हो जायगी। रियासतों को संघ शासन में लाने के लिये यह प्रलोभन दिया गया था।

रिज़र्व बैंक (Reserve Bank)

रिज़र्व बैंक का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि रिज़र्व बैङ्क की स्थापना संघशासन प्रारम्भ करने के लिये एक आवश्यक शर्त थी। यह संस्था किसी भी केन्द्रीय शासन की अर्थ-व्यवस्था में एक प्रधान अंग होती है। रिज़र्व बैङ्क की बहुत-सी परिभाषायें हैं। आसान भाषा में रिज़र्व बैङ्क वह बैङ्क है जो जनता के आर्थिक लेनदेन, मदद तथा ऋण की मांग को पूरा करता है और राजनीति के प्रभाव या लोभ से पृथक् रहता है।

भारत में रिज़र्व बैङ्क खोलने का उद्देश्य भारत की आर्थिक स्थिरता को कायम रखना था। यह बात स्वीकार की गई थी कि

मुद्रा (Currency) तथा साख (Credit) का नियन्त्रण एक स्वतन्त्र संस्था, रिज़र्व बैङ्क, के हाथों देना चाहिये। बैंक नोट चलाने का तथा स्थायी कोष (reserve) रखने का ज़िम्मा भी रिज़र्वबैंक को दिया गया । १६३४ में रिज़र्व बैङ्क आफ़ इण्डिया कानून पास हुआ और १६३५ में यह बैङ्क प्रारम्भ किया गया।

रिज़र्व बैङ्क का मूलधन ५ करोड़ रुपया है, जो सौ-सौ रुपयों के हिस्सों में बंटा हुआ है, इसका मूलधन सरकार ने नहीं दिया है। यह एक हिस्सेदारों का बैङ्क है। रिज़र्व बैङ्क का मूलधन सरकार दे या आम जनता—इस प्रश्न पर काफी बहस हुई थी, और अन्त में जनता से ही मूलधन जमा करने का निश्चय हुआ था। संसार के जिन देशों में केन्द्रीय बैङ्क हैं, उनमें से अधिकांश बैंक हिस्सेदारों के ही हैं, सरकार के नहीं। बैंक को राजनीतिक प्रभाव से बचाने के लिये ऐसा करना आवश्यक है।

रिज़र्वबैङ्क का प्रबन्ध एक बोर्ड द्वारा होता है। इस बोर्ड के १६ मेम्बर हैं। उनसे एक गवर्नर और एक सहायक गवर्नर को गवर्नरजनरल चुनता है। इनके सिवा ४ अन्य सदस्यों को भी गवर्नर जनरल ही नियुक्त करता है। एक सरकारी अफसर भी बोर्ड का सदस्य होता है। शेष ८ सदस्यों को हिस्सेदार चुनते हैं। इस प्रकार बोर्ड के सदस्यों में ८ सरकारी सदस्य और ८ ग़ैर सरकारी सदस्य हैं। इतने अधिक सरकारी सदस्यों का होना किसी दशा में भी उपयुक्त नहीं है। ऐसी अवस्था में बैङ्क का राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रहना सम्भव नहीं मालूम पड़ता।

व्यवस्थापिका सभा का भी इस बैङ्क पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं। व्यवस्थापिका सभा में मुद्रा तथा रिज़र्व बैंङ्क की

बनावट तथा कार्यों के विषय में किसी प्रकार का बिल या संशोधन नहीं पेश किया जासकता।

अब अन्त में संघ की आर्थिक व्यवस्था की कुछ आलोचना करनी है। इस आर्थिक व्यवस्था तथा १९१९ के विधान के अन्तर्गत आर्थिक व्यवस्था के आधार में कोई भेद नहीं। केवल यहां सूचियों को अधिक विस्तार से बनाया गया है—अन्यथा बँटवारा प्रायः एक जैसा ही है।

संघ के सन्मुख वास्तव में समस्या यह थी कि किस प्रकार प्रान्तों को अधिक रुपया मिल सके। चाहे ऐसा करने के लिए केन्द्रीय आय में से कुछ भाग देना पड़े, चाहे प्रान्तों को आय के उन स्रोतों को दिया जाय, जिनके भविष्य में बढ़ने की आशा हो। यह तो संयुक्त पार्लियामेण्ट्री कमेटी ने भी माना है कि केन्द्र को जो आय के स्रोत दिये गये हैं, उन से भविष्य में आयवृद्धि होने की आशा है। मगर प्रान्तीय स्रोतों से आयवृद्धि होने की कोई सम्भावना नहीं। प्रान्तों को बहुत धन की आवश्यकता है, लेकिन इन को केन्द्र से भी कोई आशा नहीं। केन्द्रीय आय बढ़ेगी सही, लेकिन उससे प्रांतों को क्या लाभ ?

उस पर रियासतों के संघ में आने से और हानि होगी। प्रति वर्ष ७५ लाख रुपये का अधिक बोझ भारतीय जनता के सिर पड़ेगा। भविष्य में भी रियासतों पर किसी प्रकार का कर लगाकर आयवृद्धि की आशा नहीं रखी जा सकती। ऐसा काम रियासतें भला क्यों स्वीकार करने लगीं ! वे तो परोक्ष-कर पर ही जोर देंगी। जिससे खरीदारों पर बोझ पड़ेगा। ऐसा भी हो सकता

है कि भविष्य में रियासतों को जितने अधिक रुपये की संघ-शासन के लिए आवश्यकता पड़े, उसे प्राप्त करने के लिए वे ब्रिटिश भारत पर और सीधे कर लगवा दें, क्योंकि परोक्ष कर एक सीमा से आगे बढ़ाये नहीं जा सकते।

---

(६)

अंग्रेज़ी सरकार का भारतीय विभाग

१८५८ के विधान ने भारत शासन को कम्पनी के हाथों से लेकर अंग्रेज़ी सरकार के हाथों में दे दिया था। उस समय से "बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल" के सभापति का स्थान भारत मन्त्री ने ले लिया, तथा "बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर" और "बोर्ड आफ़ कन्ट्रोल" का स्थान एक "परामर्श दायिनी समिति" ने। भारत मन्त्री (Secretary of State for India) का अंग्रेज़ी सरकार के मन्त्रि-मण्डल में प्रमुख स्थान है। यह व्यक्ति इंग्लैंड की पार्लियामेन्ट के दोनों में से किसी एक भवन का सदस्य होता है। यह आवश्यक नहीं कि उस व्यक्ति को भारत से व्यक्तिगत परिचय हो। वह सम्पूर्ण रूप से पार्लियामेन्ट के आगे उत्तरदायी होता है। पार्लियामेण्ट साधारण प्रस्तावों से, अविश्वास तथा स्थगित प्रस्ताव से, प्रश्नों तथा पूरक प्रश्नों द्वारा इसके कार्य पर नियन्त्रण रखती है। पार्लियामेण्ट के अतिरिक्त यह मन्त्र-मण्डल के सन्मुख भी उत्तरदायी होता है, तथा उनके सामने भारत सम्बन्धी सभी स्कीमें रखता है। यदि इसका अपने मन्त्री-मण्डल के साथियों से गम्भीर मत-भेद हो जाय तो इसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

इसके दो सहायक होते हैं। स्थायी उप-मन्त्री तथा पार्लियामेण्ट्री उप-मन्त्री। स्थायी उप-मंत्री एक सरकारी अफ़सर है, वह

इंग्लैंड में भारत कार्यालय का अधिष्ठाता होता है। इसका काम एक ओर तो शासन-कार्य करना होता है तथा दूसरी ओर भारत मन्त्री को सूचनाएं एकत्र करके देना। पार्लियामेण्ट्री उप-मंत्री का पद एक राजनीतिक पद है।

भारत मन्त्री तथा भारत समिति

नए विधान से पहले भारत में शासन ऊपर से नीचे को होता था। लोकतन्त्र की भांति नीचे से ऊपर को नहीं। अर्थात् यहाँ नौकरशाही राज्य था। इन नौकरशाहियों पर नियन्त्रण रखने के लिये भारत मंत्री की आवश्यकता पड़ी। लेकिन, भारत मंत्री के ऊपर भारत जैसे देश के शासन का उत्तरदायित्व छोड़ना भी तो ठीक न था। कारण, भारत-मंत्री प्राय: भारत से विशेष परिचित नहीं होता। अत: उसे अपने उत्तरदायित्व को निभाने में सहायता तथा परामर्श देने के लिए भारत समिति की आवश्यकता पड़ी। १८५८ के एक्ट के अंतर्गत तो इसके १५ मेम्बर थे। लेकिन १६१६ के विधान अनुसार कम से कम ८ और अधिक से अधिक १२ सदस्य होते थे। इन में से तीन स्थान भारतीयों के लिए थे। इन सदस्यों में से कम से कम आधे ऐसे होने चाहिएं जिन का भारत से व्यक्तिगत परिचय हो। पहिले (१६०७ तक) तो यह दस वर्ष तक मेम्बर रह सकते थे। लेकिन १६१६ एक्ट के अनुसार इन्हें पाँच वर्षों क लिए नियुक्त किया जाता था।

भारत-मन्त्री को, इस विधान के अनुसार, कुछ अधिकारों का प्रयोग करते समय, भारतसमिति से परामर्श लेकर काम करना होता था। दोनों को मिलाकर 'समिति सहित भारत मन्त्री' (Secretary-of-State-in-Council) कहते हैं।

साधारण तौर पर सभी विषयों का निर्णय बहुमत से किया जाता था, पर भारत-मन्त्री को इस समिति के निर्णयों को रद्द करने का अधिकार था। लेकिन भारतीय आय और व्यय तथा शाही नौकरियों के विषय में सब निर्णय बहुमत से होने आवश्यक थे। गोपनीय विषयों के लिए भारत-मन्त्री, बिना भारत-समिति के काम करता था। अतः भारतसमिति तो केवल परामर्शसमिति मात्र ही थी। भारत का राष्ट्रीय लोकमत तो इसके विरुद्ध ही रहा, क्योंकि एक तो इससे कोई लाभ न था। उस पर इसके सदस्य प्रायः भारत से अवसरप्राप्त व्यक्ति होते थे। इस समिति में अनुदारत्व का अंश अधिक होने से यह समिति भारत की राष्ट्रीय प्रगति के पथ में बाधक हो जाती थी। नये विधान में इसका स्थान भारतमन्त्री के परामर्शदाताओं ने ले लिया है।

भारत मन्त्री तथा गवर्नर जनरल

भारतमन्त्री का पार्लियामेण्ट में स्थान तथा उसका भारतसमिति से सम्बन्ध तो बताया जा चुका है। यहां भारत के वास्तविक शासक गवर्नर जनरल से उसका सम्बन्ध बताना शेष रह गया है।

कानून की दृष्टि से तो गवर्नर जनरल को भारत मन्त्री के सभी आदेशों का पालन करना पड़ता है। लेकिन ऐसा होता नहीं रहा। कारण, गवर्नर जनरल भारत जैसे विस्तृत देश के शासन का अधिष्ठाता ठहरा। और भारतमन्त्री भारत से, स्वेज़ नहर खुलने से पहले. ६ हज़ार मील पर इंग्लैण्ड में रहता था। इस अवस्था में शासन का उत्तरादायित्व गवनर जनरल पर ही रहता रहा। तब भारत मन्त्री का भारतशासन में हस्ताक्षेप करना ऊंट की पीठ पर बैठकर भेड़ों को चराने के समान होता। लेकिन यह बात बहुत कुछ भारत मन्त्री तथा गवर्नर जनरल के पारस्परिक

व्यक्तिगत सम्बन्ध पर ही निर्भर होती थी। कई भारत मन्त्री गवर्नर जनरल को अपना एजेन्ट मात्र समझते थे और कई ऐसे गवर्नर जनरल भी थे जिनके समय के भारत मन्त्री का काम पार्लियामेण्ट में उनकी नीति का प्रतिपादन करना ही था।

लेकिन स्वेज़ नहर के खुलने तथा समुद्री तार लगाए जाने से भारत तथा इंग्लैण्ड परस्पर निकट हो गये तथा दूसरी ओर भारतमन्त्री को भारत से विशेष जानकारी रखने वाले भारतसमिति के सदस्य मिल गये। इससे गवर्नर जनरल की स्वतन्ता में कमी आने लगी और भारतमन्त्रियों ने भारत के शासन कार्य में हस्ताक्षेप करना भी आरम्भ किया। लार्ड एल्गिन तथा लार्ड रिपन ने हस्ताक्षेप के विरुद्ध आवाज़ें उठाईं। लेकिन तो भी उनको भारतमन्त्री की नीति तथा आदेशों का पालन करना ही पड़ा।

शासनविधान में भारत-मन्त्री का स्थान

सिद्धान्त की दृष्टि से तो उत्तरादायी शासन में भारतमन्त्री के लिये कोई स्थान नहीं रहता। 'नौकरशाही राज्य' में तो उसकी आवश्यकता थी। क्योंकि ऊपर से नीचे वाले शासन में उत्तरदायित्व सब से ऊपरवाले अर्थात् भारत-मन्त्री में रहता था। लेकिन प्रांतों को स्वराज्य मिल जाने पर शासन का उत्तरादायित्व भारतीयों के हाथ होगया है। उदाहरण के लिये अर्थ विभाग को लीजिये। अब प्रान्तों में प्रान्तीय आय-व्यय का ज़िम्मा उत्तरादायी मन्त्रिमण्डल पर है। इससे पहले सारे भारत के आय-व्यय का ज़िम्मा भारत-मन्त्री पर था। लेकिन अब, जब कि भारत का उत्तरदायित्व ही भारतमन्त्री पर नहीं रहना है, तो भारतमन्त्री की आवश्यकता ही क्यों हो?

उसके अतिरिक्त किसी नये विधान में, जहाँ कि सिद्धान्त की दृष्टि से स्वतन्त्र प्राँतों को संघ शासन में इकट्ठा करना हो, वहाँ न तो प्रान्त अपने अधिकार गवर्नर जनरल से, और न गवर्नर या केन्द्रीय सरकार अपने अधिकार भारतमन्त्री से पाते हैं। संघशासन के इन दोनों भागों को अपने अधिकार सीधे सम्राट् से मिलने चाहियें। इस बात को संयुक्त पार्लियामैण्ट्री कमेटी ने भी माना था। अतः नये विधान में भारत सरकार को वैधानिकरूप से भारतमन्त्री के अधीन नहीं किया गया। इसी कारण से भारतमन्त्री को विधान के ११वें विभाग में रखा गया है। लेकिन केवल ११वें विभाग के अध्ययन से ही भारत मन्त्री के अधिकारों का पता नहीं चल सकता है। उसके अधिकारों को ढूंढने के लिये विधान के सभी विभागों की छानबीन करने की आवश्यकता पड़ती है। उनमें से मुख्य यह हैं:—

नये विधान में निम्नलिखित क्षेत्रों में भारतमन्त्री के पुराने अधिकार सुरक्षित रखे गये हैं—

१ – भारतीय रियासतें।

२—बाह्य मामले (भारत के अन्य उपनिवेशों के साथ सम्बन्ध के अतिरिक्त)।

३ – रक्षा।

४—अर्धसभ्य जातियों के प्रदेश।

५– आबपाशी विभाग के उच्चतम कर्मचारियों को नियुक्त करना।

६—आई. सी. एस. (सिविल विभाग); आई. एम. एस. (चिकित्सा विभाग) तथा आई. पी. एस. (पोलीस विभाग) में नियुक्तियां करना।

७—उच्च सिविल कर्म्मचारी विभाग के विषय में अन्तिम अपील।

इसके अतिरिक्त भारत मन्त्री का गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों पर भी नियन्त्रण रहेगा । क्योंकि जिन क्षेत्रों में गवर्नर ने अपनी विवेचनात्मक शक्तियों से अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय से काम लेना होगा, वहां वह गवर्नर जनरल के सामान्य नियन्त्रण में रहेगा। इसी प्रकार जिन क्षेत्रों में गवर्नर जनरल ने अपनी विवेचनात्मक शक्तियां से अथवा व्यक्तिगत निर्णय से काम लेना होगा—वहां गवर्नर जनरल, भारतमन्त्रो के सामान्य नियन्त्रण में रहेगा। गवर्नर तथा गवर्नर जनरल की विवेचनात्मक शक्तियों के अन्तर्गत एक प्रकार से शासन के सभी मुख्य अंग आ जाते हैं। अतः चाहे भारत मन्त्री को वैधानिक दृष्टि से कोई भी स्थान नहीं दिया गया—तो भी वास्तव में भारत मन्त्री की स्थिति बदली नहीं। अब वह रंगमंच पर चाहे न भी दृष्टिगोचर हो, तो भी कर्त्ता-धर्ता एक प्रकार से वही रहेगा। हम इस बात को और स्पष्ट करते हैं। आर्थिक व्यवस्था किसी राष्ट्र की जीवात्मा के समान होती है। भारत के आय-व्यय के जिस अंश पर व्यवस्थापिका सभा को वोट देने का अधिकार नहीं, वह परोक्ष रूप से भारत-मन्त्री के निन्त्रण में आ जाता है।

रेलवे विभाग (Federal Railway Authority) को लीजिये। इस विभाग को संघ शासन के नियन्त्रण में नहीं रखा गया, ताकि इसे राजनीतिक प्रभावों से पृथक् रखा जा सके और इसका कार्य व्यापारिक सिद्धान्तों के अनुसार निर्बाध रूप से चल सके। संघ शासन रेलवे विभाग सम्बन्धी नीति के सम्बन्ध में केवल निर्देश ही दे सकता है। लेकिन गवर्नर जनरल का रेलवे विभाग पर पूरी तरह से नियन्त्रण रहेगा। क्योंकि यह

विभाग गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों के अन्तर्गत है। विशेष उत्तरदायित्व होने के कारण गवर्नर जनरल को इस विषय में व्यक्तिगत निर्णय से काम लेना होगा और जिस क्षेत्र में गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय से काम ले,—इस क्षेत्र में वह भारत मन्त्री के नियन्त्रण में रहेगा। रेलवे विभाग को गवर्नर-जनरल के अधीन करने के महत्व के समझाने के लिये यहाँ यह बता दिया जाय कि १९३५-३६ के भारत सरकार के वक्तव्य के अनुसार भारत सरकार पर १२२५ करोड़ रुपये का ऋण था। इस सम्पूर्ण ऋण में ७५६ करोड़ रुपया रेलवे पर व्यय किया गया था। इसके अतिरिक्त "रिज़र्व बैङ्क" पर भी भारत-मन्त्री का नियन्त्रण रहेगा। इस अवस्था में नये विधान में भारत मन्त्री के महत्व पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

[illegible]

[illegible]

प्रारम्भ किया। कहां तक? और कैसे? इस बात पर हम विचार कर चुके हैं। लेकिन रक्षा के विषय में क्या परिस्थिति है, अथवा यों कहिए कि अपनी रक्षा का भार कहां तक भारतियों के ज़िम्मे है--इस विषय पर यहाँ हमने विचार करना है।

भारत की रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था को समझने के लिए हमें भारतीय सेना के ऐतिहासिक विकास को देखना होगा। जब अंगरेज़ १७ वीं सदी में भारत में आए थे, तो उनके साथ सेना नहीं थी और उस समय मुगल सम्राटों में सारे देश में शांति तथा व्यवस्था स्थापित करने की क्षमता थी। जो थोड़े-बहुत सिपाही अंग्रेज़ों के पास थे—उनका कार्य कारखानों की चौकीदारी करना था। तब अंग्रेज़ों के मन में राज्य स्थापना करने के लिए युद्ध करने का कोई विचार न था। यह परिस्थिति १७०६ तक रही।

१७०६ से, भारत में ब्रिटिश सेना के इतिहास का दूसरा काल आरम्भ होता है। इस काल में अंग्रेज़ों ने देशी फौज़ों को भरती करना प्रारम्भ किया। सेन्ट टामस के युद्ध में मुट्ठी भर फ्रांसीसियों द्वारा अनवरुद्दीन की सेना की पराजय ने, यूरोपिअनों की उत्कृष्टता की धाक जमा दी। फ्रांसीसियों के हौसले खुले। देखादेखी अंग्रेज़ों ने भी फ्राँसीसियों का अनुसरण किया, तथा १७४८ में मेजर लारैंस ने मद्रास में बहुत से देशी सिपाहियों की भर्ती की। इसके बाद अंग्रेज़ों-फ्रांसीसियों की प्रतिद्वन्दिता से, अंग्रेज़ों की सेना की संख्या बहुत बढ़ गई। इस लिये क्लाइव को सेना की व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ी। १७८६ में पुनः व्यवस्था की गई। इस समय कम्पनी के पास १८००० यूरोपियन तथा ५७००० देशी सैनिक थे। इस व्यवस्था से अंग्रेज़ी अफ़सरों की संख्या और उनके अधिकार अधिक कर दिये गये।

ट्रूप्स (Imperial Service Troops) कहा जाता है।

१८९५ से भारतीय सेना के इतिहास के चतुर्थ काल का आरम्भ होता है। क्योंकि १८९५ में ही भारत की मुख्य प्रान्तीय सेनाओं (Presidency armies) को एक नियन्त्रण में कर दिया गया। इन तीन मुख्य प्रान्तीय सेनाओं के स्थान पर सम्पूर्ण सेना को चार भागों में विभक्त किया गया। एक भाग पञ्जाब के, दूसरा मद्रास के, तीसरा बम्बई के तथा चौथा बंगाल के लेफ़्टि-नेण्ट गवर्नर के अधीन कर दिया गया। लार्ड किचनर के प्रधान सेनाप त बनने पर बर्मा में एक पाँचवां विभाग स्थापित किया गया।

लार्ड किचनर तथा लार्ड कर्ज़न दोनों एक ही टक्कर के व्यक्ति थे। भारत में आने पर लार्ड किचनर ने प्रस्ताव किया कि युद्ध सम्बन्धी मामलों में, प्रधान सेनापति को ही भारत सरकार का एकमात्र परामर्शदाता होना चाहिये। इससे पहले प्रधान सेनापति शासन समिति के युद्ध सचिव के द्वारा ही अपने प्रस्ताव भारत-सरकार के संमुख पेश कर सकता था। इस प्रस्ताव का मतलब यह था कि युद्ध सचिव (Military Member) के पद को हटा दिये जाय। पर ऐसा करने से प्रधान सेनापति के अधिकार बहुत अधिक बढ़ जाते थे। इस लिये तत्कालीन वायसराय, लार्ड कर्ज़न इस प्रस्ताव के विरुद्ध था। लेकिन अन्त में ब्रिटिश सरकार ने किचनर के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इसके विरोध में लार्ड कर्ज़न ने त्यागपत्र दे दिया। अतः १९०६ से, युद्ध सम्बन्धी मामलों में प्रधान सेनापति ही भारत-सरकार का एकमात्र परामर्शदाता होता है।

१९०८ में ५ सेना विभागों के स्थान पर उत्तरीय तथा

दक्षिणीय दो सेना विभाग कर दिये गये।

१६१४ में पिछला महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। भारतीय पल्टनें फ्रांस, फ्लैण्डर्ज़, पूर्वी-अफ्रिका, तुर्किस्तान, इजिप्ट पैलेस्टाइन तथा इराक में लड़ीं। लेकिन इराक युद्ध के अवसर पर भारतीय सेनाओं की त्रुटियां सामने आईं। उनको दूर करने के लिये एशर कमेटी (Esher Committee) बैठाई गई। यह एक महत्वपूर्ण निश्चय पर पहुंची। वह निश्चय था कि भारतीय सेना का उद्देश्य भारत की रक्षा करना ही है।

१६१८ में मौंटेगू चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट ने यह प्रस्ताव किया कि सेना में भारतीयों को अफ़सर भी बनाया जाना चाहिये। भारतीय सेना में दो प्रकार के अफ़सर होते हैं—एक वे जिन्हें किंग्ज़ कमिशन (King's Commission) मिलता है, दूसरे वे जिन्हें वायसराय कमिशन (Voiceroy's Commission) दिया जाता है। वायसराय-कमिशन का पद, किंग्ज़-कमीशन की अपेक्षा बहुत नीचा होता है। महायुद्ध से पहले भारतीयों को वायसराय कमिशन तो मिलता था लेकिन किंग्ज़-कमिशन किसी को भी नहीं मिलता था। युद्ध में वीरता दिखाने पर कुछ भारतीयों को किंग्ज़ कमिशन मिला था, लेकिन ऐसे भारतीय इने-गिने थे, यद्यपि भारतीय सैनिकों की संख्या यूरोपियन सैनिकों के मुकाबले में दुगनी थी।

राष्ट्रीय भावना के जागृत होने पर, अपने देश के रक्षाकार्य को अपने हाथों में लेने की आकांक्षा का होना स्वाभाविक है। विशेषतया जब इसके बिना स्वराज्य शब्द ही निरर्थक हो जाता है। अतः गत महायुद्ध के बाद इस बात पर भारतीय जनता में एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। यह आन्दोलन दो मुख्य रूपों

में जनता तथा सरकार के सन्मुख आया। एक ओर तो भारतीयों ने यह मांग की कि जहां तक हो सके, जल्दी से जल्दी स्थायी सेना के सभी कमिशन प्राप्त अफ़सर भारतीय हों। दूसरे, भारतीयों के लिये सेना सम्बन्धी शिक्षा का अधिकतम प्रबन्ध किया जाय। इसके अतिरिक्त फौजी खर्च कम करने की भी मांग की गई। क्योंकि तब, हिन्दुस्तान की केन्द्रीय सरकार अपनी कुल आमदनी का ६२$\frac{1}{2}$ प्रति शत भाग सेना पर व्यय करती थी। यदि केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों की आय को मिला कर यह अनुपात देखा जाय तो भी यह ३१$\frac{1}{2}$ प्रतिशत आता है। फौजी व्यय और सरकारी आमदनी में इतना अधिक अनुपात किसी देश में ढूढने पर नहीं मिलेगा। भारत में इतना अधिक सेना व्यय अंग्रेज़ी सिपाहियों के होने के कारण भी है। भारत में ६०,००० अंग्रेज़ी सिपाही हैं। अफ़सर तो अधिकतर अंग्रेज़ ही हैं। इसके अतिरिक्त एक अंग्रेज़ का खर्च, हिन्दुस्तानी सिपाही पर होने वाले खर्च से तिगुना है।

खर्च घटाने के विषय पर सरकार ने कुछ कमेटियां बैठाई थीं। १९१३ तक यह खर्च केवल ३० करोड़ रुपये ही था। लेकिन महायुद्ध के पश्चात् खर्च में काफी वृद्धि हुई। १९१७-१८ में यह खर्च ४४ करोड़ हो गया और १९१८-१९ में ६७ करोड़। १९२०-२१ में तो यह बढ़कर ६९ करोड़ तक पहुच गया। सन १९२२-२३ इंचकेप कमेटी की राय के अनुसार फौजी खर्च घटा कर १९२७-२८ में ५५ करोड़ कर दिया गया। लेकिन सेना के यन्त्रीकरण के प्रोग्राम के अपनाने के कारण यह खर्च पुनः बढ़ गया। बाद में १९३७-३८ में सेना किफायत कमेटी (Army Retrenchment Committee) की सिफ़ारिश के अनुसार सेना का खर्च

घटा कर ४४½ करोड़ कर दिया गया। लेकिन इस कतर-ब्योंत ने भारतीयों को सन्तुष्ट नहीं किया, क्योंकि उनके विचार में मितव्ययता के लिये अभी पर्याप्त गुंजाइश है, जो कि अंग्रेज़ी सिपाहियों की संख्या कम कर देने से, रिज़र्व सेना की वृद्धि आदि से की जा सकती है।

ब्रिटिश सरकार अंग्रेज़ी सिपाहियों की संख्या कम करने को तैयार नहीं। भारत में सेना के तीन कार्य हैं—एक तो देश को बाहरी आक्रमणों से बचाना, दूसरे सीमाप्रांत के स्वतंत्र ट्राइबों के आक्रमणों से भारतीय सीमा में शांतिपूर्वक रहने वाली जनता की रक्षा करना, तीसरे, देश का आंतरिक व्यवस्था करना। इसी विचार से भारत की स्थायी सेना में ६०,००० अंग्रेज़ और १,५०,००० भारतीय सिपाही हैं। इसके अतिरिक्त ३४,००० रिज़र्व (Reserve) में रखे जाते हैं। रिज़र्व सैनिकों को कुछ देर के लिये सैनिक शिक्षा दे दी जाती है। ऐसे सैनिक स्थायी सेना में नहीं रखे जाते पर हमेशा लड़ने के लिये तैयार रहते हैं। वे केवल लड़ाई छिड़ने पर ही काम आते हैं।

ब्रिटिश सरकार का (साइमन कमीशन की रिपोर्ट के शब्दों में) कहना है—"वैसे तो हमें अंग्रेज़ी सिपाहियों की संख्या को कम करने में कोई आपत्ति नहीं, लेकिन ऐसा करना भारत के हित में उचित नहीं। कैनेडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, न्यूफाउण्डलैण्ड, आयरलैण्ड, संयुक्त दक्षिण अफ्रीका में से भी तो हमने अंग्रेज़ी सैनिक निकाल लिये थे। क्यों कि ऐसा करने से इन उपनिवेशों के निवासी अपनी रक्षा का प्रबन्ध आप कर सकते थे। एक ओर तो इन उपनिवेशों में रक्षा का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं था; दूसरे वे देश एक राष्ट्रीय सेना खड़ी कर सकते थे। तीसरे

आन्तरिक व्यवस्था के लिये सेना की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती थी। लेकिन भारत में परिस्थितियां भिन्न हैं। यहाँ १८५० से १९३० तक, सीमा प्रान्त पर उपद्रवियों को दबाने के लिये ७२ बार सेना का प्रयोग करना पड़ा। इसके अतिरिक्त साम्प्रदायिक दंगों के अवसरों पर भी सेना की आवश्यकता पड़ती रहती है। इन दंगों में सभी लोग अंग्रेज़ी सिपाहियों की मांग करते हैं, क्यों कि वे तटस्थ होते हैं। इसी लिये आन्तरिक व्यवस्था कायम रखने के लिये जो सेना है, उसमें ७ भारतीयों के मुकाबले में ८ अंग्रेज़ी सिपाही रखे जाते हैं। जब कि शेष सेना (जिसका काम बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करना है) में अंग्रेज़ तथा भारतीय सिपाहियों का अनुपात १ : ½ है। तीसरी बात यह है कि भारत में एक अखिल भारतीय सेना का खड़ा करना एक महा-कठिन कार्य है, क्योंकि भारत के सभी प्रान्तों के निवासी युद्धकार्य के योग्य नहीं होते। ऐसी परिस्थिति यूरोप के किसी देश में नहीं। नीचे प्रान्तों के अनुसार सिपाहियों के आंकड़े दिये गये हैं:—

सीमाप्रान्त	में से	५६००
काश्मीर	,, ,,	६५००
पंजाब	,, ,,	८६,०००
नेपाल	,, ,,	१६,०००
युक्तप्रांत	,, ,,	१६,०००

ऊपर के आंकड़ों से पता चलता है कि सारी सेना का ५४ प्रतिशत भाग पंजाब से भर्ती किया जाता है और यदि गोरखों को निकाल दिया जाय, तो यह अनुपात ६२ प्रतिशत हो जाता है। इस अवस्था में यदि अंग्रेज़ी सिपाही भारत से चले जावें, तो इस बात का भय है कि कहीं पंजाब ही सारे भारत पर न छा जावे।

लेकिन राष्ट्रवादियों को ये युक्तियां ठीक नहीं जँचतीं। उनके कहने के अनुसार यह आश्चर्यजनक बात है कि भारतीय सेना के ७२ बार से अधिक सीमाप्रांत पर प्रयोग किये जाने के बावजूद भी सीमाप्रांत की समस्या हल नहीं हो सकी, जब कि ऐसी समस्या टर्की जैसे देश ने हल कर ली है। उन्हों ने ऐसी ही अनेक उपजातियों का नियन्त्रण कर लिया है। इससे दो परिमाण निकाले जा सकते हैं। या तो हमारी सेना अच्छी नहीं, या इस समस्या को दत्त चित्त होकर हल नहीं किया जाता। साम्प्रदायिक दंगों के लिए राष्ट्रवादी, ब्रिटिश सरकार को ही उत्तरदायी करार देते हैं। उन का कहना है कि भारत सरकार की "भेद तथा शासन" की नीति के कारण ही दंगे बढ़ गए हैं, विशेषतया पृथक्-निर्वाचन-पद्धति के चलने के बाद से। इस बात का प्रमाण राजा नरेन्द्रनाथ सरीखे राज-भक्त ने दिया था। उन्हों ने मिण्टो-मार्ले स्कीम से पूर्व तथा बाद के दंगों के आंकड़े इकट्ठे किए थे। उन आंकड़ों के अनुसार मिण्टो-मार्ले सुधारों के बाद दंगों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। अंग्रेज़ी सरकार, उत्तर में कहती है कि हमने पृथक् निर्वाचन-पद्धति इस लिये चलाई, कि मुसलमान इसको चाहते थे। तीसरी बात के उत्तर में, राष्ट्रवादियों का कहना है कि सरकार फ़ौज को विशेष प्रदेशों से जानबूझ कर ही भरती करती है। बंगालियों, मद्रासियों, पूरबियों आदि के लिये सेना में कोई स्थान नहीं — विशेषतया जब इन्हीं लोगों की सेनाओं ने अंग्रेज़ों के लिये भारत को जीता था। यदि वह तब अच्छे लड़ाके समझे जाते थे, तो सन १८५७ के बाद से लड़ने के अयोग्य क्यों समझे जाते हैं।

भारतीयकरण

यह सब होते हुए भी, भारतीयों के ज़ोर देने पर, सेना में थोड़ा बहुत भारतीयकरण (Indianisation) हुआ भी है। १६१७ की माँटेगू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार भारतीयों को भी किंग्ज़ कमिशन मिलना आरम्भ हुआ, यह हम बता चुके हैं। इस कमिशन को पाने के तीन तरीके थे। या तो सैण्डहर्स्ट अथवा वूलविच के सैनिक कालेजों में सैनिक-शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता होती थी, या पल्टनों के नौन-कमिशन —अर्थात् जिनको कमिशन नहीं मिलता—सैनिकों को तरक्की दी जाती थी। इसके अतिरिक्त कुछ अनपढ़ अथवा वयस्क अफसरों को वैसे ही अवैतनिक किंग्ज कमिशन मिल जाता था। १६३' तक वूलविच में तीन तथा सैण्लहर्स्ट कालिज में १० स्थान भारतीयों के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। सैण्डहर्स्ट तथा वूलविच के कालिजों में प्रवेश पाने के लिए कुछ शिक्षा देने के लिए देहरादून में, प्रिंस आफ़ वेल्ज़ इण्डियन मिलिटरी ट्रेनिङ्ग कालेज खोल दिया गया था।

१६२३ में लार्ड रालिन्सन ने एक नई स्कीम निकाली, जिसके अनुसार ८ पल्टनें केवल भारतीयों द्वारा ही पूरी की जाने लगीं। ऐसा करने से सरकार के कथनानुसार यह पता लगना था कि भारतीय-करण का कार्य सफल रूप से चल रहा है या नहीं। इन ८ पलटनों में सैनिक तथा अफ़सर सभी भारतीय ही होने थे। प्रारम्भ में तो उच्च अफ़सर अंग्रेज़ ही थे। लेकिन १६४६ तक इनके सारे के सारे अफ़सर भारतीय होंगे। यहां यह बता दिया जाय कि भारत में कुल पलटनें १३२ हैं। उन में से केवल ८ में भारतीय अफ़सर भरे जायेंगे। उस पर इस स्कीम का उद्देश्य यह भी

था कि अंग्रेज़ी अफ़सर भारतीय अफ़सरों के अधीन न होने पावें। बात इसी लिये भारतियों को नहीं जँची। १६२५ में भारतीय सैण्डहर्स्ट कमेटी,—जिसे स्कीन कमेटी भी कहते हैं—बैठी। इस ने राय दी कि भारतीयकरण करते समय प्रत्येक क्रम पर युद्ध सम्बन्धी निपुणता का ख्याल रखा जाय; सैण्डहर्स्ट में पहले की अपेक्षा दुगने भारतीयों के लिए स्थान सुरक्षित रखे जायें; १६३३ में देहरादून में इण्डियन मिलिटरी कालिज खोल दिया जाय; १६५१ तक आधे भारतीय अफ़सर हों तथा ८ टुकड़ी वाली स्कीम को छोड़ दिया जाय। भारतीय सरकार ने इस रिपोर्ट के अनुसार १६३२ में देहरादून में इण्डियन मिलिटरी कालेज खोल दिया, सैण्डस्र्ट में भारतीयों के लिये स्थान बढ़ा दिये, लेकिन ८ टुकड़ी वाली स्कीम को नहीं छोड़ा। इसका कारण हम अभी बता चुके हैं। ऐसी अवस्था में भारत में अधिक भारतीय-करण की मांग बनी ही रही।

वैधानिक स्थिति

भारत की सेना के छः भाग हैं।—१. स्थायी सेना, जिस में ब्रिटिश सेना की टुकड़ियां भी हैं। २. आग्ज़िलिअरी सेना, जिस में केवल अंग्रेज़ तथा एंग्लो-इण्डियन भरती किये जाते हैं। ३. टेरीटारिअल सेना, जिस में केवल भारतीय ही भरती किये जाते हैं। इस के अन्तर्गत यूनिवर्सिटी ट्रेनिङ्ग कोर्स भी आ जाते हैं। ४. भारतीय रियासती-सेनाएं, रियासती नरेश अपनी रक्षा के लिये अंगरेज़ी सरकार को ये सेनायें देते हैं। ५. जल-सेना। ६. वायु-सेना।

यह सारी सेना हिज़ एक्सिलेंसी प्रधान सेनापति के अधीन होती है। नेहरू रिपोर्ट ने यह सिफारिश की थी कि भारतीय

सेना भी भारतीय मन्त्रियों के अधीन होनी चाहिये। गोलमेज़ कांफ्रेंस पर जो भारतीय बुलाये गये थे, उन्होंने यह प्रस्ताव किया था कि युद्ध सम्बन्धी मामलों में, गवर्नर जनरल ग़ैरसरकारी निर्वाचित भारतीय को परामर्शदाता चुने, अर्थसचिव का फ़ौजी व्यय पर नियन्त्रण रहे तथा सेना सम्बन्धी नीति और बजट पर केन्द्र का सारा मंत्रि-मण्डल मिल कर विचार करे। लेकिन ये प्रस्ताव ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार नहीं किये। संयुक्त-पार्लियामेण्टी-कमेटी की रिपोर्ट में तो यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि यद्यपि केन्द्र में एक प्रकार की द्वैध शासन प्रणाली स्थापित की जायगी, परन्तु रक्षा सम्बन्धी क्षेत्र में गवर्नर जनरल का उत्तरदायित्व अखण्ड रहेगा। रक्षा-विभाग बिलकुल उसी के नियन्त्रण में रहेगा तथा नये शासन विधान के अनुसार सेना के ख़र्च पर देश के प्रतिनिधि चूँ भी नहीं कर सकते।

अब एक बात और कहनी है। नये शासन विधान में, किसी स्थान पर भी यह नहीं बताया गया कि इतनी भारी सेना रखने का उद्देश्य क्या है? १०० वें सैक्शन के अन्तर्गत व्यवस्थापिका सभा सम्राट् के भारत में स्थित नौ, स्थल तथा वायु सेना के विषय में कानून बना सकती है। इस धारा के अन्तर्गत सेना का उद्देश्य निश्चित किया जा सकता है, लेकिन जब तक ऐसा न हो जाय, तब तक तो सेना के रखने के लिये वैधानिक प्रमाण नहीं—सिवाय इस बात के कि रक्षाविभाग को रखना सम्राट् के विशेषाधिकारों के अन्तर्गत माना जाय। सम्राट् तो वैधानिक नियन्त्रण से ऊपर हैं। लेकिन प्रायः इस सेना के रखने के तीन उद्देश्य माने जाते हैं। देश की रक्षा

तथा देश की आंतरिक व्यवस्था का तो हम ज़िक्र कर चुके हैं। एक उद्देश्य शेष रहता है। वह है—साम्राज्य सम्बन्धी रक्षा में भाग। यह बात साइमन कमिशन की रिपोर्ट में मानी गई है। उसके अनुसार भारत की बाह्य-रक्षासम्बन्धी समस्या अंग्रेज़ों की सामान्य साम्राज्य सम्बंधी नीति के साथ बांध दी गई है। अतः साम्राज्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जो व्यय होगा, उसके लिये ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रक्षा-विभाग को प्रति वर्ष १५,००,००० पौंड देना स्वीकार किया है। अब सेना के यंत्रीकरण के लिये भी कुछ रुपया दिया गया है।

———

(११)

राष्ट्रीयता की ओर

गांधी जी के कथनानुसार भारत में राष्ट्रीयता अंग्रेज़ों की देन है। १८८४ तथा ८५ ईसवी में एक अंग्रेज़ सज्जन श्री एलन आक्टेविअन ह्यूम के प्रभाव तथा उत्साह से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव रखी गई थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम किसी विशेष तिथि से राष्ट्रीयता के काल का आरम्भ मानते हैं। राष्ट्रीयता एक मानसिक प्रवृत्ति है। यह किसी एक व्यक्ति के उत्साह तथा प्रभाव से ही देश में व्याप्त नहीं हो जाती। राजनीतितत्त्वज्ञ हेगल के कथनानुसार कोई भी सुधार बिना पुनरुज्जीवन के नहीं होता। ऐसे ही, यह भी कहा जा सकता है कि बिना धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के कोई भी राजनीतिक उत्थान तथा क्रांति नहीं हो पाती। १६ वीं सदी, भारत में पुनरुज्जीवन का काल था। उस जागृति के काल में जनता ने अपने आपको अपनी गिरी हुई अवस्था से उठाने की, अपना उद्धार करने की आवश्यकता को अनुभव किया। यह चेतना राष्ट्र के सभी क्षेत्रों में शनैः-शनैः व्याप्त होने लगी। इसने समाज, धर्म, साहित्य और संस्कृति पर गम्भीर प्रभाव डाला। साथ ही साथ यह चेतना राजनीतिक क्षेत्र में पहुँची। वहां भी इसने हलचल मचा दी।

१५ वीं, १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दियों में भी भारत में पुनरुत्थान हुए थे। लेकिन तब इनका प्रभाव साँस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहा। राजनीतिक क्षेत्रों में मराठों तथा सिक्खों ने अपने स्वतंत्र राष्ट्र कायम किये थे। पर तब भारत में ऐसा कोई अन्दोलन नहीं उठा था, जो कि सम्पूर्ण भारत में, हिंदुओं तथा मुसलमानों में, समान रूप से व्याप्त हो सका हो। १६ वीं शताब्दीका पुनरुत्थान, एक दृष्टिकोण से उस पुनरुत्थान से भिन्न है। क्योंकि इस पुनरुत्थान ने वस्तुतः सम्पूर्ण भारत में एक राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा कर दिया। यह हुआ क्यों ? और कैसे ?

इसका श्रेय अंग्रेज़ों को है। पाश्चात्यों के सम्पार्क से भारत ने अपनी स्वतंत्रता खोई, लेकिन पाश्चात्योंकी स्वतन्त्रताके आदर्श ने ही भारतवासियों को अपनी स्वतंत्रता पाने के लिये उकसाया। अंग्रेज़ों ने भारत को अपने अधीन किया। लेकिन इससे भारत जैसे उपमहाद्वीप को एक शासन मिला। राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीयताका उद्देश्य होता है, एक शासन। वह भी अपना। अंग्रेज़ों के आनेसे एक शासन तो मिला। पर अपना शासन नहीं। उस समय स्वराज्य पाने की आकांक्षा ही कहां थी ? उस समय वह भावना, जो देश भर को एक सूत्र में बंधा हुआ देखना चाहे, यहाँ न थी। लेकिन जब, अंग्रेज़ी पढ़कर भारतीयों ने मिल्टन, बर्क, मिल, मेकाले, स्पेन्सर की कृतियों को पढ़ा, तो उन में भी स्वतंत्रता के, राष्ट्रीयता के, स्वराज्य के, भाव जाग उठे। उस समय भारत में एक राष्ट्रभाषा भी न थी। अंग्रेज़ी ने उसका स्थान लिया। सड़कों, रेलों, डाक तथा तार ने देश की दूरी को दूर कर दिया। देश के लोगों को अपनी भौगोलिक एकता समझ आने लगी। भिन्न-भिन्न

प्रांतों वाले भारतीय आसानी से एक दूसरे से मिल सकने लगे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि एक दूसरे को समझने भी लगे। इस सम्पर्क से जनता के हृदयों में एकता की भावना आई।

विद्वानों, कवियों, धार्मिक सुधारकों का भी इस पुनरुत्थान में महत्वपूर्ण स्थान है। श्री जेम्स, कोलब्रुक, मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स आदि यूरोपियन विद्वानों ने तथा राजेन्द्रलाल मित्र, रानाडे, रामकृष्णगोपाल भण्डारकर, हरिप्रसाद शास्त्री आदि भारतीय विद्वानों ने भारत के प्राचीन साहित्य का अध्ययन तथा प्रकाशन किया। उन्होंने प्राचीन साहित्य के गौरव को, केवल पाश्चात्यों के सन्मुख ही नहीं, बल्कि भारतीय जनता के सन्मुख भी रखा। जनता को अपनी प्राचीन सभ्यता की महत्ता का तब तक ज्ञान न था। राजा राममोहन राय, केशव-चंद्रसेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, स्वामी दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद आदि धार्मिक तथा सामाजिक सुधारकों ने अपने प्राचीन दार्शनिक तथा धार्मिक, तत्वों के महत्व का प्रचार कर जनता में आत्माभिमान जागृत किया। लोगों के दिलों में तब ये भाव उठने लगे—यदि हमारे पूर्वज सभ्य संसार के नेता थे, तो हम क्यों न हों? भारतीय पत्रों तथा नव साहित्य ने भारत में राष्ट्रीय भावना के प्रचार में पूरा साथ दिया।

इधर भारत की गिरती हुई आर्थिक दशा ने, तथा लोगों की बेरोज़गारी ने राष्ट्रीयता की इस अशान्त ज्वाला को और भी भड़काया। भारतीय उद्योग-धन्धे बंद हो रहे थे, क्योंकि सरकार की व्यापार में बेरोकटोक नीति के कारण भारत के उद्योग-धंधे, मशीनों से बनी हुई वस्तुओं का मुकाबिला नहीं कर सकते

थे। ऐसी अवस्था में सरकार को भारतीय उद्योग धंधों की रक्षा के लिये बाहर से आने वाली वस्तुओं पर विशेष कर लगाना चाहिए था। परंतु यहाँ विदेशों के हितों का विचार रख कर इस बेरोक-टोक (Free trade) नीति का अनुसरण किया गया। इसके फल स्वरूप आगे से भी अधिक जनता को कृषि से अपना पेट पालना पड़ा। लोग पहले ही अमीर न थे। वे अब और गरीब हो गए। उस पर मौसम में अनावृष्टि से हज़ारों लाखों की संख्या में बेचारे किसानों को जीवन से हाथ धोने पड़ते थे।

१८५७ का विद्रोह, भारत में राष्ट्रीयता के आन्दोलन के इतिहास में एक युगप्रवर्तक घटना थी। इस महाविद्रोह के बाद अंग्रेज़ों के हृदयों में भारतीयों के प्रति विश्वास का भाव न रहा। जो थोड़ी बहुत सहानुभूति अंग्रेज़ों तथा भारतीयों में हुआ करती थी, वह भी न रही। जातीय विद्वेष बढ़ा। इसका प्रभाव यह हुआ कि फौज़, पोलीस, विदेशी तथा राजनीतिक विभाग आदि सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में भारतीयों को महत्वपूर्ण स्थानों से वंचित रखा गया। जनता को शस्त्र रखने की कड़ी मनाही कर दी गई। इससे भारतीय जनता की शारीरिक स्थिति भी अच्छी न रही। साम्राज्ञी की जातीय समानता की घोषणा से उन्हें कुछ आशाएं हुई थीं, लेकिन वे पूरी न हुई। भारतीयों को शासन विभाग के उच्च पदों पर नियुक्त न किया गया। सन् १८७७-७८ में आई० सी० एस० (Indian Civil Service) की नियुक्ति के लिये परीक्षाओं में प्रवेश करने के उद्देश्य से यह नियम बनाया गया कि १६ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति ही इस परीक्षा में बैठ सकेगा। इससे पहले २१ वर्षीय व्यक्ति को बैठने की आज्ञा थी। इस बात से भारत की शिक्षित जनता में पहली

बार संगठित आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन के लिए श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने उत्तरीय तथा दक्षिणीय भारत में दो दौरे लगाए। तथा इस आन्दोलन के फलस्वरूप एक अखिल भारतीय आवेदनपत्र तैयार कर हाउस आफ कामन्स को भेजा गया।

इन सब परिस्थितियोंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म दिया तथा उसका पोषण किया। मुख्य प्रांतों में भारतीय संस्थाओं की स्थापना की गई। लेकिन उनका काय सरकार के व्यवस्थापन तथा शासन सम्बन्धी कार्यों की मधुर आलोचना करना ही था। उस पर ये संस्थायें प्रान्तीय थीं, इनका सम्पूर्ण भारत से कोई सम्बन्ध न था। लार्ड रिपन के शासन काल में इल्बर्ट बिल पर यूरोपियनों के विरोध तथा भारतीयों की पराजय से, शिक्षित जनता ने राष्ट्रीय कार्यों के लिये एक संगठित तथा शक्तिशाली संस्था की आवश्यकता को अनुभव किया। इल्बर्ट बिल ने यूरोपियनों को भारतीय मैजिस्ट्रेटों तथा न्यायाधीशों के अधिकार क्षेत्र में करना चाहा था। इससे पहले यूरोपियनों के मुकदमे यूरोपियनों की अदालत में पेश किये जा सकते थे। लार्ड रिपन का उद्देश्य इस असमानता को दूर करने का था। परंतु यूरोपियनों में एक घोर आंदोलन उठ खड़ा हुआ। यहां तक कि यूरोपियनों ने लार्ड रिपन का सामाजिक बायकाट कर दिया तथा एक यूरोपियन रक्षा समिति की स्थापना की। अन्त में सरकार को समझौता करना पड़ा। भारतीयों के आत्माभिमान को इससे ठेस पहुंची। इससे जातीय विद्वेष बढ़ा। बंगाल में राजनीतिक क्षेत्र मे काम करने वालों ने श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय फण्ड के लिये आंदोलन खड़ा किया। सन् १८८३ में,

२२ से ३० दिसम्बर तक, एक राष्ट्रीय कान्फ्रैन्स की गई। प्रथम मार्च १८८४ में मि० ह्यूम—जो एक मुख्य सरकारी कर्मचारी रह चुके थे और जिन्होंने १८७२ में अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया था—ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम, एक राष्ट्रीय संस्था बनाने के लिये, एक खुला पत्र लिखा। इस आंदोलन के फलस्वरूप सन् १८८५ के दिसम्बर २७ को श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी के सभापतित्व में राष्ट्रीय काँग्रेस का प्रथम अधिवेशन हुआ।

यहां हमने काँग्रेस का इतिहास विस्तार से नहीं देना। केवल दो तीन विषयों पर ही कुछ कहना है। आज कांग्रेस के सन्मुख तीन मुख्य समस्यायें हैं—अंग्रेज़ी सरकार, मुसलमान तथा रियासतें। अतः हमने इन के साथ काँग्रेस के सम्बन्ध का अध्ययन करना है।

इस शीर्षक के अन्तर्गत हमने काँग्रेस के सरकार के प्रति तथा सरकार के काँग्रेस के प्रति भावों के विकास को देखना है। एक लेखक का कहना है कि भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस को सब से पहले उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया, फिर इसके साथ खेला गया, फिर इसे धमकाया गया, उसके बाद इसकी बात को सुनना पड़ा, लेकिन अब उसकी शक्ति को भी मानना पड़ा है। यह कथन सार-युक्त है। १८२५ में लार्ड डफरिन ने कांग्रेस अधिवेशन की कोई पर्वाह नहीं की थी। तब यह एक राजभक्त संस्था थी। ह्यूम, सर विलियम वैडरबर्न, सर हैनरी काटन, जार्ज यूल, नौर्टन आदि उदार सरकारी तथा गैर सरकारी यूरोपिअनों ने कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रमुख भाग लिया। १८८६ तथा १८८७ में वायसरायों ने कांग्रेस के अधिवेशनों के अवसरों पर कांग्रेस के प्रतिनिधियों को गवर्नमेंट हाउस पर "गार्डन पार्टीज़" पर बुलाया था। लेकिन यह बात चली

नहीं। क्यों कि प्रारम्भ से ही कांग्रेस ने वैधानिक तथा प्रतिनिधि सतात्मक शासन की मांग की। इसके पहले अधिवेशन में ही व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित सदस्यों के अनुपातको बढ़ाने, बजट पर बहस करने, शासनकार्य के विषय में प्रश्न पूछने, तथा भारत मंत्री की भारतसमिति को हटाने के लिए प्रस्ताव पास किये गए। १८९२ में कांग्रेस को 'खिलाने के लिये' इण्डिया-कांउसिल एक्ट से भारतीयों को कुछ रियायतें दी गईं।

इस सुधार से काँग्रेस में दो दल बन गये। एक उनका जो कि सुधार से संतुष्ट थे। दूसरे वे जो इससे असंतुष्ट थे। असंतुष्ट दल के नेता थे श्री बाल गंगाधर तिलक और इनका गढ़ था पूना में। बाद में बंगाल में भी गरम दल वालों की संख्या तथा प्रभाव बढ़ने लगा। इस प्रभाव को बढ़ाने में लार्ड कर्ज़न का हाथ था। लार्ड कर्ज़न १९०५ में बंगाल को दो भागों में बांट कर बंगालियों को सरकार के विरुद्ध कर लिया। इसके विरोध में सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी तथा विपिन चंद्र पाल के नेतृत्व स्वदेशी तथा "एन्टी पार्टीशन" आन्दोलन बड़े ज़ोरशोर के साथ चल पड़े। इससे लोक-मान्य तिलक, लाला लाजपतराय तथा विपिनचंद्र पाल के गरम दल का प्रभाव बढ़ा। १९०७ में तो खुलमखुल्ला, सूरत कांग्रेस के अवसर पर, इन दोनों दलों में विभेद हो गया। लेकिन कांग्रेस गरम दल वालों के हाथों में न आई, क्योंकि अभी तक वहां नरम दल वालों का बहुमत था।

१९०५ से १९१० तक का काल राजनीतिक क्षेत्र में घोर अशांति का काल था। बंगाल से क्रांतिकारी विचार अन्य प्रांतों में फैले। क्रांतिकारियों ने गुप्त संस्थाएं स्थापित कीं, बम्ब

आदि बनाये, सरकारी अफसरों को धमकियां दीं तथा कुछ को गोली से उड़ाया गया। इस आन्दोलन को रोकने के लिये गवर्नमेंट को कठोर नीति का प्रयोग करना पड़ा। सरदार अजीत सिंह, लाला लाजपतराय तथा लोकमान्य तिलक को कैद करके मांडले भेज दिया गया। वायसराय ने कई आर्डिनांस जारी किये, फौजदारी कानूनों में परिवर्तन हुए, पत्रों पर कड़ी निगरानी रक्खी गई। इससे क्रांतिकारियों का किसी सीमा तक दमन हुआ।

सन् १६०६ में, इण्डिया कांउसिल एक्ट (मिण्टो मौर्ले सुधार) पास हुआ। नरम दल के नेताओं ने इसका स्वागत किया। लेकिन बाद में वे भी इससे संतुष्ट न रह सके, क्योंकि सुधारों के बावजूद भी निर्वाचित सदस्यों के हाथ में कोई अधिकार न था और न सरकार उनकी बातों की परवाह करती थी। इसी बीच में भारत से बाहर की परस्थितियों ने भारत को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। लेकिन इस विषय पर लिखने से पहले हम काँग्रेस के प्रति मुसलमानों के भावों का अध्ययन करेंगे।

काँग्रेस एक हिंदू संस्था नहीं, तो भी हिंदू ही अधिक संख्या में इसके सदस्य हैं। जब कांग्रेस की स्थापना हुई थी, तभी मुसलिम सुधारक तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के स्थापक सर सैयद अहमद ने मुस्लिम जनता को कांग्रेस से पृथक् रहने की सलाह दी। तीन वर्ष बाद तो आप कांग्रेस के विरोधी बन गये और कांग्रेस के मुकाबले में १८८८ में आपने "पैट्रियाटिक एसोसियशन" की स्थापना की। यही एक प्रकार से आज की मुसलिम लीग का पूर्व रूप था। मुसलिम लीग को १६०६ में हिज़ हाइनैस आग़ा खां ने स्थापित किया था। यह एक राजभक्त संस्था थी, और इसका उद्देश्य मुसलमानों के अधिकारों की रक्षा करना था।

लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सारी की सारी मुसलिम जनता कांग्रेस के विरुद्ध थी। प्रारम्भसे ही कई मुसलमान इसके साथ थे। १८६० में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में ७०३ प्रतिनिधियों में से १५४ अर्थात् २२ प्रतिशत मुसल्मान थे। तय्यब जी, तथा रहीमतुल्ला मोहम्मद रुबानी १८८७ तथा १८६६ के अधिवेशनों के सभापति भी चुने गए थे।

गतमहायुद्ध ने भारतकी राजनीतिक स्थिति पर गम्भीर प्रभाव डाला। युद्ध क्षेत्र में भारतीय सैनिकों की वीरता ने चैनल की बंदरगाहों को शत्रु के हाथ पड़ने से बचाया। मनुष्य, धन तथा शस्त्रास्त्रों से भारत ने मित्र-राष्ट्रों की सहायता की। दूसरी ओर भारतमें एक नई भावना आई। भारतीयों का आत्माभिमान जागा। हिंदू तथा मुसलमानों ने इकट्ठे हो कर भारत के नाम पर कार्य करना ठीक समझा। १६११ में यद्यपि हिंदू मुसलमानों में समझौता न हो सका, लेकिन १६१६ में कांग्रेस तथा मुसलिम लीग ने सुधार की एक संयुक्त स्कीम तैयार की। १६१३ में लीग ने अपनी संस्था का उद्देश्य भारत के लिए स्वराज्य प्राप्त करना मान लिया।

१६०८ से १६१६ तक कांग्रेस में नरम दल वालों का बोल-बाला रहा। लेकिन श्री गोखले तथा फिरोज़शाह मेहता की मृत्यु के अनन्तर नेतृत्व नरम दल वालों के हाथ में न रह कर लोक-मान्य तिलक के हाथ में आगया। इधर मुसलमान भी तुर्किस्तान के विषय पर खिझे बैठे थे। इस अशांति के निराकरण के लिए १६१७ में श्री मौंटेगू ने क्रमशः उत्तरदायी शासन देने की घोषणा की। १६१८ में मौंटेगू चेम्सफोर्ड सुधारों के संबंध में नरम दल से पृथक् वालों ने कांग्रेस होकर इण्डियन नैशनल फिडरेशन की

स्थापना की। कुछ मुसलमान संस्थाओं ने भी १६१६ के विधान का अनुमोदन किया। इस प्रकार फिर एक बार सुधारों ने ही राजनीतिक दलों को छिन्न-भिन्न कर दिया।

१६१६ का विधान अशुभ मुहूर्त्त में लागू किया गया। रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग़ का घटना, पंजाब में मार्शल ला—इन सब बातों ने जनता को सरकार के विरुद्ध कर दिया। मुसलमानों में खिलाफ़त आंदोलन चल रहा था। राष्ट्रवादी तथा मुसलमान दोनों ही—सरकार के विरोधी थे। इस लिये महात्मा गांधी के प्रयत्न से एक बार फिर हिंदू मुसलिम एकता की स्थापना हुई। संतोष का स्थान अशांति ने लिया। १६२० की कांग्रेस के कलकत्ते वाले अधिवेशन में लाला लाजपतराय के सभापतित्व में असहयोग आंदोलन चलाने का प्रस्ताव बहुमत से पास हुआ। गांधी जी के नेतृत्व में यह आंदोलन १६२४ तक चला।

लेकिन भारत के राजनीतिक नेता बहुत देर तक इकट्ठे मिल कर न रह सके। असहयोग आंदोलन उन्हें व्यर्थ लगा, इस लिये १६२३ में चित्तरंजनदास, पण्डित मोतीलाल नेहरू तथा श्री केलकर ने स्वराज्य दल की स्थापना की तथा प्रांतीय और केंद्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में प्रवेश किया। उधर साम्प्रदायिक एकता भी बहुत देर तक न रह सकी। १६२४ में मि० जिन्ना ने फिर से मुसलिम लीग की स्थापना की। १६२७ में जब कमाल पाशा ने तुर्किस्तान में खलीफ़ा के पद को ही हटा दिया, तो खिलाफ़त आंदोलन का कारण ही न रहा। भारत में साम्प्रदायिक एकता के स्थान पर दंगे होने लगे। १६२६-२७ में भारत में घोर अशान्ति तथा निराशा थी। हिन्दू मुसलमानों के दंगे, भारत में साम्यवादी आंदोलन, विनियम दर में परिवर्तन तथा

स्कीन कमेटी की रिपोर्ट पर सरकार के निश्चय—और उस पर साइमन कमिशन, जिसमें एक भी भारतीय को स्थान न दिया गया था।

पर साइमन कमीशन का एक अच्छा प्रभाव पड़ा। भारत में राजनीतिक दलों को फिर से एक होने की आवश्यकता अनुभव हुई। १९२८ में भारत के सभी दलों की एक कांफ्रैंस बुलाई गई। इस कांफ्रैंस ने पण्डित मोतीलाल नेहरू के सभापतित्व में विधान बनाने के लिये एक कमेटी बैठाई। इस कमेटी की रिपोर्ट ने (जिसे नेहरू रिपोर्ट का नाम दिया गया है) भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की तथा अल्पसंख्यक जातियों के लिये सुरक्षित स्थानों के साथ संयुक्त निर्वाचन पद्धति की स्थापना के लिये सिफ़ारिश की। १९२८ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस ने तो कुछ संशोधनों के साथ नेहरू रिपोर्ट का अनुमोदन किया। लेकिन मुसलमानों तथा सिक्खों को यह न रुची। दूसरी ओर कांग्रेस के गरम दल वाले—पण्डित जवाहर लाल नेहरू तथा श्री सुभाषचन्द्रबोस के नेतृत्व में— औप-निवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट नहीं थे। वे भारत के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। १९२८ के अधिवेशन में महात्मा गाँधी के प्रभाव से स्वतन्त्रता का प्रस्ताव गरमदल वालों ने वापस ले लिया। गाँधी जी ने उन्हें आश्वासन दिलाया कि यदि ३१ दिसम्बर १९२९ तक भारत सरकार ने भारत को औपनि-वेशिक स्वराज्य देना स्वीकार न किया, तो वह स्वयं स्वतन्त्रता के आन्दोलन के नेता बनेंगे। १९२९ में, इंगलैण्ड से वापस लौट कर लार्ड इरविन ने, नरम दल वालों को सन्तुष्ट

करने के लिये, यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देना है। लेकिन कब? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। कांग्रेस को इससे सन्तोष कैसे हो सकता था। अतः १९२९ के लाहौर अधिवेशन में, पं० जवाहरलाल के नेतृत्व में, कांग्रेस ने घोषणा की कि कांग्रेस का उद्देश्य भारत में पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करना है, और कांग्रेस ने गोलमेज़ कांफ्रेंस में भाग लेने से इनकार कर दिया। इसके बाद कैसे असहयोग आंदोलन महात्मा जी के नेतृत्व से चला और कैसे नया विधान बना, यह एक अन्य अध्याय में हम बता चुके हैं।

लार्ड इरविन के बाद लार्ड विलिंग्डन भारत का वायसराय बना। लार्ड इरविन ने भारत में अपने अन्तिम भाषण में कहा था—जहां तक इस आंदोलन का उन भावनाओं से सम्बन्ध है—जिन्हें हम राष्ट्रीयता कहते हैं, वहां यदि इस भावना का कड़ी तरह से केवल विरोध किया जायगा, तो यह एक गलती होगी। लेकिन विलिंग्डन साहब के विचार लार्ड इरविन से भिन्न थे। उन्होंने आते ही कई आर्डिनेंस जारी किये। भारत में पोलिस और लाठी का राज्य का आरम्भ हुआ। कठोरता ने कांग्रेसवादियों को जनता की दृष्टि में शहीद बना दिया। राष्ट्रीय भावना दब जाने के स्थान पर देश में और ज़ोर से फैली, इसकी सत्यता का प्रमाण, नये विधान के अंतर्गत व्यवस्थापिका सभाओं के लिये प्रतिनिधियों के चुनाव के अवसर पर १९३७ में मिला। इस चुनाव के फल स्वरूप, ११ प्रांतों में से ६ प्रांतों में कांग्रेसियों का पूर्ण बहुमत आया और ३ अन्य प्रान्तों में ही कांग्रेस दल सब से बड़ी संख्या में चुना गया। केवल दो प्रांतों में ही कांग्रेस को विशेष सफलता नहीं मिली।

लेकिन कांग्रेसियों ने १९३५ के नवविधान को स्वीकार किया था। गवर्नर के विशेष अधिकारों तथा उत्तदायित्वों के रहते हुए—नवशासन विधान के दिये गये प्रान्तीय स्वराज्य को प्रान्तीय स्वराज्य मानना उनकी राय में एक भ्रम था। अतः कांग्रेस में, इस विषय पर कि काँग्रेस को प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाने चाहिये या नहीं, बहुत विवाद चला। अंत में महात्मा जी ने एक मार्ग दिखाया। काँग्रेस ने माँग की कि यदि हमें वह आश्वासन दिया जाय कि गवर्नर अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग नहीं करेंगे, तब हम अपने इन बहुमत वाले प्रांतों में मंत्रि-मण्डलों की स्थापना करेंगे। पंजाब, बंगाल, सिंध, आसाम और सीमाप्राँत में मंत्रि-मण्डलों की स्थापना हो चुकी थी। लेकिन शेष प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत होने से बहुमत के मन्त्रि-मण्डल न बन सके। काम चलाने के लिये, १९३५ के विधान के अनुसार, इन प्रान्तों के गवर्नरों ने अल्पमत वाले दलों की सहायता से मन्त्रिमण्डल बनाये। लेकिन ऐसे मन्त्रिमण्डल जनता को स्वीकार कैसे हो सकते थे, तथा ऐसे मन्त्रिमण्डलों की स्थापना से प्राँतों में उत्तरदायी शासन कैसे हो सकता था ? अतः लार्ड लिनलिथगो ने कांग्रेस को उपर्युक्त आश्वासन देना ही उचित समझा। कांग्रेसने संयुक्त प्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, उड़ीसा, बम्बई तथा मद्रास में मन्त्रिमण्डल बनाये। सिन्ध, आसाम, तथा सीमाप्रान्त में किसी एक दल का बहुमत न होने से स्थायी मन्त्रि-मण्डलों की स्थापना न हो सकती थी। पहले, जब कि काँग्रेस ने शासन भार स्वीकार न किया था, इन प्रान्तों में कुछ दल वालों ने मिलकर मन्त्रिमण्डल बनाये थे—जिनमें प्राधान्य मुसलिम लीग वालों का था, लेकिन जब कांग्रेस ने पद ग्रहण करना स्वीकार

कर लिया, तो कांग्रेस ने अन्य दलों के सदस्यों के सहयोग से सीमाप्रान्त तथा आसाम में भी मन्त्रिमण्डलों का निर्माण कर लिया। पंजाब में यूनिअनिस्ट दल का बहुमत था, लेकिन तो भी यूनिअनिस्ट दल के नेताने अन्य दलों के कुछ सदस्यों को भी अपने साथ मिला लिया।

प्रांतीय स्वराज्य क्रियात्मक रूप में कहाँ तक सफल रहा, इस पर यहाँ विचार नहीं करना और न गत पाँच वर्षों का कार्य विवरण देने का हमारा विचार है। तो भी केवल दो एक विषयों पर कहना शेष रहता है। वर्तमान महायुद्ध ने एक असाधारण स्थिति उत्पन्न करदी है। केवल इस लिये नहीं कि आज महायुद्ध के सीधे प्रभाव से हम अपने को अछूते नहीं रख सकते, बल्कि कि इस लिए भी इस युद्ध में सफल होने के लिये ग्रेट ब्रिटेन को भारतीय सहायता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त युद्धकाल में शासन को अधिक से अधिक केन्द्रित करने की आवश्यकता पड़ती है। केन्द्रित करने पर प्रान्तीय स्वराज्य के स्वराज्यत्व में कमी आती है। यहां तो पहले ही कांग्रेसवादी नये विधान से सन्तुष्ट न थे। उस पर शासन का अधिक केन्द्रीय होना उन्हें कैसे स्वीकार हो सकता था यदि केन्द्र में स्वराज्य होता तो वे कदाचित इसे स्वीकार कर भी लेते।

महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर कांग्रेस दुविधा में पड़ गई। क्योंकि एक ओर तो कांग्रेसवादी हिटलरवाद के विरुद्ध थे; हिटलर को पराजित हुआ देखना चाहते थे। इसलिये उन्हें अंग्रेज़ों की सहायता करनी चाहिये थी। दूसरी ओर वे स्वराज्य चाहते थे। इस दुविधा को हल करने के लिये काँग्रेस ने निश्चय किया कि पहले अंग्रेज़ी सरकार इस महायुद्ध के उद्देश्य बताये,

तथा भारत के सम्बन्ध में उन उद्देश्यों की पूर्त्ति क्रियात्मक रूप में कैसे की जायगी—इस विषय पर निश्चित प्रकाश डाले। मतलब यह था कि ब्रिटिश सरकार साफ़-साफ़ यह बताये कि भारत को पूर्ण स्वराज्य कब तक दिया जायेगा। उसके बाद सहायता दी जा सकेगी।

इस समस्या को सुलझाने के लिये वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने, पहले तो महात्मा गान्धी तथा मिस्टर जिन्हा से मुलाकात की। बाद में हिन्दू महासभा, हरिजन आदि दलों के नेताओं के विचारों को भी सुना। इसके बाद लार्ड लिनलिथगोने, ब्रिटिश सरकार की ओर से घोषणा की कि हमने तो पहले ही १९१७ में, मिस्टर मांटेगू की घोषणा द्वारा भारत में अपना उद्देश्य बता दिया था। अर्थात् हम भारत को धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन दे देंगे। इसके अतिरिक्त संघशासन की स्थापना स्थगित कर दी गई। युद्ध के समाप्त होने पर एक गोलमेज़ कॉन्फ्रेंस और बुलाई जायेगी, जिसमें संघ शासन में जो कुछ सुधार करने होंगे, उन पर विचार किया जायेगा। युद्ध के दिनों में वायसराय ने अपनी एग्जैक्टिव कांउसल को बढ़ाना स्वीकार किया। ताकि कुछ प्रमुख भारतीय नेताओं को उसमें स्थान मिल सके। इस समिति का काम विमर्श देना ही होगा। इसके अतिरिक्त वायसराय ने इस बात पर भी ज़ोर डाला कि स्वराज्य प्राप्त करने के लिए भारतीयों को पहले अपनी साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाना होगा, तथा रियासती नरेशों का भी ध्यान रखना होगा। क्योंकि इन दोनों क्षेत्रों में ब्रिटिश सरकार का विशेष उत्तरदायित्व है।

कांग्रेस को वायसराय की घोषणा से सन्तोष न हुआ। उन्होंने मांग की थी स्वराज्य के लिये। उत्तर में १९१७ की मिस्टर

मान्टेगू की घोषणा ही सुना दी गई। इसके अतिरिक्त विमर्श-समिति में सहयोग करने से भी कांग्रेस को कोई लाभ प्रतीत न हुआ। कांग्रेस को यह बात पसन्द न आई कि वायसराय भारत के राजनीतिक प्रश्न के उत्तर में साम्प्रदायिक तथा रियासती समस्या को लाकर खड़ा करे। अतः कांग्रेस के मंत्रिमंडलों ने वायस-राय की घोषणा से असन्तुष्ट होकर, प्रांतीय सरकारों से पद-त्याग दिया। इससे उन प्रान्तों में, जहां कांग्रेस का बहुमत था, उत्तरदायी शासन का अन्त होगया और शासन का सारा कार्य गवर्नर के हाथों में जा पड़ा।

अब क्या होगा? यह कौन जाने। कांग्रेस ने मुसलिम लीग से समझौता करने का प्रयत्न किया। लेकिन कुछ बन न सका। मुसलिम लीग वालों का मत है कि प्रजातन्त्र शासन भारत के लिये उपयुक्त नहीं, क्योंकि इससे अल्प संख्यक मुसलमानों के हितों की हानि होती है। जब मुसलिम लीग से समझौता न हो सका, तो महात्मा जी ने कौंस्टीच्यूएण्ट एसैम्बली (Constituent Assembly) की मांग की। इसके अनुसार सम्पूर्ण देश के सब बालिगों को मताधिकार दिया जाता है। वह अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। ये प्रतिनिधि मिलकर एक असेम्बली में अपने विधान का निर्णय करते हैं। लेकिन यह बात मुसलिम लीग को स्वीकार नहीं। उधर मुसलिम लीग के नेता ने एक रायल कमीशन की मांग की थी, जो कि कांग्रेस प्रांतों में किये गये सच्चे या झूठे अत्याचरों के बारे में जांच करे।

एक और विशेष बात हुई, वह थी वायसराय की घोषणा। इसमें उन्होंने स्पष्ट तौर पर भारत में ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य औपनीवेशिक-स्वराज्य (वेस्टमिनिस्टर स्टैच्यूट की परिभाषा के अनुसार) देना घोषित किया । यह औपनिवेशिक स्वराज्य लगभग पूर्ण स्वराज्य ही होता है। लेकिन वह मिलेगा कब ? और आगे क्या होगा ? इस सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता । हां, जुलाई १९४१ में वायसराय ने अपनी एग्ज़ैक्टिव कौन्सिल में चार भारतीय सदस्य और बढ़ा लिए।

विज्ञान की प्रगति

सृष्टि की उत्पत्ति और रचना

अनेक शताब्दियों के अनुभव के पश्चात् वैज्ञानिकों ने प्रकृति के बहुत से नियमों को मालूम कर लिया है। किन्तु अब भी यह कहा नहीं जा सकता कि प्रकृति के सब नियम और सिद्धान्त ज्ञात हो गये हैं, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि शेष कितने नियमों का ज्ञान बाकी रह गया है। तथापि प्रकृति के नियमों को कम से कम इतना तो अवश्य समझा जा चुका है कि उन का समुचित उपयोग कर मनुष्य की हज़ारों कठिनाइयों को दूर किया जाय। यह भौतिक जगत् (Physical Universe) चार तत्वों से बना हुआ है। प्रथम 'पदार्थ' (जिसे पृथिवी भी कहा जा सकता है) (Matter), द्वितीय, 'शक्ति' (Energy), तृतीय 'आकाश' (Space) और चतुर्थ 'समय' (Time) इन चारों को किसने बनाया, इस समस्या से वर्त्तमान वैज्ञानिक जगत् को कोई प्रयोजन नहीं। किंतु वैज्ञानिक अब भी इस खोज में अवश्य लगे हुए हैं कि ये चार तत्त्व भी कहीं किसी एक या दो मूल तत्व की रचनाएं ही न हों।

वर्त्तमान काल में जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'एन्स्टाइन' ने यह सिद्ध कर दिया है कि समय और आकाश कोई दो पृथक

तत्व नहीं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एन्स्टाइन ने इनके एक वस्तु से ही जन्म की कल्पना की और यह विचार प्रकट किया कि समय और आकाश उस आदि तत्व की भिन्न २ रचनायें है। इसी तरह पदार्थ और शक्ति भी एक उद्गम से निकलती सी मालूम होती हैं। प्रकृति की बहुत-सी अद्भुत बातें (Phenomenons) इस बात को सिद्ध करती हैं कि 'पदार्थ' अपनी सत्ता को खोकर शक्ति प्राप्त करता है। 'मिलिकन' नामक एक अमेरिकन वैज्ञानिक ने तो यहां तक कल्पना कर ली कि 'पदार्थ' किसी न किसी तरह 'शक्ति' में बदल जाता है। यद्यपि अभी तक इस विचार को सिद्ध करने के लिये कुछ विशेष प्रमाण नहीं मिले, तथापि इसे केवल 'एक विचार' कह कर ही इस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह भी बहुत सम्भव है कि 'शक्ति' भी 'पदार्थ' में बदल सकती हो, और 'शक्ति' तथा 'पदार्थ' एक ही चीज़ हों, जो दो रूपों में प्रकट हो रहे हैं।

सर ओलिवर लाज 'पदार्थ' की बनावट की खोज करते हुए इस परिणाम पर पहुँचे कि यह सम्भव है कि 'पदार्थ' के परमाणु के बिजली के कण शायद आकाश के ही बने हुए हों। आजकल इन विद्युत्कणों पर बहुत से परीक्षण किये जा रहे हैं, जिनसे यह मालूम होता है कि वे आकाश की बहुत-सी विशेषतायें (गुण) प्रकट करते हैं। यदि इस बात को ठीक मान लिया जाय, तो वह दिन दूर नहीं, जबकि वैज्ञानिक उस मौलिक चीज़ पर पहुँच जायेंगे जिसकी पदार्थ, आकाश, शक्ति और समय ये चार रचनाएँ हैं। किन्तु यदि यह सिद्ध हो भी जाय कि ये चारों एक ही वस्तु से बने हैं तो भी इनके गुणों में परस्पर इतना अधिक अन्तर है, कि हमें इन चारों को पृथक पृथक् वस्तु मान कर संसार की उत्पत्ति,

बनावट, रचना और विभिन्न अद्भुत बातों को सिद्ध करना पड़ेगा, और इन चारों को पृथक् पृथक् मान कर इन के गुणों (Properties) को मालूम करना होगा।

पदार्थ--पदार्थ (Matter) क्या है? प्रारम्भ से अब तक वैज्ञानिक इस बात को जानने का प्रयत्न करते रहे हैं, किन्तु आज भी पदार्थ के कतिपय गुणों का निर्देश कर देने के अतिरिक्त हम कुछ भी नहीं कह सकते। पदार्थ कुछ ऐसी वस्तु है, जिसे हम स्पर्श कर सकते हैं, जो भार रखता है, स्थान घेरता है और अपने आप को ठोस, द्रव, गैस इन तीन रूपों में बदल देता है। यद्यपि इन तीनों रूपों में इस के गुण बिल्कुल बदल जाते हैं किन्तु वह रहता फिर भी 'पदार्थ' ही है। पदार्थ सछिद्र (Porus) है, लचकदार (Elastic) है और उस का एक बड़ा गुण यह भी है कि 'शक्ति' का प्रकटीकरण सदैव उसी के द्वारा होता है। पदार्थ का एक कण दूसरे को खींचता भी है। सर आइज़क न्यूटन ने पदार्थ का एक और बहुत महत्वपूर्ण गुण मालूम किया। वह यह कि 'पदार्थ' स्वयं तो जड़ (Inert) है, अर्थात् वह अपनी चल (Moving) और अचल (Stationary) दशा को स्वयं नहीं बदल सकता। इसी लिये हज़ारों लाखों वर्षों से घूमती हुई पृथ्वी अब तक नहीं ठहरी और सड़क का कोई भी पत्थर स्वयमेव नहीं हिलने लगता। २—जब भी इस 'पदार्थ' की चल या अचल अवस्था को बदलने का प्रयत्न किया जाता है, तब उस के लिये बाह्य बल (Force) की आवश्यकता पड़ती है। ३—जब 'पदार्थ' की दशा परिवर्तित होती है, तब वह इस परिवर्त्तन को रोकने के लिये अपने आप शक्ति पैदा करता है। न्यूटन ने यह सारी बात अपने उपरिलिखित तीन प्रसिद्ध नियमों में बताई है।

न्यूटन ने सृष्टि की उत्पत्ति और तारागण के आश्चर्यजनक कार्यों को भी समझाया। उनका देहान्त हुए आज कई सौ साल हो गए। इस ब्रह्माण्ड की यात्रा करने वाले अपनी दूरबीनें लगाकर इसके कोने कोने की जाँच कर रहे हैं, परन्तु कोई ऐसी बात दृष्टिगोचर नहीं हुई जिस से यह नियम अशुद्ध सिद्ध हो सकें। यह नहीं कहा जा सकता कि इन नियमों का ज्ञान न्यूटन ही को हुआ। हमारी भारतीय नक्षत्र विद्या तो न्यूटन से भी सैंकड़ों वर्ष पुरानी है और उस में उक्त नियम का निर्देश है। पर यह ठीक है कि न्यूटन ने ही सब से पूर्व इन तीन आधार भूत नियमों का स्पष्टरूप से पृथक् पृथक् वर्णन किया है।

नक्षत्र विद्या (Astronomy) में ब्रह्माण्ड की रचना इस तरह बताई जाती है कि जब भी और जैसे भी प्रकृति के अणु बने, उनमें परस्पर आकर्षण पैदा हुआ। वे कहीं-कहीं इकट्ठे होने शुरू हो गए और ज्यों-ज्यों ये परमाणु पास-पास आते गए, त्यों-त्यों इनमें अधिकाधिक आकर्षण उत्पन्न होता गया और इनकी गति भी बढ़ती चली गई। अब वे परस्पर एक दूसरे से ज़ोर-ज़ोर से टकराने और रगड़ खाने लगे। इससे वे गरम होने शुरू हो गए। ज्यों-ज्यों इन अणुओं की धुन्ध पिचन-पिचक कर छोटी होती गई, त्यों-त्यों ये अणु अधिक-अधिक गरम होते गए और अन्त में वे चमकने लग गए। इस पदार्थ की जलती हुई गैस में धीरे-धीरे भँवर भी पैदा हो गए और ये भँवर धीरे-धीरे अधिक-अधिक शक्तिशाली बनते गए। फिर उन भँवरों में से जलती हुई प्रकृति के बहुत बड़े-बड़े छींटें निकले, जिनको आज हम तारों के रूपमें देखते हैं। ये तारे अपनी जगह पर स्थिर नहीं, बल्कि आकाश मण्डल में प्रायः अनियमित रूप से घूमते फिरते हैं। इसी लिये

कभी-कभी कोई तारा किसी दूसरे के बहुत समीप भी आ जाता है। जब कभी ऐसा होता है तो उन दोनों तारों में परस्पर इतना आकर्षण पैदा हो जाता है कि वे फिर टूट जाते हैं और उनमें से फिर जलते हुए पदार्थ के टुकड़े निकलते हैं, जिनमें से एक ग्रह हमारी पृथिवी भी है।

तारों की संख्या—यों तो प्रत्येक मनुष्य तारों को अनगिनत कहता है, किन्तु किसी अत्यन्त स्वच्छ रात में अधिक से अधिक जितने भी तारे कोई मनुष्य देख सकता है, उनकी गणना ३००० के लगभग है। परन्तु यदि किसी दूरबीन (Telescope) से देखा जाय तो उनकी संख्या करोड़ों तक जा पहुँची है। आज कल दुनिया की सब से बड़ी दूरबीन, जिसके शीशे का व्यास (Diameter) एक सौ (१००) इंच है, माउण्ट विलसन में है। उससे मालूम हुआ है कि हमारी सृष्टि में एक अरब के लगभग तारे हैं।

सौर मण्डल का निर्माण—इस तारक समूह में सब से दूर वाला तारा हमारी पृथ्वी से ३.००,००,००,००,००,००,००,००० मील है और सब से पास वाला तारा २,४०,००,००,००,००,००० मील। सूर्य पृथ्वी से ६,२०,००,००० मील की दूरी पर है।

ये सारे तारे एक समुदाय के अंग हैं, क्योंकि ये प्रकृति के एक झुण्ड से बने हैं। तथा इस प्रकार के ५,००,००,००,००० तारों के झुण्ड आकाशमण्डल में भ्रमण करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में अरबों तारे हैं, सृष्टि का विस्तार १०० संख × संख × संख मील से भी अधिक हैं और इतनी सृष्टि में ये एक अरब तारे किसी गिनती में नहीं आते। इस लिए किसी तारे का एक दूसरे के पास आना बहुत कठिन है। परन्तु अरब साल से १० अरब साल

के काल व्यवधान में कभी हमारे सूर्य के समीप कोई तारा आया, जिससे हमारे सूर्य में बड़े जोर का ज्वार पैदा हुआ और सूर्य गोल होने के स्थान पर लम्बूतरा-सा हो गया। किन्तु तारा और भी पास आता गया जिससे सूर्य में भयंकर तूफान पैदा हुए। वह इस अत्यधिक तनाव और तूफान को सहन नहीं कर सका और उसमें से कई खण्ड टूट-टूट कर अलग हो गये। पर ये जलती हुई आग के नाशपाती की शकल के टुकड़े मध्यवर्ती सूर्य और समीपवर्ती तारे के आकर्षण के कारण लट्टू की तरह अपने तथा सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। उन्हीं में से एक टुकड़ा हमारी यह पृथ्वी बन गया। उस समय यह इतनी तेज़ी से घूम रहा था कि अहोरात्र २४ घण्टे के स्थान पर केवल ३ घण्टे का ही होता था। यह नाशपाती की शकल का जलता हुआ अग्नि का पिंड इतनी तेज़ी से घूमा कि नाशपाती की गर्दन सिकुडती ही चली गई और एक बड़ा भूखण्ड इससे टूट कर अलग हो गया। वही पृथक् हुआ २ भूखण्ड आज चांद कहलाता है। सूर्य को इस तरह झटका देने के बाद वह तारा न मालूम कहां चला गया और यह भी ज्ञात नहीं कि उसका क्या अंत हुआ। इस प्रकार सूर्य के जीवन में एक बिल्कुल नया सिलसिला शुरू हुआ। एक नए सौर मण्डल का जन्म हुआ। यह सम्भव है कि सृष्टि में और सितारों को भी उसी तरह का झटका मिला हो, या आगे और तारों को भी मिले। पर इस समय सिवाय कल्पना करने के हम कुछ और नहीं कह सकते। क्योंकि हमारी दूरबीनें भी अभी इतनी तेज़ नहीं हैं कि इससे कुछ अधिक पता लगाया जा सके। आजकल एक नई दूरबीन बन रही है, जिसके शीशे का व्यास २०० इंच रहेगा। इससे मनुष्य एक मोमबत्ती को ४१००० मील

दूर से देख सकेगा। यह मनुष्य की आंख से १०,००,००० गुना अधिक तेज़ होगी। न मालूम यह दूरबीन क्या-क्या नई बातें बताएगी।

हमारा सौर मण्डल—इस तारे के झटके के कारण सूर्य में से जितने ग्रह निकले, उनमें से ८ तो बहुत समय से ज्ञात थे। किंतु १९३२ में एक और ऐसे ग्रह का पता लगा है, जो इसी सौर मण्डल में है, अभी तक भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे सूर्य में से केवल ९ टुकड़े ही निकले या अधिक। इनमें से सब से छोटा भूखण्ड 'बुध' (Mercury) है। इसका व्यास ३ ०० मील है यह सूर्य से ३,५८,००,००० मील की दूरी पर है। सूर्य के पास होने से इसकी गरमी ३५० अंश तक रहती है, इसके बाद दूसरा भूखण्ड 'शुक्र' (Venus) है जो सूर्य से लगभग ६,७०,००,००० मील दूर है। इस का व्यास ७७०० मील है। इसके बाद वाला खण्ड हमारी पृथ्वी है। इसका व्यास ८००० मील है, यह सूर्य से ९,२०,००,००० मील दूर है। तत्पश्चात् 'मङ्गल' (Mars) है, जो केवल ४००० मील व्यास का है और सूर्य से १४,१५,००,००० मील दूर है। वैज्ञानिक लोग इसमें पृथ्वी की तरह से जीव जन्तु तथा वृक्ष वनस्पति का होना मानते हैं। हमारी पृथ्वी की तरह इसके पास दो छोटे-छोटे चांद घूमते हैं। परन्तु वे चांद केवल ५ या १० मील व्यास के हैं। उसके बाद का नक्षत्र 'बृहस्पति' (Jupiter) है, इसका व्यास ८६,७२० मील है। सूर्य और इसमें ४९,५०,००,००० मील का अन्तर है। इसके चारों ओर ९ चाँद घूमते हैं। इसके बाद शनि (Saturn) ७०,००० मील व्यास का है, सूर्य से इसकी दूरी ८२,५९,००,००० मील है। इसके पास कोई चांद न होकर तिरंगी

धुन्ध के अनेक चक्कर-से हैं। जो अत्यन्त सुन्दर और आश्चर्य-जनक हैं। यह ख्याल किया जाता है कि यह धुंध हज़ारों लाखों छोटे-छोटे चांदों के कारण है। उसके बाद का ग्रह 'यूरेनस' (Uranus) है। यह १८७१ में देखा गया था। इसका व्यास ३२४०० मील है। यह सर्य से १,७८,२३,००,००० मील की दूरी पर है। इसके समीप ४ चांद हैं। फिर 'नेपचून' (Neptune) है। इस का व्यास ३१००० मील और सूर्य से दूरी २, ७६, २७, ००, ००० मील है। ज्ञात नक्षत्रों में से अन्तिम 'प्लूटो' (Pluto) है। यह १६३२ में मालूम हुआ था। सूर्य से इसकी दूरी ३,७८,००,००,००० मील है। इसी प्रकार शायद और भी कुछ ग्रह हों। ये सब ग्रह और सूर्य मिल कर एक सौर मण्डल (Soler system) बनाते हैं। सूर्य पृथ्वी से १० लाख गुणा भारी है। पृथ्वी का भार ६० संख टन है। यह सम्पूर्ण भार सूर्य पर ही अवलम्बित है। इस लिए बहुत प्राचीन काल से अब तक सूर्य की पूजा होती रही है। न केवल भूमि तथा ग्रह, उपग्रह सूर्य के हिस्से हैं, बल्कि उनमें जो कुछ भी होता है, वह सब सूर्य के कारण ही होता है। सूर्य एक सैंकड में ४० लाख टन 'पदार्थ' को प्रकाशित बना कर आकाश मे फैंक देता है और उसका बोझ एक दिन में कई खरब टन कम होता चला जा रहा है। यदि किसी तरह सूर्य पुनर्जीवित (Replanish) न होता रहता, तो यह कभी का ठंडा पड़ जाता।

एन्स्टाइन का सिद्रांत—ऋषि मुनियों के समय से लेकर अब तक विश्व के स्रोत और निर्माण के सन्बन्ध में खोज होती रही है, किंतु हाल ही में एन्स्टाइन ने एक बड़ा विचित्र सिद्धान्त निकाला है, जो उस के गणित के नियमों पर आश्रित है। उस के मत से 'आकाश' इधर-उधर घूम-फिर कर किसी तरह

से पुनः अपने आप ही में वापस आ जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है।

एक वृत्त में घूमती हुई रेखा अपने आप में ही वापस आ जाती है, गोलों में घूमता हुआ धरातल पुनः अपने में आ मिलता है, और इस तरह बन्द हो जाता है कि उसका कोई सिरा नहीं रहता। दोनों अवस्थाओं में यह नहीं कहा जा सकता कि रेखा या पृष्ठ अनन्त हो गया है। इसी तरह आकाश मंडल भी 'सांत' (Finite) और 'अनन्त' (Infinite) दोनों है। वह घूम कर अपने आप में इस तरह आ मिलता है कि उस का कोई सिरा नहीं रहता। एन्स्टाइन के आकाश मंडल का 'व्यासार्द्ध' (Radius) ५०,००० संख (५,००,००,००,००,००,००,००,००,००,०००) मील है। इस अन्तर को प्रकाश, जिस की चाल एक सैकिंड में १८६००० मील है, इस से भी तेज़ चलने वाली चीज़ ८४,००,००,००,००० साल में पूरा करेगी। इस लिये यह सोचा जा सकता है कि सूर्य से निकली हुई किरणें तथा शक्ति फिर घूम कर खरबों सालों के पश्चात् उसी में वापस आ जाती हैं। इसी तरह और तारों की शक्ति भी उन से निकल कर पुनः उन में ही आ रही है, आई थी और आ जायगी। और इस प्रकार सूर्य की खोई हुई शक्ति पुनः उसे ही प्राप्त हो जाती है। किन्तु आकाश में घूमती हुई शक्ति विभिन्न वस्तुओं से टकराती है इसी लिये वापस आने वाली शक्ति उतनी ही नहीं रह सकती। वह क्रमशः घटती जाती है। अतः प्रत्येक तारा धीरे धीरे मरता ही चला जाता है। साधारणतः तारे की आयु ५०,००,००,००,००,००० वर्ष मानी गई है। सूर्य भी अपनी आयु का ⅙ भाग समाप्त कर

चुका है लेकिन अब भी करोड़ों वर्ष बाकी हैं और हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं।

सूर्य—पृथ्वी न केवल सूर्य से पैदा होती है, बल्कि इस पर होने वाले संपूर्ण प्राकृतिक परिवर्तन बादल, वर्षा, नदी नाले, जङ्गल और तरह तरह के जीव जंतु तथा अन्य सब कुछ उसी के कारण हैं। सूर्य एक बड़ी भारी भट्टी है, जिसमें 'पदार्थ तत्व' से विभिन्न प्रकार के धातु बनते हैं। सूर्य से केवल ताप और प्रकाश ही नहीं निकलता, अपितु विद्युत् के छोटे छोटे 'कण'(Electrones), जो कि 'परमाणु' (Atom) के अंग हैं, भी निकलते हैं और जब ये आकाशमण्डल की यात्रा करते हुए पृथ्वी के बहुत पास आ जाते हैं तो उस की चुम्बकीय 'आकर्षण-शक्ति (Magnatic Energy) के कारण उस के वायु मण्डल में आकर उत्तरी और दक्षिण ध्रुवों पर वह दृश्य पैदा करते हैं जिसे 'अरोरा' कहते हैं। जिस के कारण आकाश घंटों तक इस तरह चमकने लग जाता है कि मानो उसमें आग लग गई है।

पुच्छल तारे और भग्न तारे—(Comets) सूर्य मंडल में सबसे विचित्र चीज पुच्छल तारे और टूटनेवाले तारे (Meteors) हैं। १६१० में एक ऐसा पुच्छल तारा हमारे सूर्य के पास आया, जिसकी पूंछ इतनी बड़ी थी कि कुछ दिनों के लिये पृथ्वी उसकी पूंछ में ही रही। और उस का सिर सूर्य के समीप पहुँच गया था। उन दिनों आकाश में रात के समय भी मन्द मन्द प्रकाश रहता था। यह तारा एक बार पहले भी हमारे सूर्य के निकट आ चुका है और अब फिर १६८५ में आएगा, ऐसा वैज्ञानिकों का अनुमान है। कहा जाता है कि यह तारा भी पृथ्वी की तरह है। पृथ्वी तो

सूर्य के चारों ओर घूमती है, किन्तु यह पृथ्वी तथा एक और सितारे के चारों ओर घूमता है इस प्रकार के १००० तारे नक्षत्र विद्या विशारदों ने देखे हैं। टूटने वाले तारों का तो पता ही नहीं चलता कि वे कहाँ से आते हैं। वे वस्तुत: पदार्थ के छोटे छोटे टुकड़े हैं जो 'आकाश' (Space) में घूमते फिरते हैं, और जब भी भूमि के आकर्षण से भूमि के निकट वायु मंडल में गुज़रते हैं, तो वायु से रगड़ खाकर गरम होने से चमक उठते हैं और ज़मीन पर गिर पड़ते हैं। धार्मिक प्रवृत्ति के लोग इन तारों को अपशकुन समझते थे और उसको ऐसा भयानक रूप देते थे कि कोई मनुष्य उन के विषय में खोज करने का प्रयत्न ही नहीं करता था। वे तो सूर्य ग्रहण और चन्द्र ग्रहण को भी देवताओं का प्रभाव मानते थे।

सूर्य के धब्बे—सूर्य में एक वस्तु पाई गई है, जिसे 'सूर्य के धब्बे' कहते हैं। इन का भेद अभी अच्छी तरह नहीं खुला। परन्तु यह देखा गया है कि पृथ्वी पर इनका बहुत प्रभाव पड़ता है। यह कहा जाता है कि उनका प्रभाव न केवल वर्षा, ऋतु आदि पर पड़ता है बल्कि वनस्पति जगत् पर भी पड़ता है। कई वैज्ञानिकों ने इन का प्रभाव संसार की जन संख्या पर भी माना है।

पृथ्वी--इस भूखण्ड को सूर्य से अलग हुए दो अरब से १० अरब वर्ष तक का समय हो चुका है। जब यह टुकड़ा सूर्य से अलग हुआ था, तब यह सूर्य की ही तरह गरम आग का गोला था और हज़ारों-लाखों वर्षों तक यह प्रतप्त अग्नि का पिण्ड ही रहा। कालान्तर में यह धीरे-धीरे ठण्डा होता गया और उसका बाहर का भाग जम कर चट्टानों

तथा ठोस भूमि के रूप में बदल गया। ये भूमि भाग तथा चट्टानें 'पपड़ी' के टुकड़े की तरह पिघले हुए पदार्थ पर तैरने लगी, किन्तु भारी होने के कारण अन्दर को धंस भी जाती थीं, और उसके बाद पुनः पिघल कर लावा बन कर बहती रहती थीं। क्रमशः भूमि भाग तथा चट्टानों की पपड़ी की तहें जमती गईं और सारी पृथ्वी उससे घिर गई। पर ज्यों-ज्यों पृथ्वी ठण्डी होती गई, त्यों त्यों इस प्रकार का दबाब पैदा होता गया कि अन्दर से खौलता हुआ लावा इस पतली-सी पपड़ी को फाड़ कर फव्वारों के रूप म बह निकला और एक नई तह बन कर उन पर जम गया। इस प्रकार से लावे के हज़ारों लाखों फव्वारे बाहर निकलते रहे और नई नई तहें जमाते गये। यहां कि भूपृष्ठ पर एक ठोस और मोटी तह बन गई। इसके बाद जो लावा निकला वह हर जगह एक बराबर तह न जमा सका और स्थान स्थान पहाड़ खड़े हो गए। विद्वानों का विचार है कि पर्वत शृङ्खलाओं में हिमालय पहाड़ सब से नया है। इसीलिये यह सब से ऊँचा है। बहुत जगह इस पपड़ी के फट जाने से बड़े बड़े गढ़े भी बन गए। यही आजकल के समुद्र हैं। पृथ्वी के पृष्ठ का एक तरफ तो लावे पर दबाव डालता है, जिस से पिघले हुए लावे के फव्वारे ज्वाला-मुखियों के मुंह से निकल कर बाहर आते हैं। दूसरी तरफ प्रकृति ने ऐसे सामान भी पैदा किये हैं, जो इन पहाड़ों को तोड़ तोड़ कर समतल कर रहे हैं। पृथ्वी के केन्द्र में ५,००,००,००० पौंड का दबाब माना गया है। यह ठोस पदार्थ की पपड़ी सिर्फ ३० मील मोटी है और इस तह के नीचे ५०० मील तक पिघले हुए लावे और चट्टानों का विस्तृत भंडार है। इस से भी नीचे १००० मील तक मोटे लावे की तह है और फिर २००० मील तक पिघला हुआ

द्रव रूप पदार्थ है। ख्याल किया जाता है कि ये विस्तृत महाद्वीप लावे की तह पर तैरते फिरते हैं। भूगर्भशास्त्रियों (Geologists) का तो यहां तक अनुमान है कि किसी बड़े भूचाल में एक बड़ा भूखंड टूटा और उस से अमेरिका, अफ्रीका आदि महाद्वीप बन गए। शुरू शुरू में सम्भवतः पृथ्वी का स्थल इकट्ठा ही था।

प्रकृति का समीकरण— प्रकृति ' अपनी 'समीकरण' (leveling forces) की शक्तियों का वर्षा आंधी ओले के रूप में प्रयोग करके पहाड़ों और चट्टानों को तोड़ फोड़ कर मिट्टी और रेत के रूप में समुद्रों की ओर बढ़ाये लिये जा रही है। इस पृथिवी पर प्रति वर्ष ३००० घन मील के लगभग वर्षा होती है अगर ज्वालामुखी बिल्कुल बन्द हो जाँय तो सम्पूर्ण नदियां भू पृष्ट को १,५०,००० वर्षों में समान कर देंगी, और अगर यह क्रम कुछ समय तक चलता रहे तो हमारी पृथ्वी पर ६०० फीट पानी खड़ा हो जायगा! दक्षिणी अमेरिका की अकेली मिसिसिपि नदी ही साल भर में ५१,६०,००,००० मन मिट्टी समुद्र में डाल देती है। परन्तु आजकल भी प्रकृति ज्वालामुखी के द्वारा लाखों-करोड़ों मन लावा उगल कर पृथ्वी को स्थिर रख रही है।

रसायन (Chemistry)

पदार्थ की खोज— वैज्ञानिकों को बहुत शीघ्र ही इस बात का ज्ञान हो गया कि पृथ्वी में एक ही प्रकार का 'पदार्थ' नहीं। रेत, मिट्टी, पानी, हवा तो सब को पृथक दिखाई देते ही हैं। इसीलिए वैज्ञानिक ने यह खोज प्रारम्भ की कि संसार में कितने प्रकार का पदार्थ हो सकता है और क्या ईश्वर ने यह पदार्थ एक

बार में पृथक २ हीं पैदा किए अथवा वे सब एक ही मूल पदार्थ से विकसित हुए। क्या इन में से कोई नया पदार्थ भी बन सकता है ? और क्या इनको मानव जीवन को सुखी और दीर्घजीवी बनने के लिए प्रयुक्त भी किया जा सकता है ? सदियों की खोज के पश्चात् मनुष्य इस परिणाम पर पहुंचा कि सम्पूर्ण 'पदार्थ' को दो भागों में बांटा जा सकता है। एक तो 'धातु' (Element) जैसे लोहा, गन्धक, कोयला, चांदी, तांबा, पारा, सोना आदि। और दूसरे 'समास' (Compounds) ह। जो वस्तुत: दो-तीन या अधिक तत्वों के परमाणुओं के इस तरह मिलने से बनते हैं कि उस मेल से सम्पूर्ण तत्व अपनी-अपनी सत्ता को खो बैठते हैं और एक बिल्कुल नई चीज़ पैदा कर देते हैं। जैसे जलने वाली 'उद्रजन' (Hydrogen) और जलाने वाली 'अम्लजन' (Oxygen) के परमाणु शीतल-जल पैदा करते हैं। किसी को ख्याल भी नहीं आ सकता कि पानी के अणुओं में इन दो गैसों का निवास है। तत्वों के परमाणु सैंकड़ों विभिन्न प्रकारों से मिल कर भिन्न-भिन्न वस्तुएं बना देते हैं। वही कोयले, अम्लजन और उद्रजन के अणु कभी खांड, कभी तेल, कभी सिरका, कभी सुगन्ध, कभी रङ्ग, कभी मांस, कभी लकड़ी, कभी रूई, कभी ऊन, कभी कपड़ा और कभी न जाने क्या कुछ बन जाते हैं।

धातु और समास—दुनियाँ में करोड़ों प्रकार के समास हैं, किंतु उनकी छानबीन से मालूम हुआ है कि सम्पूर्ण सृष्टि की वस्तुएं केवल ९२ तत्वों से बनी हुई हैं। इनमें से ९० तो 'प्रयोगशाला' (Laboratory) में जाने भी जा चुके हैं। वैज्ञानिक (chemist) को सूझा कि अगर ये लाखों करोड़ों पदार्थ केवल

९२ ही तत्वों से बने हुए हैं, तो वह उस नियम को मालूम करे, जिसके द्वारा ये विभिन्न तत्व मिलकर उन वस्तुओं को बनाते हैं, जिनकी दुनियां में बड़ी मांग और कीमत है। दुर्भाग्य से उसकी धुन सोना बनाने की ओर लगी। पर क्योंकि यह स्वयं एक तत्व है, अतः वह उसे बना न सका। किंतु इस प्रयत्न में उसने हज़ारों और ऐसी चीज़ें बना डालीं जिनकी संसार में कमी थी और माँग अधिक थी। किसी समय जिन वस्तुओं को दुर्लभ समझा जाता था, और जिनके लिए राजा महाराजा भी तरसते थे, उन्हें आज मामूली आदमी भी बड़ी आसानी से प्राप्त सकता है।

उदाहरणार्थ, गुलाब का इतर जहांगीर की बेगम नूरजहां ने अपने स्नानागार में अचानक पाया था। कालान्तर में इसकी मांग इतनी बड़ी कि वह सैंकड़ों रुपयों में तोला भर मिलने लगा। आज न केवल असली इतर इतने परिमाण में पैदा किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति इसका आनन्द उठा सके, किंतु 'नकली इतर', जिसका फूल से कोई सम्बन्ध नहीं, इतना सस्ता और इतना अधिक आकर्षक बनाया जाता है कि उससे असली इतर भी मात हो गया है। केवल गुलाब का इतर ही नहीं, अपितु अच्छी से अच्छी सुगन्धि इसी दुर्गन्धित और असुन्दर तारकोल से निकलती हैं, जिन सुगन्धों का पहले कभी ख्याल भी न आया होगा। यह इतर गरीब से गरीब घर में भी सुगन्ध पैदा कर सकते हैं।

रेशम कभी अमीरों को भी कठिनता से मिलता था। आज रेशम के कीड़ों को अच्छी तरह पालन कर उनसे हज़ारों गुना रेशम तो बनाया ही जाता है, साथ ही साथ लकड़ी के बुरादे को साफ करके, विभिन्न चीज़ों में घोलकर तथा इस घुले हुए 'द्रव-पदार्थ' (Solulose solution) को बहुत छोटे-छोटे छेदों के

अंदर से पिचकारी की सहायता से निकाल कर नकली रेशम के धागे बनाए जाते हैं और इसको इतने सुन्दर ढंग से रंगा जाता है कि प्रकृति भी शर्मिन्दा हो जाय। आज यह नकली रेशम गरीब से गरीब की इच्छा को पूरा करता है। वैज्ञानिकों ने प्रत्येक सम्भव उपाय से मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न किया है और जहां भी दुर्लभ प्राकृतिक वस्तुओं को बनाने में वे असफल रहे, वहाँ उन्होंने उनकी स्थानापन्न-वस्तुएं बना डालीं। आज जर्मनी में लकड़ी से खांड़ बनती है और सड़कों पर बिछाने वाली कोलतार से, जो किसी समय कोयले की कानों में एक आफ़त गिनी जाती थी, अनेक प्रकार के सुन्दर फल फूलों के रस, अनेक प्रकार के सुन्दर रंग और अनेक प्रकार की सुगन्धें तयार की गई हैं। मनुष्य की तरह-तरह की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए आज अनेक प्रकार के नकली चमड़े, रबड़, मक्खन, घी आदि अनेक वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत कर दिए हैं। केवल इतना ही नहीं कि पिघले हुए लोहे में कोयले को घोल कर असली हीरे बनाए गए हैं, अपितु वैज्ञानिकों ने अब तक ३ लाख ऐसी चीजें बना डाली हैं, जो पृथ्वी पर न थीं। इनमें से हज़ारों दवाइयों तथा अन्य विभिन्न रूपों में प्रयुक्त की जाती हैं।

पिछले थोड़े से वर्षों में बिजली ने तो कमाल ही कर दिया है। उसके द्वारा आज पारेसे असली सोना बन चुका है, विभिन्न तत्वों को एक से दूसरे में बदला जा चुका है। पुराने ज़माने में कुछ वस्तुएं इतनी थोड़ी थीं कि वे मानवीय आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकती थीं। इस लिए आज उन चीज़ों के 'पूरक (substitutes) तैयार किए गए हैं।

इसमें पौधों से 'सैलोलाइड' दूध से 'बेकलाइट' (Baklite) तथा 'पैट्रोलियम' से नकली रबड़ निकलता है।

मनुष्य के प्रयत्न अपने जीवन को सुखी बनाने के साथ साथ उसे दीर्घजीवी बनाने के भी रहे हैं। इस दीर्घायुष्य के लिये उसे अपने बचाव का भी प्रबन्ध करना होता है। जङ्गली जानवरों तथा जन्तुओं से तो मनुष्य बच ही सकता है परन्तु वह घातक बीमारियों के 'कीटाणुओं' (Germs) के आक्रमण को रोकने में असमर्थ रहा। वैज्ञानिकों ने इन बीमारियों से लड़ने के लिये हज़ारों तरह की दवाइयां निकाली हैं। सृष्टि के अनेक भागों से तो अनेक रोग बिल्कुल ही नष्ट कर दिये गये हैं।

परन्तु वे कौन से नियम हैं, जिनके द्वारा ये ९२ तत्व एक दूसरे से मिलकर आश्चर्यजनक प्रभाव वाली वस्तुएं बन जाते हैं? यह तो स्पष्ट ही है कि विभिन्न तत्वों में आपस में मिलने की बड़ी प्रवृत्ति है। पर यह प्रवृत्ति क्यों है और क्या ये सम्पूर्ण ९२ तत्व एक दूसरे से बिलकुल पृथक्-पृथक् हैं या ये भी किसी और मौलिक तत्व से निकले हैं?

तत्वों के भेद—इन सब तत्वों में से हलकी और सादी 'उद्रजन' (Hydrogen) है। यदि इस तत्व के परमाणुओं के भार को एक माना जाय, तो शेष तत्वों का तोल इससे अनेक (एक-दो-दस-बीस या किसी न किसी पूरी संख्या में) गुना ही होगा, इसमें कभी भाग नहीं आता। अर्थात् किसी तत्व का परमाणु उद्रजन से ६$\frac{1}{2}$ गुना या ११७$\frac{3}{4}$ गुना भारी नहीं हो सकता। वह अवश्य ही ६ या ११७ गुना होगा। इससे यह एक

विचार उत्पन्न होता है कि जिस पदार्थ से उद्रजन बना हुआ है वह 'पदार्थ' ही मौलिक परमाणु है। यहां एक और बात भी विचारणीय है कि ये सम्पूर्ण ९२ तत्व कुछ समूहों या श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं और प्रत्येक श्रेणी या समूह के तत्व बहुत से समान गुणों को धारण करते हैं। उदाहरणार्थ ताम्र, रजत, सुवर्ण कुछ एक से हैं; नत्रजन (Nitrogen) फास्फोरस, संखिया (Arsenic) दूसरी तरह के हैं; हरिण गैस (Clorine) क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, तीसरी तरह के हैं और हिलियम, नियोन, क्रिपटौन, रडौन आदि चौथी तरह के हैं। इत्यादि।

अब से ५००-६०० वर्ष पूर्व मैण्डलीफ नामक अरब के एक वैज्ञानिक ने तत्वों के श्रेणीकरण की ओर ध्यान दिया। जितने भी तत्व उस समय तक ज्ञात थे, उन्हें वह उनके तोल के अनुसार लिखता गया। उस ने अनुभव किया कि प्रत्येक ८ वाँ तत्व पहले तत्व से कुछ मिलता जुलता है। इस तरह उसने सारे तत्वों को ८ श्रेणियों में बांटा। यद्यपि इङ्गलिस्तान के प्राइस्ट नामक एक वैज्ञा-ने मैंडलीफ से पहले ही यह विचार प्रकट किया था कि शायद सम्पूर्ण तत्वों के परमाणु उद्रजन के तत्वों से ही बनें हों, किन्तु उस समय उसे दीवाना कह कर इतना दुत्कारा गया कि वह विष खाकर मर गया। परन्तु मैंडलीफ के कार्य से पुनः यह विचार पैदा हुआ कि शायद ईश्वर ने इन सब तत्वों को एक साथ न रचा हो, और वे क्रमशः 'उद्रजन' से ही बने हों।

प्रकृति की इस रचना शक्ति के सम्बन्ध में सन्देह तो मैंडलीफ के समय से ही उत्पन्न हो गया था, परन्तु इस के असली भेद तो सर थामसन के विद्युत के परीक्षणों के पश्चात् ही मालूम हुए। बादलों में चमकती विद्युत किसने नहीं देखी। इसी तरह से बिजली

की चिनगारियाँ प्रयोगशाला में भी पैदा की जा सकती हैं। इन चिनगारियों के कारण हवा दुर्वाहक से सुवाहक हो जाती है। यह क्यों? इस बात की तह तक पहुंचने के लिये थामसन साहब ने शीशे की बन्द नलियों में चिगारियां पैदा करने की चेष्टा की। और साथ ही साथ वह वायुपम्प से नली में से वायु भी निकालता गया। उसने देखा कि जब हवा काफ़ी खाली हो गई, तो परीक्षण नलिका पतली चिंगारियों के स्थान पर प्रकाश से भर गई। इन परीक्षणों से सिद्ध हुआ कि रेडिफ़ाइड सूक्ष्मीभूत) वायु के अणु बिजली की ताकतसे टूट जाते हैं और उनके टूटने पर बिजली के कण तथा प्रकाश पैदा होते हैं। पिछले ५०, ६० वर्षों में विद्युत के द्वारा परमाणुओं के अन्दर की बनावट की खोज करने से पता लगा है कि इनके अन्दर बिजली के कणों तथा विद्युत चुम्बकीय शक्ति (जो कि परमाणु के टूटने पर एक्स रे, जामनी किरण, वायलटरे, तप्तकिरण या साधारण प्रकाश के रूप में पैदा होती है) और कुछ भी नहीं है। किसी भी चीज़ के परमाणु को तोड़ा जाय तो यही तीन चीज़ें मिलती हैं। इन परीक्षणों से तो यह साफ प्रकट होता है कि ईश्वर ने ये ६२ तत्व पृथक् पृथक् नहीं बनाये। किन्तु ये सब किसी विशेष प्रकार से इन विद्युतकणों और विद्युत्चुंबकीय शक्ति से ही बने हैं।

एलैक्ट्रोन और प्रोटोन—यह सर्वथा संभव है कि 'उद्रजन' जो कि सब से हलकी है, कम से कम विद्युत्कणों से बनी हो, क्यों कि उद्रजन के परमाणु और अणु किसी प्रकार के विद्युतीय गुणों को प्रकट नहीं करते। इस के परमाणुओं में ऋण और धन विद्युत एक जैसी होनी चाहिये। इसलिये जितनी भी ऋण विद्युत इस में

है, वह कम से कम परिमाण में है और उसे एक इलैक्ट्रोन (Electron) माना जा सकता है। इसी तरह धन विद्युत् भी उद्रजन के अणु का एक प्रोटोन (proton) है। धन और ऋण विद्युत् में बड़ी भारी आकर्षण शक्ति है, फिर वह एक परमाणु में परस्पर मिले बिना क्यों कर रह सकती हैं। इस बात को जर्मनी के एक वैज्ञानिक नाइलबोर ने इस प्रकार सुलझाया कि एक बिजली का कण दूसरे कण के पास इस तरह घूमता है, जैसे पृथ्वी सूर्य के चारों ओर। और जिस कारण से पृथिवी सूर्य के साथ नहीं छू जाती, ठीक उसी कारण से यहां भी विद्युत के दोनों विभिन्न श्रेणी के कण एक दूसरे से अलग अलग रहते हैं, यद्यपि सूर्य और पृथ्वी में परस्पर भारी आकर्षण है।

परमाणु का व्यास सैंटीमीटर (C.M.) $\frac{१}{१००,००,०००}$ वें हिस्से के बराबर है। एलैक्ट्रोन का व्यास सैंटीमीटर का $\frac{१}{१,००,००,००,००,००,०००}$ वाँ हिस्सा है। प्रोटोन का व्यास सैंटीमीटर का $\frac{१}{१०,००,००.००,००,००,००,०००}$ वां हिस्सा है। इस का अर्थ यह हुआ कि इलैक्ट्रोन प्रोटोन से १००० गुणा बड़ा है। अर्थात् एक परमाणु के अन्दर कई लाख एलैक्ट्रोन (Electron) भरे जा सकते है। सूर्य मण्डल के समान परमाणु भी बिलकुल खोखला है। प्रोटोन यद्यपि एक्ट्रोन से १००० गुणा छोटा है, परन्तु वह उससे १७०० गुणा अधिक भारी है। इस लिये परमाणु के अन्दर प्रोटोन स्थिर रहता हैं और इलैक्ट्रोन

नोट—एक इञ्च में २$\frac{१}{२}$ सैंटीमीटर होते हैं।

इस के चारों ओर घूमता है। उद्रजन से भारी तत्व के प्रत्येक परमाणु में इलैक्ट्रोन और प्रोटोन अधिक होंगे। पर दोनों की संख्या बराबर होगी, क्यों कि कोई भी परमाणु साधारण विद्युत के गुण प्रकट नहीं करता। इलैक्ट्रोन और प्रोटोन में यदि एक सदृश विद्युत् हो तो वे एक दूसरे को धकेलेंगे, अतः वे एक परमाणु में इकट्ठे हो ही कैसे सकते हैं? अन्वेषण करने से मालूम हुआ है कि परमाणु के भीतर एक भारी-सा हिस्सा होता है, जिसमें सम्पूर्ण प्रोटोन तथा उन से आधे इलैक्ट्रोन बड़ी दृढ़ता से एक दूसरे को पकड़े रखते हैं और शेष परिमाणु के आधे इलक्टोन इस के चारों तरफ़ विभिन्न अन्तर पर विभिन्न पथों में घूमते हैं।

रदरफोर्ड ने बहुत से तत्वों के परमाणुओं को ज़ोरदार बिजली के छर्रों से तोड़ा। उसने ये छर्रें रेडियम से लिए थे, जिनसे उद्रजन से ४ गुना भारी बिजली के छर्रें भी बड़ी तेज़ी से छूटते हैं। उससे देखा कि जब भी कोई परमाणु टूटता है, तो उसमें से या तो केवल हिलियम गैस' के टुकड़े निकलते हैं या हिलियम तथा उद्रजन के। यह भी मालूम हो चुका है कि उद्रजन से अलग भारी तत्व 'हिलियम' ही है जो कि उद्रजन से चार गुना भारी है। उद्रजन से २ या ३ गुना भारी तत्व कोई नहीं है। इससे ख्याल पैदा होता है कि जहां बिजली के धन और ऋण कणों का सबसे स्थायी निर्माण उद्रजन का परमाणु है, उसके बाद द्वितीय स्थायी निर्माण हिलियम है। उद्रजन और हिलियम के परमाणु तत्व की बढ़ती में ईटों का सा काम देता है। प्रत्येक अगले तत्वके अंदर दो उद्रजन के परमाणु जाते हैं, जिनमें धन-विद्युत्, और ऋण विद्युत् का एक एक कण तो केन्द्रीय भाग (nucleus) में चला जाता है

और बाकी का एक 'ऋण-विद्युत्' का कण बाहर घूमते हुए कणों में शामिल हो जाता है। इस तरह 'यूरेनियम' (९२ संख्या वाला तत्व) में १८४ प्रोटोन और ९२ इलेक्ट्रोन्स मिला कर एक केन्द्रीय भाग (Nucleus) बनते हैं। उनके चारों ओर ९२ इलेक्ट्रोन्स घूमते हैं।

जब इन की संख्या अधिक हो जाती है, तो आंतरिक विद्युत्शक्तियों का दबाव इतना बढ़ जाता है कि ऐसे परमाणु आपसे आप टूटते रहते है और फिर इन में से वही 'विद्युत्चुम्बकीय-शक्ति' तथा विद्युत् कण और हिलयम के केन्द्रीय कण फूट फूट कर निकलते हैं। केवल उस यूरेनियम के ही परमाणु नहीं टूटते, किन्तु जितने परमाणु सिक्के से भारी हैं, वे सभी इसी प्रकार टूटते रहते हैं। इनमें 'रेडियम' सब से प्रसिद्ध है। जिसमें से अपने आप बहुत तेज़ एक्स किरणों की तरह का प्रकाश निकलता है, जिसे गामा-किरण (Gama-Rays) कहते हैं। और साथही साथ हिलियम के केन्द्रीय भाग से अलफ किरण (Alfa-Rays) तथा ऋण विद्युत के कारण जिन्हें बीटा-किरण (Bita Rays) कहते हैं, भी निकलते हैं। इन किरणों में प्रवेश करने की बड़ी शक्ति होती है, जिसका प्रयोग मनुष्य की नासूर (कैन्सर) जैसी कष्टदायक बीमारियों में किया जाता है। सभी परमाणु बिजली के कणों से ही बने हैं और विद्युत्कणों में खिंचाव होता है, इस से भिन्न परमाणुओं द्वारा इस विद्युत के खिंचाव के कारण विभिन्न वस्तुओं में परिवर्तित हो सकना कुछ कठिन नहीं।

अगर सारे परमाणु विद्युत् के ही बने हुए हैं, तो यह संभव होना चाहिए कि उसमें से कुछ विद्युत् कण निकाल कर या उसमें

कतिपय नए विद्युत् कण डाल कर एक तत्व से दूसरा तत्व बनाया जा सके। सोने में पारे के एक विद्युत्कण से केवल दो प्रोटोन तथा दो इलेक्ट्रोन ही तो कम है। यदि किसी प्रकार पारे के परमाणु से उन्हें निकाल दिया जाय तो वह सोना बन जायगा। इस कार्य में अब सफलता भी प्राप्त हो चुकी है। परन्तु इस तरह सोना बनाने में कानों से असली सोना निकालने की अपेक्षा कई गुणा अधिक खर्च आता है। उधर वैज्ञानिक उपायों से 'रेडियम' जैसी दुर्लभ और अमूल्य वस्तु बनाना अधिक लाभदायक है। रेडियम हीरे से भी २० गुना मंहगी है। सिक्के के परमाणुओं में अगर बिजली के कण भर दिये जाँय, तो उसमें रेडियम की विशेषतायें (गुण) पैदा हो जांयगी। इसी कारण रेडियम का इतना मूल्य है। यह परीक्षण भी अब साइक्लोट्रोन (Cyclotrone) मशीन द्वारा सफलता पूर्वक किया जा चुका है। न केवल सीसे में, बल्कि प्रायः प्रत्येक चीज़ में रेडियम की सी शक्ति दी जा सकती है और हज़ारों लाखों बीमारों को; जिन्हें रेडियम की चिकित्सा कराना असंभव प्रतीत होता था, आज बड़ी आशायें बंध गई हैं। अभी तक यह बात पूर्णरूप से नहीं कही जा सकती कि बिजली के कण किस चीज़ के बने हुए हैं, परन्तु पिछले दस सालों से वैज्ञानिकों को इस बात का ख्याल हो गया है कि वे आकाश के ही विकृत और पुष्ट रूप हैं। बिजली के कणों में लहरों की विशेषतायें भी पाई गई हैं, परन्तु अभी यह पहेली सुलझ नहीं सकी।

शक्ति (Energy)—जैसे कि पहिले कहा जा चुका है, न्यूटन साहब ने मालूम किया कि—पदार्थ निष्क्रिय है और इसमें जितनी भी क्रिया है, वह किसी अन्य वस्तु के कारण है, जिसे हम

शक्ति कह सकते हैं। यह शक्ति कई प्रकार की होती हैं। उदाहरणार्थ:—

१—यान्त्रिक शक्ति (Mechanical Energy)
२—ताप की शक्ति (Heat Energy)
३—प्रकाश की शक्ति (Light Energy)
४—विद्युत् की शक्ति (Electrical Energy)
५—चुम्बक की शक्ति (Magnatic Energy)
६—रसायनिक शक्ति (Chemical Energy)
७—जीवन शक्ति (Biological Energy)

इनमें से प्रथम ५ प्रकार की शक्तियाँ कुछ एक ही प्रकार की है। 'रासायनिक शक्ति' इन से कुछ भिन्न है।

शक्ति वह चीज़ है, जो पदार्थ में कुछ जान-सी डाल देती है। जो अणुओं और परमाणुओं में गति पैदा कर देती है। पर क्या शक्ति की सत्ता पदार्थ के इन अणु-परमाणु और कणों से बाहर और पृथक् है ? इस सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

शक्ति का वर्गीकरण—संसार में ३ प्रकार की शक्तियां हैं। प्रथम भौतिक (Physical) द्वितीय रासायनिक (Chemical) और तृतीय जीवन शक्ति (Biological)। (१) याँत्रिक शक्ति (Mechanical) (२) ताप (Heat) (३) प्रकाश (Light) (४) विद्युत् (Electrical) (५) चुम्बक (Magnetic) की शक्तियाँ वास्तव में भौतिक (प्रथम) शक्ति के ही रूप हैं।

यांत्रिक शक्ति–यांत्रिक शक्ति (Mechanical Energy) दो प्रकार की होती है। प्रथम वह जो गतिमान पदार्थ में होती है। चलती हुई रेलगाड़ी या मोटर में वह शक्ति पैदा होती है कि सब लोग उससे दूर हट जाते हैं। मोटर चाहे कितना ही तेज़ क्यों न चल रही हो, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। उसका लोहा, पैट्रोल तथा गद्दे वैसे ही बने हैं। परन्तु जिस मोटर की ठहरी हुई दशा में लोग उसको हाथ लगा कर देखते हैं, बड़ी खुशी से उसमें बैठ कर इधर-उधर की सैर करते हैं, उसी की गतिमान दशा में उसके पास आने में डरते हैं।

द्वितीय वह शक्ति है जैसी कि तनी हुई कमान में होती हैं। धनुष का चिल्ला चढ़ा हुआ देखकर बड़े-बड़े योद्धा मैदान से भाग जाते है। परन्तु क्या धनुष की लकड़ी या डोरी लोहे की हो जाती है? वह तो आखिर लकड़ी और तागा ही है। वह शक्ति पदार्थ में उस समय पैदा होती है जब कि उसके किसी हिस्से को इस तरह मोड़ा या दबाया जाय कि पदार्थ अपनी पहली आकृति पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करे। पदार्थ में लचक का होना ही इस शक्ति को पैदा करता है। सब मशीनों के अन्दर इन्हीं दोनों यांत्रिक शक्तियों का प्रयोग किया जाता है। दबाई हुई भाप (Compressed Steam) के कारण एन्जिन के पहिये चलते हैं और बहता हुआ पानी पनचक्की चलाता है।

(२) ताप शक्ति–(Heat Energy) यह एक बड़ी आधार-भूत शक्ति है। जाडल के परीक्षणों से यह पता लगा है कि यह शक्ति वास्तव में 'पदार्थ' के अणुओं के हिलने-जुलने क कारण पैदा होती है। यह भी मालूम हुआ है कि किसी भी चीज

के अणु स्थिर नहीं। वे तभी स्थिर हो सकते हैं, जब उनमें ताप की शक्ति न रहे। यह अवस्था २७३.२ डिग्री शून्य से नीचे पर होती है। जब कि 'पदार्थ' के अणु बिलकुल स्थिर हो जाते हैं। और क्योंकि 'पदार्थ' के अणु की शक्ति को इससे कम किया ही नहीं जा सकता, इसलिए किसी भी प्रकार से किसी भी चीज में शून्य से २७३.२ से कम ताप करना असम्भव है।

ठोस अवस्था में तो प्रत्येक अणु का स्थान निश्चित है और वह उसी स्थान पर काँपते से रहते हैं। वे एक दूसरे से आन्तरिक खिचाव के कारण जकड़े हुए हैं। किन्तु जब गरम होने के कारण उनके अणु अधिक जोर से थरथराने लगते हैं, तो एक ऐसी दशा आ जाती है जब कि पदार्थ अपने आन्तरिक खिचाव पर काबू नहीं रख सकता। तब ठोस वस्तु पिघल कर द्रव बन जाती है। और इसी प्रकार और अधिक गरम होने पर अणु एक दूसरे से बिलकुल अलग होकर गैस बन जाते हैं। इसी लिये गरम होने पर चीज़ें फैलती और हल्की हो जाती हैं। संसार की सारी घटनाएं वस्तुतः इसी शक्ति पर अवलंबित हैं। ताप से न केवल रोटी ही पकती है बल्कि रेलगाड़ी तथा जहाज़ भी चलते हैं। कारखानों का चलना भी इसी पर आश्रित है। सूर्य इस ताप शक्ति का महान् उद्गम है। इसी द्वारा सारे जीव जन्तु जीवित हैं।

(३) प्रकाश की शक्ति (Light Energy)—प्रकाश के कारण ही दिन और रात में भेद है। प्रकाश से ही हम वस्तुओं को देख सकते हैं। प्रकाश और ताप में अन्तर है, यद्यपि सामान्यतया दोनों में परस्पर बहुत सम्बन्ध है। प्रकाश से हमारा अभिप्राय केवल उस शक्ति से है जिससे आंख देखने का अनुभव

कर सकती है। पर वस्तुतः यह शक्ति इतनी ही नहीं। वास्तव में सारी प्रकाशित शक्तियों में गामा किरण, एक्स किरण, अल्ट्रा-वायलेट किरण, वायलेट किरण, दृश्य किरण, लाल किरण, ताप किरण और बेतार की लहरें, रेडियो की लहरें आदि सब एक ही परिवार की हैं। हमारी आंख इस परिवार के एक बहुत छोटे हिस्से को देखती है। आकाश की लहरों की लम्बाई सैंटीमीटर के $\frac{१}{१,००,००,००,००,००,०००}$ वें हिस्से से लेकर ३०,००,००० सैंटीमीटर तक है। आंख तो केवल उस प्रकाश का अनुभव करती है, जिस की लहरों की लम्बाई $\frac{३९}{१०,००,०००}$ वें हिस्से से ले कर $\frac{७८}{१०,००,०००}$ वां हिस्सा हो सकती है। प्रकाश वस्तुतः आकाश की लहरें ही मानी गई हैं, और प्रकाश के द्वारा ही आकाश की छानबीन की जा सकती है। प्रकाश ही सारे ज्ञान का कारण है। जीव भी इसके बिना जीवित नहीं रहता। वृक्ष, वनस्पति आदि इसी शक्ति के द्वारा अपना शरीर बनाते हैं।

(४) विद्युत—(Electricity) इस शक्ति को आजकल भी अच्छी तरह से नहीं समझा गया। परन्तु २० वीं सदी का जादूगर यही शक्ति है। इसी के बल से रेडियो बना। बोलते चित्रपट उसी के आधार पर चलते हैं। टेलीफोन, स्वयं चलने वाले यन्त्र सब इसी के आधार पर काम करते हैं। इसी के प्रयोग से केवल एक बटन दबाने से नकली फौजों के दस्ते तथा बड़े बड़े कारखाने और जहाज स्वयं काम करने लग जाते हैं। घर में लैंप जलने लगते हैं, पंखा चलने लगता है। बाल घुंघरीले हो जाते हैं। बुढ़ापे की

झुर्रियां दूर हो जाती है और भी न जाने क्या कुछ हो सकता है। वस्तुतः बिजली आजकल ज्ञान विज्ञान और कला कौशल की आत्मा बनी हुई है।

(५) चुम्बक शक्ति—(Magnetic energy) वह शक्ति है जिस के कारण बहुत सी चीजें लोहे को खींच लेती हैं। इसी शक्ति के द्वारा पथभ्रष्ट जहाज और नौकायें अपने घर वापस आती रही हैं। यह शक्ति आजकल बिजली की सहयोगिनी बनी हुई है। और शायद ही बिजली की कोई ऐसी करामात होगी, जिस में यह चुम्बकीय शक्ति बिजली को सहायता न करती हो।

(६) रासायनिक शक्ति—(Chemical Energy) इस शक्ति के आश्चर्योत्पादक कार्यों का वर्णन पहले किया जा चुका है। यह शक्ति भी अन्त में बिजली की शक्ति में ही बदल जाती हैं।

(७) इन सब शक्तियों से गूढ़ शक्ति जीवन शक्ति (Biological Energy) है। धार्मिक लोग चाहे इसे कुछ भी कहें, किन्तु यह वह शक्ति है जिस से मृत पदार्थ में बढ़ने की तथा उत्पादन करने की शक्ति आती है।

शक्ति के सम्बन्ध में ज़रा अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता है—भौतिक शक्ति तीन श्रेणियों में बांटी जा सकती है। प्रथम वह—जो अणुओं-परमाणुओं में ही हो और उसका प्रभाव भी उन्हीं में हो। यांत्रिक शक्ति और ताप की शक्ति, इनके बड़े उदाहरण हैं। द्वितीय—जिनका प्रभाव तो पदार्थ के बाहर हो और मूल पदार्थ में हो, जैसे चुम्बक की शक्ति और विद्युत् की शक्ति। इन दोनों उदाहरणों में शक्ति का प्रभाव आकाश में है तथा यह अपना प्रभाव दूर से ही करती है। पर पदार्थ के बिना शक्ति की सत्ता

नहीं रह सकती। चुम्बक पत्थर को आगे पीछे ले जाने से उसका चुम्बकीय क्षेत्र भी उसके साथ साथ चला जाता है। तृतीय—वह शक्ति हैं जो प्रकाश की तरह है और जो पदार्थ को छोड़ कर बिलकुल ही आकाश में चली आती है और लहरों के रूप में संपूर्ण आकाश-मण्डल में घूम सकती है। ऐसी शक्ति को व्यापक शक्ति (Radiant Energy) कहते हैं। वैसे तो 'वाणी की शक्ति' तथा 'समुद्र की लहरें' भी इसी प्रकार की शक्तियां हैं, पर वे आकाश में प्रवेश नहीं करती। बल्कि पदार्थ के अणु से ही उनका सम्बन्ध है। यदि ध्यान से देखा जाय तो इन तीनों अवस्थाओं में शक्ति का प्रदुर्भाव पदार्थ से ही होता है और जब तक वह किसी और पदार्थ से नहीं मिलती, उसकी सत्ता प्रकट नहीं होती। आकाश में शक्ति का होना ही इस बात में सन्देह पैदा कर देता है कि आकाश में पदार्थ के गुण छिपे हुए हैं। यह बात हमारे इस विचार को और अधिक पुष्ट बना देती है कि जब-जब और जहां-जहां आकाश के अन्दर ये गुण पूर्णतया प्रकट होते हैं, उसे हम पदार्थ कह देते हैं।

भौतिक शक्ति के नियम—भौतिक शक्ति का सबसे बड़ा और आधारभूत नियम यह है कि शक्ति न तो उत्पन्न की जा सकती है और न वह नष्ट की जा सकती है। दुनियाँ की सम्पूर्ण शक्ति सदैव उतनी रहती है। जैसे एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में बदल सकता है, इसी प्रकार एक तरह की शक्ति दूसरी प्रकार की शक्ति में बदल सकती है। पदार्थ की एक शकल से दूसरी में बदलने के विज्ञान को रसायन (Chemi-try) कहते हैं और शक्ति के एक रूप से दूसरे रूप में बदलने वाले विज्ञान को भौतिकी (Physics) कहा जाता है। केवल भौतिक शक्तियां ही अपने

आप में नहीं बदलतीं, बल्कि भौतिक से रासायनिक और रासायनिक से भौतिक भी बन सकती हैं। एंस्टाइन के सिद्धान्तों और परीक्षणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि पदार्थ 'शक्ति' में बदल जाता है। सूर्य तथा सितारों में उद्रजन से हिलयम और उससे भारी तत्व स्वयमेव बन रहे हैं। वास्तव में हिलयम का एक अणु ४ उद्रजन के अणुओं से $\frac{३२}{१०००}$ वाँ हिस्सा हलका है। इतना पदार्थ हिलियम के बनाने के कार्य में ही टूट गया और शक्ति के रूप में प्रकट हो गया। यह अनुभव किया गया है कि—यह सूर्य और सितारों के ताप का परिणाम है। यदि उद्रजन का एक अणु शक्ति में बदला जा सके तो यह शक्ति इतनी होगी कि उससे प्रशान्त महासागर के सारे जहाज़ ६ महीने तक चलाए जा सकेंगे।

परन्तु शक्ति का असली भेद अभी तक नहीं खुला। ये सब शक्तियां पदार्थ की तरह एक ही चीज से बनी हैं अथवा ये सब पृथक् २ हैं? यदि कोई एक ही शक्ति उनकी उत्पादक है तो वह कौन सी है। फिर भी यह तो मालूम हो चुका है कि शक्ति का भी एक अणु-सा है और कोई कार्य ऐसा नहीं, जिसमें इस अणु से भी कम शक्ति लगे। किसी भी कार्य में जितनी शक्ति प्रयुक्त होती है, वह इसका पूर्ण गुणनफल (Multipal) है। यदि हम ठीक ठीक वहें तो शक्ति कार्य से ही मापी जा सकती है तथा छोटे से छोटा कार्य अर्थात् जिससे छोटा कोई कार्य हो ही नहीं सकता, उसे प्लैंक के कार्य का अणु कहते हैं (Plank's qauntan of action) कहते हैं।

शक्ति के घेरे (Volume) और लम्बाई चौड़ाई को मालूम

करना बिल्कुल व्यर्थ है। क्योंकि यह तो पदार्थ के गुण हैं शक्ति के नहीं। शक्ति तो केवल कार्य की जनक है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि शक्ति अपना रूप बदल सकती है। कोयले के जलने से रासायनिक-शक्ति ताप में बदल जाती है। इससे भाप बनती है और इससे प्रबल यांत्रिक शक्ति बनती है। इसी से गाड़ी चलती है। इस कार्य में जो कुछ वस्तुतः हुआ, वह इतना ही कि 'घुटी हुई भाप' (Compressed Steam) केवल फैली और गाड़ी चली। भाप की मात्रा कम नहीं हुई। साथ ही शक्ति के विषय में हम कह चुके हैं कि शक्ति का क्षय नहीं हो सकता। तो प्रश्न होता है कि शक्ति फिर गई तो कहां गई। यह शक्ति पहियों की रगड़ तथा अन्य अनेक हिस्सों में रगड़ के कारण से फिर ताप में बदल गई। वास्तव में किसी भी कार्य में अन्त में शक्ति अपने आपको ताप में बदल लेती है। पर इस ताप का दर्जा इतना नीचा होता है कि वह और काम करने लायक नहीं रहता। अर्थात वह शक्ति ऊंचे से नीचे दर्जे तक पहुंच कर निष्क्रिय हो जाती है जैसे प्रपात का पानी ऊपर से नीचे गिरते हुए बड़ी बड़ी मशीनें चला सकता है पर नीचे पहुंचने पर उसमें शक्ति नहीं रहती। अर्थात प्रत्येक कार्य में शक्ति अपना निर्दिष्ट कार्य करके ठण्डी हो जाती है और तब वह मनुष्य के लिये व्यर्थ हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि संसार की लाभप्रद शक्ति दिन प्रति दिन कम होती जाती है और कभी वह दिन आयेगा जब कि सारी शक्ति समाप्त हो जायगी।

सूर्य की शक्ति—ताप की शक्ति अणुओं की गति के कारण हैं। अन्ततोगत्वा हर तरह की शक्ति इसी अणुओं की गति में बदल जायगी। ठण्डा ताप ही सारी शक्तियों की अन्तिम

परिणिति है। शक्ति की दृष्टि से तारे और सूर्य बड़े ऊंचे दर्जे पर हैं। पृथ्वी पर की सम्पूर्ण शक्ति सूर्य की ही दी हुई है। पृथ्वी ने इस को ग्रहण करने के लिये बहुत से साधन बना रखे हैं। सम्पूर्ण बेलों, पौधों या वृक्षों के हरे हरे पत्ते इस शक्ति को वश में करने के साधन हैं। वे इसी शक्ति के द्वारा अपने भीतर कारबानिक एसिड गैस की कार्बन निकाल कर और पानी के उद्रजन और अम्लजन से मिलाकर अपने शरीर के प्रत्येक हिस्से को खुराक पहुंचाते हैं और उसी से उनका शरीर बनता है। इंगलिस्तान के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक बेली साहब ने पिछले कुछ सालों में सूर्य की शक्ति को, जिसे ग्रहण करने का अधिकार प्रकृति ने केवल हरे पत्तों को ही दे रखा था, कृत्रिम उपायों से वशीभूत करके फिर उसी 'कार्बोनिक-एसिड गैस' की कार्बन को सूर्य के प्रकाश से खाँड में बदल दिया। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति के सब से पेचीदा जादू को दोहरा कर दिखाया। १९३० के लगभग सिसल (cicel) ने सूर्य के प्रकाश से एक और नया उपयोग लेकर दिखा दिया। इसके आधार पर उन्होंने जीवन शक्ति के अनेक प्रयोग किए।

सूर्य और जीवन शक्ति—अमोनियम सल्फ़ाइड के घोल को फोरमैल्डी हाइड के बाष्प में सूर्य के प्रकाश में एक दिन रखने के बाद देखा गया कि उस से एक ऐसी चीज बन गई जो कि जीवित पदार्थों के सदृश गुण दिखाने लगी। परीक्षणों से यह सन्देह उत्पन्न हो गया कि जीवन शक्ति भी किसी प्रकार से सूर्य के प्रकाश की शक्ति से ही न बनी हो। जनरल स्मट ने १९३३ के लगभग इङ्गलिस्तान के वैज्ञानिकों की सभा के प्रधानपद से भाषण करते हुए इसी बात पर बल दिया कि हो न हो यह 'जीवनी-शक्ति'

सौर शक्ति से बनती है। और ज्यों-ज्यों सूर्य का प्रकाश सदियों से पृथ्वी को प्रकाशित करता रहा, त्यों-त्यों जीवन की शक्ति बढ़ती ही चली गई। आज पृथ्वी पर हज़ारों प्रकार की योनि के जानवर हैं तथा पृथ्वी का अधिक हिस्सा प्राणियों से आबाद है। जब सभ्यता का आविर्भाव हुआ, तब इस पृथ्वी पर केवल एक अरब मनुष्य थे, अब उनकी संख्या उससे दुगनी हो चुकी है। माना कि कतिपय बड़े बड़े जानवर तथा कतिपय विशेष वृक्षादि अब नहीं पाये जाते, परन्तु प्राणियों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। पृथ्वी के बहुत से प्रदेश जो निर्जन थे, आजकल घनी आबादी से भरे पड़े हैं और किसी भी जगह आबादी की कमी नहीं हुई।

सूर्य का प्रकाश जीवन शक्ति का उत्पादक हो या नहीं, परन्तु पृथ्वी पर जितनी भी शक्तियाँ दिखाई देती हैं और जितने भी कार्य हो रहे हैं, उन के लिये शक्ति सूर्य से ही आती है। उसी के कारण वनस्पतियाँ अनैन्द्रियिक वस्तुओं से न केवल अपना शरीर ही बनाती हैं अपितु शेष संपूर्ण प्राणियों के लिये खुराक भी देती हैं।

संसार में ४ प्रकार के प्राणी माने गए हैं। १—घास खाने वाले—घोड़ा, गाय, बकरी बैल आदि। २—मांसाहारी—शेर, चीता आदि। ३—रक्त शोषक—जो किसी जानदार का रस चूस लेते हैं। जैसे—रोगकृमि और बेरी पर लगी हुई लाख। ४—मृत भक्षक—अर्थात् जो कि मुर्दार खाते हैं, यथा—ढींगरी, गुच्छी, खुम्ब, आदि। इन चारों प्रकार के जीवों के लिये खुराक, प्रकाश की शक्ति से ही पत्तों की हरियाली द्वारा बनती है।

कोयले और तेल की कानें— प्रारम्भ में संसार में बड़े बड़े जङ्गल थे, जो भूकम्पों में लावे के नीचे दब गए और धीरे धीरे झुलस कर हजारों वर्षों के बाद वे अमूल्य कोयले की कानों के रूप में प्रकट हुए। इन में उसी सूर्य की शक्ति भरी हुई है। और इसी के कारण वे रेल, जहाज और बड़े बड़े कारखाने चलाते हैं। इन्हीं भूडोलों से सामुद्रिक जानवर मछलियां आदि भी कहीं कहीं लावे के नीचे दब गईं और हजारों सालों के बाद उन का रस (सत्) मट्टी के तेल के रूप में कई हज़ार गज़ गहरे कूंओं में से फुव्वारे के रूप में निकल रहा है। जो हमें हवाई जहाजों और मोटरों के लिये पैट्रोल तथा हर तरह की सुन्दर वैसलीन, नकली रबड और नकली चमडा देता है। ये दोनों वस्तुएं सूर्य के प्रकाश का ही उपहार हैं और मनुष्य जाति के लिए सब सुखों का उद्गम हैं। यद्यपि प्रकृति ने यह भंडार बहुत ही अधिक बनाया है, तथापि लोभी मनुष्य इसे इस बुरी तरह खाली कर रहा है कि अब इस बात का डर होगया है कि कहीं यह अक्षय कोश भी एक दिन समाप्त न हो जाए। इसलिए पिछले कुछ सालों में पौधों के रस से स्पिरिट बनाने की विधि निकाल ली गई है, जिस से यह आशा बंध गई है कि सूर्य की दी हुई शक्ति को हजारों सालों तक पृथ्वी की लावे की भट्टी के नीचे पकाए बिना भी थोड़े दिनों में उपयोग के योग्य बना लिया जा सकेगा। यही 'पावर-अलकोहल' अब खाँड के कारखानों के बचे हुए शीरे से भी तैयार होने लगी है।

जल प्रपात और वायु—सूर्य की किरणें समुद्र के जल को उड़ा कर बादलों के द्वारा ऊँचे पहाड़ों पर बरसाती हैं और इस तरह उस में वह शक्ति भर जाती है जो कि प्रपात से बिजली

के बड़े बड़े कारखाने चलाती है। बम्बई में इस तरह की एक हाईड्रो इलैक्ट्रिक स्कीम है, जो जी० आई० पी० की सम्पूर्ण रेल गाड़ियों तथा बम्बई शहर के संपूर्ण कारखानों को चला सकती है। ऐसा ही एक कारखाना योगेन्द्र नगर (मंडी स्टेट) में खोला गया है जो सारे पञ्जाब की रेलों और कारखानों तथा अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त हैं। इस के अतिरिक्त शक्ति का उद्गम हवा के झोंके हैं। हजारों सालों तक व्यापारी हवाएँ (Trade Winds) और विरुद्ध व्यापारी हवाएँ बड़े बड़े जहाजों को चलाती रहीं। किसी एक तूफान की सारी शक्ति को यदि किसी प्रकार से बांध लिया जाय तो वह किसी बड़े नगर के संपूर्ण कारखानों को कईदिनों तक चलाने के लिये काफी होगी। हालैंड, अमेरिका, जर्मनी और दुनिया के अन्य हिस्सों में 'पवन चक्कियां' चलाई जाती हैं, जो कि साधारण आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिये काफी शक्ति दे देती हैं। जर्मनी और अमेरिका में इस बात के सम्बन्ध में बड़े बड़े परीक्षण हो रहे हैं कि बड़े बड़े शहरों के लिये सम्पूर्ण विद्युत् इन पनचक्कियों से ही ली जावे।

भूपृष्ठ से ऊपर, ४००-५०० फीट की ऊँचाई से लेकर कई हजार फीट तक हवा हर समय चलती रहती है। और इससे प्रत्येक काम के लिये असीम शक्ति ली जा सकती है। ये हवाएँ भी तो सूर्य की गरमी के कारण ही हैं। आजकल इस बात पर ध्यान दिया जा रहा है कि किसी न किसी तरह सूर्य की गरमी को केन्द्रित (Focus) कर के फौरन ही इञ्जन चलाने के लिये प्रयुक्त किया जावे। पर ऐसी मशीनें अभी तक तो वे खिलौने ही समझी जानी चाहियें।

भाफ़ की शक्ति—सन् १५०० के लगभग 'स्टीवन्सन' ने भाप की शक्ति के कारण केतली के ढकने को उछलते हुए देख कर भाप का इञ्जन बनाया और दुनिया को भाप के द्वारा अग्नि का एक नया और अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयोग सिखाया। भाप के इंजन के विभिन्न कार्यों का विस्तृत वर्णन करना हमें यहां अभिप्रेत नहीं। मनुष्य की वर्तमान सभ्यता की नींव इसी इंजन ने डाली है। उसके बाद पैट्रोल के इञ्जन ने तो कमाल ही कर दिखाया। मोटर-कार और हवाई जहाज का जो असर संसार की सभ्यता पर पड़ा है, कौन उसे दृष्टि से ओझल कर सकता है। पैट्रोल के इञ्जन ने अपनी तेज़ गति के कारण सभी स्थानों को सुलभ बना दिया। हवाई जहाज की सहायता से आज लोग पैरिस से लंडन में चाय पीकर केवल आध घंटे में वापिस लौट आ सकते हैं। आज एक दिन में ही हिन्दुस्तान से लण्डन पहुँचा जा सकता है। मोटरकारों ने तो शहरों और गाँवों का नकशा ही बदल दिया है। शहर फैल कर बीसियों मीलों तक बढ़ गए हैं। शहरों और ग्रामों में आना जाना और वणिज व्यापार करना आसान हो गया है।

बिजली की शक्ति—वैसे तो हर तरह की शक्ति अपनी अपनी जगह लाभप्रद और अनिवार्य है, किन्तु मनुष्य की दृष्टि में विद्युत् की शक्ति का महत्व बहुत अधिक है। यद्यपि बिजली के डाइनेमो (Dynamo) उसी भाप के इंजन से चलते हैं और भाप के इंजन के बिना विद्युत् शायद इतनी प्रचलित न हो सकती, तथापि अब तो प्रपातों से विद्युत् इतनी अधिक मात्रा में मिलती है कि उसे भाप पर आश्रित न होना पड़ेगा। बिजली की शक्ति की महानता के कुछ विशेष कारण हैं। १—बिजली की चाल १,८६,००० मील प्रति सैकिंड है। यह सैंकड़ों-हज़ारों मीलों

तक तांबे की तारों के द्वारा ले जाई जा कर घर-घर बांटी जा सकती है। केवल दो तारों के छूने से ही बिजली एक तार से दूसरे तार में जा पहुँचती है और इस तरह कहीं भी ले जाई जा सकती है। २–यह शक्ति बहुत सरलता से ताप चुम्बक और रासायनिक शक्ति में बदली जा सकती है।

बिजली के सारे कार्य उसकी तीन प्रमुख विशेषताओं पर आश्रित हैं १—जब यह किसी तार में से गुजरती है तो कणों के अणुओं से रगड़ के कारण वह तार गरम हो जाती है। इसी गरमी के कारण विद्युत के तापक (Heater), तरह तरह की भट्टियाँ, बिजली के गद्दे और रजाइयाँ आदि बनाये जाते है। इसी गुण के कारण सब तरह के विद्युत् के लैंप बने और उन में से कुछ इतने छोटे लैम्प बनाये गए हैं जो कि सुई की नोक पर लगा कर शरीर के अंदर डाले जा सकते हैं और वहाँ प्रकाश पैदा कर के शरीर के अंदर के हिस्सों को देखा जा सकता है। भट्टियों का तापमान कुछ हज़ार डिग्री तक हो सकता है। अमेरिका में एक बिजलीकी भट्टी बनाई गई, इस का तापमान लगभग ५००० अंश था।* इस में डाली जाकर प्रत्येक वस्तु धूआँ हो जाती है। इसी प्रकार बिजली के लैंप इतने तेज़ बनाए गए कि आँख उनको देख ही नहीं सकती। २—जब बिजली किसी तार से गुजरती है तो उसके चारों ओर चुम्बकीय शक्ति पैदा हो जाती है और चुम्बक लोहे को गति दे सकता है। बिजली की इस चुम्बकीय गति की शक्ति से बिजली की रेल गाड़ी १०० मील प्रति घण्टा चल रही है।

---

*सूर्य का बाह्य तापमान ६००० है।

बिजली के प्रयोग—बिजली का पहला आश्चर्यजनक कार्य 'तार' (Telegraphy) है, जिसे बनाने का अधिकांश श्रेय मोर्स नामक वैज्ञानिक को है, इसके पश्चात् 'ग्राहम बैल' के टैलीफोन (Telephone) के आविष्कार से हजारों मील दूर बैठे हुए दो व्यक्ति आपस में इस तरह बातें करते हैं जैसे कि एक ही कमरे में बैठ कर धीरे २ बातें कर रहे हों। वैसे तो चलचित्रों (Movies) के बनाने के लिए विद्युत् की आवश्यकता नहीं, तथापि सवाक-चित्रपट (Talkies) बिजली के बिना चलने असंभव हैं। आजकल तो विद्युत् के द्वारा इन तस्वीरों के साथ साथ देखने वालों पर ऐसी लहरें फैंकी जाने लगी हैं, जिससे गर्मी-सर्दी-भय व खुशी का अनुभव हो।

प्रकाश—मनुष्य की बहुत सी खोजें तथा बहुत से ज्ञान प्रकाश पर आश्रित हैं। परन्तु प्रकृतिके बहुत से रहस्य प्रकाश की सीमा से बाहर हैं। अनेक स्थानों पर तो साधारण प्रकाश जा नहीं सकता और कई वस्तुओं के लिये प्रकाश की लहरें इतनी मोटी हैं कि वह इस प्रकाश से चमक ही नहीं सकती और दिखाई नहीं दे सकतीं। जैसे अणु, परमाणु। विद्युत् से इतनी तेज़ और सूक्ष्म लहरें पैदा की जाती हैं, जो शरीर के अन्दर से गुज़र जाती हे और उसकी आन्तरिक अवस्था दिखा देती हैं जो कि साधारण प्रकाश की लहरों के लिये असम्भव था। इन्हीं लहरों को एक्सकिरण कहते ह। एक्स-किरण केवल टूटी हुई हड्डियों को देखने में ही प्रयुक्त नहीं होता, किन्तु आजकल ये हवाई जहाज़, पनडुब्बी, जंगी जहाज़ आदि के मज़बूत ढले हुए और लोहे के पुर्ज़ों की आंतरिक दशा को देखने के लिए भी प्रयुक्त की जाती हैं, ताकि

कोई पुर्ज़ा बाहर से पक्का और अन्दर से कच्चा होने से किसी आड़े मौके पर धोखा न दे जाय।

सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्र—सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र की सीमा भी प्रकाश की लहरों की स्थूलता के कारण है। वह उतनी ही छोटी चीज़ देख सकता है जो प्रकाश की लहरों से छोटी न हो। परन्तु ऋण विद्युत के कण बिजली की लहरों से कहीं छोटे हैं। आज-कल बिजली के एक नए ढंग के 'सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र' तैयार किए जा रहे हैं, जिन से अणु और परमाणुओं के विषय में बहुत कुछ जान सकने की आशा है। उन से छोटे छोटे कीटाणुओं को, जो प्रकाश की कमज़ोरी की आड़ में छिपे हुए हैं, देखा जा सकेगा और उन से पैदा होने वाली बीमारियों का अवरोध हो सकेगा।

आकाशीय विद्युत्चुम्बकीय लहरें—बिजली के कण एक तरफ तो परमाणुओं के हिस्से हैं और दूसरी तरफ इनका क्षेत्र आकाश है। बिजली के बहुत से स्वतन्त्र कण आकाश में भी व्याप्त हैं। जब इन्हें झटका लगता है तो वह झटका उसके क्षेत्र द्वारा आकाश में लहरें पैदा कर देता है। १८८८ में इन लहरों को 'हर्ट' ने प्रयोगशाला में ढूढ़ा। यद्यपि उससे लगभग २० वर्ष पहले क्लार्क मैक्सवैल ने गणित के द्वारा ऐसी लहरों की भविष्य-वाणी की थी। इटली के एक नवयुवक 'मारकोनी' को इन लहरों में विशेष दिलचस्पी पैदा हुई और उसने अपनी आयु इन्हीं के अर्पण की। उस ने इन लहरों को 'रेडियो' के रूप में संसार को दिया। ये लहरें भी प्रकाश की तरह हैं।

आज रेडियो की लहरें कई असम्भव काम कर के दिखा रही

हैं। इन के द्वारा मशीनों को कई मील दूर से भी चलाया जा सकता है। जहाज़ों, रेलों, मोटरों, तथा कारखानों को एक आदमी दूर से ही चला सकता है। वर्तमान योरोपीय युद्ध में इङ्गलिस्तान की वायु-युद्ध निरोधक तोपों के संचालकों (Anti-Air-craft gunners) के आराम के लिए रेडियो के द्वारा किसी चालक के बिना ही हवाई जहाज उड़ाए जा रहे हैं। उड़ने के साथ साथ ये जहाज प्रत्येक संभव उपाय से निशाने से बचने की कोशिश भी करते हैं।

अमेरिका में एक बार चार जङ्गी जहाज तथा दो पनडुब्बियों की नकली लड़ाई में युद्ध का पूरा नाटक खेला गया, जब कि उनमें मनुष्य एक भी नहीं था। इसी प्रकार न्यूयार्क की गलियों की भीड़-भड़क्कों में भी बिना ड्राइवर की मोटरकारें स्वयं अपने मार्ग के इशारे देती हुई, कभी स्वयं तेज़ और कभी स्वयं धीरे चलाई जा चुकी हैं। आज अमेरिका के किसान घर के बराण्डे में बैठ कर अपने सम्पूर्ण खेत में हल चला लेते हैं। पर सर्वसाधारण के उपयोग के लिए इङ्गलैंड का प्रथम रेडियो ट्राँसमिटर (Radio-Transmitter) १९२२ में बना और रेडियो का पूर्ण उपयोग तो कुछ वर्षों से ही हुआ है। इतने थोड़े समय में ही रेडियो ने संसार की सभ्यता पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। आज एक मनुष्य—किसी जगह से सम्पूर्ण दुनियां को भाषण दे सकता है और अपने विचार संसार के सामने रख सकता है। अब तो यह भी संभव है कि—बहुत शीघ्र ही इसके द्वारा सृष्टि में एक धर्म तथा एक सभ्यता फैलाने का प्रयत्न किया जाय, जिससे विभिन्न जातियों के पृथक् २ व्यक्तित्व एवं विभिन्न जातीयता के भाव नष्ट हो जाँय

और संसार में अन्तर्राष्ट्रीयता और भ्रातृभाव का प्रसार हो सके।

इस प्रकार से विद्युत ने ऋतु पर भी विजय पाना प्रारम्भ कर दिया है। अब घरों में जितनी देर के लिए जैसी भी ऋतु चाहें कर सकते हैं। गर्मी, सर्दी, बरसात, प्रातःकालीन सुहावना समय और मध्याह्न की कड़कती धूप और संध्या तो खेल बन गए हैं। विद्युत् के द्वारा ही आज बादलों से इच्छानुसार वर्षा कराई जा सकती है। हॉलैंड में कई बार बिजली की सहायता से वर्षा करवाई जा चुकी है।

विद्युत का प्रयोग केवल इन्हीं कार्यों तक सीमित नहीं— इसके विस्मयावह कार्य चिकित्सा के क्षेत्र में भी कुछ कम नहीं। यह केवल सर्जन के औज़ारों को चलाने के काम में ही नहीं आती पर अब तो चिकित्सक लोग रोग का पता भी इसी से लगाते हैं। मानव शरीर में बिजली की लहरें दौड़ती हैं और इसी के कारण मनुष्य के चारों ओर एक विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र बना हुआ है। मनुष्य जब बीमार होता है, तब इस क्षेत्र में विकार आ जाता है। इस क्षेत्र के अध्ययन से न केवल बीमारी का पता चलता है, परन्तु उसका उपचार भी जाना जाता है।

देखा गया है कि हृदय की धड़कन पर भी विद्युत का नियन्त्रण है। हृदय की गति के बन्द हो जाने पर उसे बिजली के कम्पन देकर पुनः चालू किया जा सकता है। इस तरह बीसियों मिनट का मृत व्यक्ति पुनर्जीवित कर लिया गया है।

ईश्वर की बनाई हुई चीज़ों में मनुष्य को उसकी

सर्वश्रेष्ठ रचना माना जाता है। और क्योंकि मनुष्य अपने आपको केवल ईश्वर से ही कम मानता है, अतः वह इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि वह भी एक ऐसा आविष्कार करे जो मनुष्य की तरह काम कर सकें। ऐसी मशीन को रौबट (Robot) कहते हैं। इस मशीन के अन्दर माइक्रोफोन—बिजली का कान, लाउड स्पीकर—बिजली का मुंह, फोटो इलेक्ट्रिक सैल—बिजली की आंख, तथा बिजली की मोटर, हाथ-पांव की जगह कार्य करती है। ऐसी मशीन बातचीत करती है, चल फिर सकती हैं एवं और भी बहुत से ऐसे काम वह कर लेती है जो कि केवल मनुष्य ही कर सकता है। परन्तु अब तक किसी भी उपाय से उसमें वास्तविक जीवन के गुण नहीं दिखाये जा सकते।

जीवन शक्ति—जीवित वस्तु में निम्न विशेषताएं होती हैं:—प्रथम—वह विभिन्न चीज़ें खाकर अपना शरीर बनाती और बढ़ाती है। द्वितीय—वह सांस लेती है जिससे वह अम्लजन तो शरीर के अन्दर ले जाती है और 'कर्बनिकाम्ल एसिड गैस' छोड़ देती है। तृतीय—वह सदा एक जैसी नहीं रहती। चतुर्थ—वह अनुभव कर सकती है और स्थानीय प्रभावों के अनुसार अपने को बदलती है, ताकि परिवर्तित अवस्थाओं में भी वह अच्छी तरह से रह सकें। पाँचवें—वह अपनी सन्तान पैदा करती है। परन्तु 'रोबोट' में ऐसी कोई विशेषता नहीं। फिर भी यह विचार तो मन में उठता ही है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति ने सब जीव 'पदार्थ' से ही बनाये हैं। इस 'पदार्थ' में ऐसी कौन सी विशेष बात पैदा हो जाती है और क्या यह जीवन-शक्ति बिल्कुल नई तरह की है अथवा यह भी और शक्तियों से मिलती जुलती है। क्या यह किसी दूसरी शक्ति से बनाई जा सकती है ? यदि नहीं तो यह शक्ति क्या है और कहाँ से

आई है। संज्ञाहीन या निष्क्रिय पदार्थ के स्वयमेव जीवित हो जाने की कल्पना करना कुछ कठिन है। इस विषय में यह ख्याल किया जाता है कि—जीव के बीज (Spurms) किसी अन्य सृष्टि से टूटने वाले तारों के साथ आये, क्योंकि इन तारों के पदार्थ में जीव पाये गये हैं। पर जहां भी जीव सब से पहली बार बना, कैसे बना! अभी तक इसका उत्तर नहीं मिला। जीवन शक्ति कुछ ऐसी पेचीदा और लचकदार है कि हम इसे अब तक बिल्कुल भी नहीं समझ सके। प्रो० सिरल (Ciral) ने एक चकित करने वाला परीक्षण किया। अमोनियम सल्फाइट के घोल को 'फोरमैल-डी हाइड' के वाष्पों में रख कर एक दिन तक सूर्य के प्रकाश में रखने पर देखा कि उस घोल के अन्दर कुछ समास-सा बन गया है जिसमें कुछ-कुछ जीव के गुण थे। वह हिलता-जुलता भी था। पर वह सन्तान पैदा नहीं कर सकता था और दो-एक दिन में ही मर भी जाता था। चाहे वह जीव हो या न हो, पर वह जीव से इतना मिलता जुलता था कि एक बार तो सब को ख्याल हो ही गया कि प्रो० सिरल ने जीव बना लिया है।

जीवन तत्वों की खोज—वैज्ञानिकों ने जीवों की तरफ बहुत थोड़े समय से ध्यान दिया है। उनकी खोज के परिणाम-स्वरूप सृष्टि में दो तरह के जीवों का पता चला है। एक वानस्प-तिक-जगत् और दूसरा प्राणि-जगत्। पिछली दो चार शताब्दियों में ही १० लाख विभिन्न प्रकार के प्राणधारी जीव पाए गये हैं। जैसे कुत्ता, घोड़ा, बैल, बिल्ली, सांप, आदि। मनुष्य जाति में भी आज २,००,००,००,००० के लगभग व्यक्ति हैं। इसी तरह वानस्पतिक-जगत् में भी लाखों जातियाँ हैं। क्या यह सम्भव है कि ये सब जातियाँ एक दम बनी हैं अथवा वे भी

पदार्थ और शक्ति की तरह किसी मौलिक जीवित तत्व से बनी हैं-और क्या कोई जानवर सारे का सारा जीवित है या उसके अंग-प्रत्यंग स्वतन्त्र रूप से जीवित हैं ?

एक अपराधी को फाँसी देने के ११ घण्टे बाद उसमें से दिल निकाल लिया गया और उसको जिन्दा करके धड़कने वाला बना दिया गया। इसी प्रकार अन्य परीक्षण में एक कुत्ते का सिर काट कर ५ घंटे तक जीवित रक्खा गया। साँप का शरीर तो सिर कट जाने पर भी बहुत देर तक अपने आप ही जीवित रहता है। यदि गिजाई (Earth worm) को बीच में से काट कर दो कर दिया जाय, तो कुछ ही समय में धड़ वाला हिस्सा सिर और सिर वाला हिस्सा धड़ पैदा कर लेता है। इसी सिलसिले में अमेरिकन वैज्ञानिक सिरल ने एक मुर्गी के अण्डे से बढ़ते हुए बच्चे के दिल का टुकड़ा काट लिया और एक विशेष प्रकार के घोल (द्रव) में उचित गरमी में रखा। आज एक चौथाई सदी बाद भी वह 'दिल का टुकड़ा' जीवित है और प्रत्येक ४८ घण्टे बाद वह दुगुना हो जाता है और उस में से टुकड़े काट काट कर फेंक दिये जाते हैं अन्यथा वह अब तक सूर्य से भी बड़ा हो गया होता। इन २५ सालों में तो न जाने मुर्गी की कितनी नसलें हो चुकी होंगी। ये परीक्षण प्रकट करते हैं कि शरीर का एक एक अंग स्वयमेव जीवित है। अब यह विचार उत्पन्न होता है कि वह धड़ कौनसी छोटीसे छोटी चीज़ है, जो जीवित है और जिसे काट कर छोटा करने से वह जीवित नहीं रहेगा। ऐसी चीज़ को सैल कहते हैं।

एक सैल के जीव—बहुत से जीव ऐसे हैं, जिनका सारा शरीर केवल एक सैलका बना होता है। ये जीव सूक्ष्म वीक्षण यन्त्र

से ही दिखाई देते हैं। फिर भी वे जीवन की सारी क्रियाओं को सम्यक्तया करते हैं। इनका शरीर जैली की तरह का बना होता है। तेज़ दूरबीन से देखने से मालूम पड़ा है कि इसके शरीर के दो हिस्से हैं। अन्दर वाले हिस्से को न्यूक्लियस (Nucleus) कहते हैं। यह कुछ अधिक तरल वस्तु का बना होता है। यह विभिन्न रंगों से रंगा भी जा सकता है इसलिए उसे क्रोमोटिन (Chromotin) का बना हुआ कहते हैं। और इसके चारों तरफ वाले पदार्थ को साईटोप्लाज्म (Sytoplasm) कहते हैं। यह प्राणी खुराक के टुकड़े के चारों ओर लिपट कर उसे कहीं से भी अपने शरीर के अन्दर कर लेता है, और इसका रस चूस कर शरीर के जिस भी किसी भाग से चाहे उगल देता है। इस तरह यह बढ़ना शुरू होता है। यहां तक कि इसका शरीर इतना बड़ा हो जाता है कि उसे अपने आपको संभालना भी कठिन हो जाता है। तब एक विचित्र दृश्य पैदा होता है। सम्पूर्ण क्रोमोटिन अपने आप कुछ हिस्सों में बट जाता है और उससे एक विशेष प्रकार के लम्बूतरे से कीड़े बन जाते हैं जिनको 'क्रोमोज़ोम्स' (Cromosoms) कहते हैं। फिर ये क्रोमोज़ोम्स अपने आप ही अपनी लम्बाई में टूट और फट कर दो बन जाते हैं और हरेक 'क्रोमोजोन' का एक एक टुकड़ा सैल के अन्दर दो विभिन्न हिस्सों पर इकट्ठा हो जाता है। पश्चात् 'साइटोप्लाज्म' या (Cell) का शरीर बीच बीच में से फटना शुरू हो जाता है और अन्त में टूट कर दो टुकड़े हो जाते हैं। फिर ये दोनों नये सिरे से खुराक लेना प्रारम्भ कर देते हैं और बड़े हो होकर पुनः दो दो बन जाते हैं।

अधिक सैल्स के प्राणी—बड़े प्राणियों के शरीर की परीक्षा करने पर पता लगा है कि किसी भी प्राणी के शरीर के

टुकड़े इसी प्रकार के बहुत से सैल्स से बने हुए हैं। इन सैल्स के अन्दर जब 'क्रोमोज़ोम्स' बनते हैं तो उनकी संख्या हर प्रकार के सेल्स के लिए एक बराबर होती है। विभिन्न जातियों के शरीर के सैल्स के 'क्रोमोज़ोम्स' की संख्या एक दूसरे से भिन्न है।

मनुष्य के अन्दर के सैल्स में ४८ क्रोमोज़ोम्स बनते हैं। उसके दिमाग, पेट, बाजू और पैर आदि किसी भी हिस्से के सैल में भी इतने ही 'क्रोमोज़ोम्स' होते हैं। अन्य किसी भी जाति में इतने "क्रोमोज़ोम्स" नहीं होते। 'क्रोमोज़ोम्स' की खोज करते हुए यह पता चला है कि ये छोटे छोटे टुकड़ों से मिल कर बने हुए हैं। जिनको 'जन' (gen) कहते हैं। मनुष्य के ४८ 'क्रोमोज़ोम्स' में ५००० के लगभग 'जन' हैं और प्रत्येक जन किसी विशेष स्वभाव को प्रकट करता है, तथा उस स्वभाव को उन सब प्राणियों में प्रकट करता है जिनमें वह या उसकी नसल के 'जन' हों। 'क्रोमोज़ोम्स' के फटते समय वस्तुत: 'क्रोमोज़ोम्स' के ही दो टुकड़े होते हैं और इस प्रकार हर-एक 'जन' दो हो जाता है। एक 'सैल' से बने प्रत्येक नये 'सैल' में भी पहले सैल के ही गुण रहते हैं। इसी लिये हज़ारों लाखों साल बाद भी घोड़ा घोड़ेपन को नहीं छोड़ता, बन्दर बन्दर ही रहता है और गेहूँ गेहूँ ही है। ऊंची श्रेणी के प्राणियों में माँ और बाप दोनों के गुणों के 'जन' बच्चों में पाये जाते हैं। मनुष्य के रज और वीर्य के कणों में २४—२४ 'क्रोमोजम्स' होते हैं और उनके मिलने से ही मनुष्य का सैल बनता है। जिसके बढ़ने से हम सब बने हैं।

जन—अणु-परमाणु तथा इलैक्ट्रोन और प्रोटोन की तरह आज तक किसी ने 'जन' को नहीं देखा। किन्तु इनकी इतनी

अधिक महानता है कि इन्हीं को आजकल जीवन शक्ति का मूल माना जाता है। इन 'क्रोमोज़ोम्स' को फाड़ कर यह देखने की कोशिश की गई है कि 'जन' किस चीज़ के बने हुए हैं। किन्तु उन्हीं ६२ तत्वों के सिवाय जो कि विभिन्न वस्तुओं में विभिन्न रूप से १-२-४ आदि के अनुपात में हैं और कुछ नहीं मिला। मानव शरीर १६ से १८ तत्वों का बना हुआ है। इन में कार्बन, अलमजन और उद्रजन तो बहुत ही अधिक हैं। एवं गन्धक, फास्फोरस, मैगनेशियम, लोहा, हरिण गैस आदि अन्य भी तत्व है।

क्या जीवन शक्ति बनाई जा सकती हैं?——रसायन विद्या हमें सिखाती है कि विभिन्न तत्वों के परमाणु मिल कर एक बिल्कुल नई चीज बन जाते हैं और यह सी संभव है कि किसी ऐसी रासायनिक विधि से, जिसे अभी तक समझा नहीं गया, ये तत्वों के अणु मिलकर इस 'क्रोमोटीन' से 'साइटोप्लाज्म' तथा 'प्रोटोप्लाज़्म' जैसा पदार्थ कभी बन गया हो। जिस प्रकार प्रो० सिरल की विधि से नकली 'प्रोटोप्लाज्म' बना, कुछ ऐसे ही तरीके से असली भी बन सकता हो। सम्भव है कि यह 'जीवित पदार्थ' एक विशेष प्रकार का रासायनिक-समास ही हो और जीवन-शक्ति की कल्पना हमारी कम-समझी की ही त्रुटि हो।

पहला सैल जब भी बना, इन्हीं तत्वों से बना होगा। पर ये तत्व जीव का स्वभाविक भोजन नहीं, इस लिये कुछ सैल इन तत्वों को पहले अपनी शक्ति से ही अपने भोजन के रूप में बदलते हैं। इस काम के लिए वे सूर्य के प्रकाश की सहायता लेते हैं। इन सैल्स में एक हरी-हरी चीज जिसे क्लोरोफिल (Chlorofil) कहते हैं पैदा हो जाती है। इसकी सहायता से यह जीव साधारण तत्वों

से ऐसे रासायनिक समास बना देता है, जो कि सब जीवों का भोजन बन सकते हैं, यह वनस्पति जगत है। और मानों सभी जन्तुओं के लिए आहार उत्पन्न करने का ठेका इस वानस्पतिक-जगत् ने ही ले रक्खा है। दूसरी तरह के सैल्स ने तैयार की हुई खुराक छीन लेना आसान समझा। इसीलिये उन्होंने कार्य कर सकने की क्षमता प्राप्त की। पहली प्रकार के सैल्स सृष्टि के उस हिस्से में रहने लगे जहां उन्हें हवा, पानी और प्रकाश के अतिरिक्त दूसरी अनैन्द्रियिक वस्तुएं ऐसी हालत में मिल सकें, जिस से उन्हें सुगमता से आहार में बदला जा सके। सौभाग्यवश, ऐसी जगह मिल जाने पर उन्हें वहाँ से हिलने डुलने की कोई आवश्यकता नहीं रहीं। बल्कि उन्होंने कुछ ऐसे नये सैल्स बनाये जो पृथ्वी के अंदर घुस कर अधिक से अधिक मात्रा में 'क्षार' (Salts) निकाल सकें और हवा के झोके या पानी के बहाव से उस लाभप्रद स्थान से हटकर कहीं और न जा सकें। किन्तु इस प्रकार जो सैल्स पृथ्वी में घुस गये थे, उनको प्रकाश और हवा मिलना कठिन हो गया और इसके साथ-साथ उन्हें दूसरी तरह के आक्रामक सैल्स, जो अन्धकार में अपना काम आसानी से कर सकते हैं, के आक्रमण के भय से अपनी रक्षा के साधन भी पैदा करने पड़े।

प्रथम तो इन सैल्स ने अपने ऊपर मोटी और कठोर त्वचा चढ़ानी शुरू की और दूसरा इन्हों ने एक दूसरे से जुड़ कर रहना शुरू किया। इन सैल्स के समूह में प्रत्येक सैल को प्रर्याप्त मात्रा में हवा, प्रकाश और क्षार मिलने कठिन हो गये। पृथ्वी के पास वालों को तो प्रकाश की कमी अनुभव हुई, और दूर वालों को क्षार की कमी। इस समस्या को दूर करने का यही उपाय मिला कि वह आपस में काम बाँट लें। अब पृथ्वी के

पास वाले सैल्स ने क्षार इकट्ठा करके आकाश के सैल्स को पहुंचाना शुरू किया और दूर वालों ने प्रकाश से खुराक बना कर पृथ्वी वाले सैल्स को देना शुरू किया। बीच वाले सैल्स ने पृथ्वी से क्षार को ले जाने और प्रकाश से खुराक को नीचे लाने का काम सम्भाला। बस, इस प्रकार जड़, तने, शाखाएं और पत्ते बन गए। पूरा वृक्ष बनने में तो सैकड़ों-हज़ारों साल लगे होंगे और इसमें जीव को न जाने कितनी अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ा होगा।

इन अकेले सैल्स और पीपल के पेड़ के बीच में लाखों प्रकार की वानस्पतिक जातियाँ बनी हैं। सैल्स ने धीरे-धीरे ही विशेष विशेष कार्य को करना शुरू किया। विकास की अवस्था में जो जातियां पहले पहल बनीं, उनके सैल्स यद्यपि प्रधानतः एक ही कार्य करने वाले थे, परन्तु उन्होंने दूसरे कार्य करने की शक्ति को बिल्कुल भुला नहीं दिया था। इसलिये यदि कभी वे कट कर पृथक् भी हो गये तो भी जीवन के सारे काम, कटे हुए दोनों टुकड़े स्वयं करने लग गये और फिर बढ़कर उन्हों ने सैल्स का समूह बना लिया।

जन्तु जगत् के सैल्स का विकास—खुराक छीन कर खाने वाले सैल्स ने पहले तो अपने में चलने फिरने की शक्ति पैदा की। परन्तु क्योंकि उनमें किसी किसी ने आपस में ही एक दूसरे को खाना शुरू कर दिया, अतः अपने बचाव के लिये न केवल उन्हें त्वचा ही बनानी पड़ी, अपितु आक्रमणात्मक और रक्षणात्मक अंग भी बनाने पड़े। और इसी तरह आहार छीनने, उसे पचाने और उसका विभाजन करने के लिये उन्होंने अपने में विभिन्न सैल्स को विशेष रूप से तैयार किया। इस तरह के सैल्स के समूह ही जीव-जन्तु बन गए।

प्राणियों की पूर्वोक्त दोनों जातियों में विशेष बातों की प्रवीणता का विकास धीरे-धीरे हुआ है। विकास के प्रत्येक कदम पर एक नई जाति बनती गई, जो पहली जाति से जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल बनती गई। संसार के सम्पूर्ण प्राणि-जगत का विकास दो बड़े नियमों पर हुआ है। प्रथम—परिस्थितियों के अनुसार अपने को बना लेना। द्वितीय-अपनी सत्ता बनाए रखने के लिये संघर्ष करना। इन्हीं कारणों से मछलियों से तंग आकर मगरमच्छ आदि पानी के जानवरों ने स्थल पर रहने की चेष्टा करते हुए अपने को इस तरह बदला कि जमीन पर रह सकें। और अनेक स्थल पर रहने वाले जीवों ने अपने प्रतिद्वन्दियों से बचने के लिये समुद्र में बसने का आश्रय खोज लिया। कुछ ने हवा में उड़ने का साधन ढूंढ़ा, और वे वृक्षों पर ही रहने लगे। कुछ ने अपने आपको बढ़ा बढ़ा कर हाथी और गेंडे की तरह कठोर और बलशाली बना लिया। कुछ शेर और चीते बन कर अत्यन्त फुर्तीले हो गये और कुछ साँप आदि के रूप में रेंगने वाले बन गये।

वंश-परम्परा का विकास—इस विचार के अनुसार सैल्स ने अपने आपको बचाने तथा एक दूसरे को आराम देने के लिये बड़े जानवर का रूप धारण किया। जैसे कि मनुष्य ने जङ्गली जानवरों और आक्रमण वगैरह से बचने के लिये गाँव, कस्बे, शहर आदि बनाये और इनके अंदर रहने वालों ने भिन्न-भिन्न काम आपस में बांट लिए। उसमें से कुछ तो खेतीबाड़ी करके सब के लिए भोजन जुटाने लगे, कुछ शस्त्र-विद्या से सब की रक्षा करने और कुछ आपसी झगड़े ही निपटाने लगे। जीवन के लिये संघर्ष के कारण प्राणिमात्र की अपने से अधिक बलवान, योग्य और चतुर

सन्तान पैदा करने की इच्छा होनी स्वाभाविक है। इसलिये उन्होंने अपनी सन्तान में अधिक से अधिक गुण पैदा करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार दो प्राणियों ने मिलकर एक सन्तान बनानी सीखी, जिससे सन्तान में एक प्राणी के स्थान पर दो प्राणियों के गुण मिल जाँय और इस प्रकार बना हुआ प्राणी दोनों की अपेक्षा अधिक उत्तम हो। यह बात जीवों ने बहुत जल्दी ही सीख ली और बहुत छोटे-छोटे जीवों ने, जिनके सैल्स में अभी पूरी तरह से किसी एक गुण का विकास भी न होने पाया था, नर और मादा ये दो ऐसे प्राणी पैदा किये, जिन से सन्तान उत्पन्न हो सके। संतानोत्पत्ति में दो प्राणियों के सैल्स परस्पर इस तरह मिलते हैं कि उन के 'क्रोमोज़ोम्स' के द्वारा उनके 'जन' मिल जाते हैं। और क्योंकि दो प्राणियों के 'जन' परस्पर थोड़े बहुत भिन्न होते हैं, इसलिये भावी सन्तान के अन्दर भी पहले की अपेक्षा अधिक गुण पैदा हो जाते हैं।

माता-पिता के गुणों का संतान में जाने का यह नियम आस्ट्रेलिया के मैण्डल नामक पादरी ने जानने का प्रयत्न किया। उसने मटर तथा तत्सदृश जाति की बेलों पर परीक्षण शुरू किये। उसने देखा कि माता-पिता के विशेष गुण—जैसे फूलों का रङ्ग और पत्तियों का आकार आदि किसी विशेष प्राकृतिक नियम के अनुसार पैदा होते थे। उसने यह भी मालूम किया कि फल के बीज में सारे 'जन' सक्रिय नहीं होते और यह आवश्यक भी नहीं कि एक पीढ़ी के सब प्राणियों में वही 'जन' मुख्य और वही गौण हो जाय, जैसे पहले प्राणियों में थे। साथ ही उसने यह भी देखा कि ये विशेषताएं एक माता-पिता की एक

रोगों की चिकित्सा के लिए नये-नये गुणों वाली जड़ी-बूटियाँ बहुत अधिक मात्रा में तैयार की जाती हैं।

यह मान लिया गया है कि रज के सैल्स अपने आप ही बढ़ कर पूरी सन्तान बना सकते हैं। 'रज' के प्रत्येक सैल में एक तो 'जन' की पोटली होती है और दूसरी में उनकी खुराक रहती है, जिससे वह यथोचित काल तक कहीं और खुराक मिले बिना ही बढ़कर जानवर की शकल पैदा करना शुरू कर दें। इसी तरह वीर्य के अन्दर भी जन की पोटली के अतिरिक्त एक सुई-सी होती है, जिसको चुभा कर यह 'रज' के सैल को बढ़ने की प्रेरणा करता है। मेंढ़क के अंडों को केवल खून में डूबी हुई सुई चुभा कर वह प्रेरणा दी गई और इस प्रकार मेंढ़क के रज का एक सैल स्वयं मेंढ़क बन गया। इस प्रकार नर और मादा के सम्बन्ध के बिना रज के सैल्स से अधिकतर नर मेंढक ही बनते हैं। एक परीक्षण में 'नर-खरगोश' और 'मादा-खरगोश' से वीर्य और रज के सैल्स निकाल कर एक शीशे की सुराही में मिलाये गये। उसके बाद उस मिश्रण को एक अन्य 'मादा-खरगोश' के गर्भाशय में डाला गया। इसी कार्य से वहां भी खरगोश के साधारण बच्चे पैदा हो गये। अमेरीका में कई स्त्रियों पर भी इसी प्रकार के परीक्षण किए गये हैं।

मोटे तौर पर वीर्य और रज में यह अन्तर है कि जहाँ वीर्य के सैल्स तो एक सुई की नोक-सी हैं, जिसके द्वारा वह रज के सैल्स को प्रथम उत्पत्ति और पश्चात् वृद्धि के लिए प्रेरित करता है, वहां रज के सैल्स में खुराक भर दी गई है जिससे कि रज के सैल्स अपने में से ही खुराक लेकर तब तक बढ़ते रहें, जब तक कि वे बाहर से

खुराक नहीं पा सकते। किंतु चौपाये तथा अन्य प्रकार के जानवरों में रज के साथ खुराक की पर्याप्त मात्रा न होने के कारण उन्हें जल्दी ही माता से गर्भाशय के भीतर से खुराक लेनी पड़ती है। यदि यही खुराक किसी रासायनिक विधि से बनाकर बढ़ते हुए रज के टुकड़े को गर्भ के बाहर ही दी जा सके, तो यह सम्भव है कि यह शीशे की नाली में रक्खा हुआ रज पूरा जीव बन सके।

सैल्स का पृथक् जीवन—ऊंची श्रेणी के जीवों और पौधों के सैल्स किसी विशेष दिशा में बहुत विकसित हो चुके हैं और सैल्स ने अपना-अपना काम पूरी तरह बांट लिया है। जब तक इन सैल्स को उचित खुराक मिलती चली जायगी, वे अपना कार्य भी सम्यक्-तया करते चले जाँयगे, चाहे शेष वस्तुओं को कुछ भी क्यों न हो जाय। इसीलिए तो प्रो० 'कैरल' की मुर्गी के 'दिल का टुकड़ा' आज २५ साल से जीवित है। वह अपनी खुराक इन रासायनिक द्रव्यों से ही प्राप्त कर लेता है। मेंढ़क का दिल काटकर बाहर निकाल लेने पर भी वह एक विशेष घोल में कई घण्टे तक जीवित रह सकता है।

पौध लगाना—इसी नियम पर विश्वास रखते हुए अमेरिका में एक कृषि विशारद ने ताड़ के वृक्ष पर विभिन्न प्रकार के १६ फलों की टहनियों की पौध लगाई। इस ताड़-वृक्ष की इन विभिन्न शाखाओं में एक बार में ही एक साथ १६ तरह के फल लगे। ताड़ का पेड़ वस्तुतः इन सब विभिन्न शाखाओं के लिये पर्याप्त पानी और क्षार आदि आवश्यक और पुष्टिकारक सामग्री देता रहा, जिन्हें ये टहनियाँ अपने में लेतीं थीं। जब उनको अपने जीवन के लिए आवश्यक और उपयोगी सामग्री एक ताड़ के तने

से ही मिल गई, तो उन्हों ने अपने फल-फूल नियमित रूपसे देने ही थे। इसी तरह आज पंजाब में हज़ारों गलगल और नारंगी के पेड़ों में मालटे और सन्तरे की पौध लगा कर, इनकी फ़सल कई गुना बढ़ादी गई है। इस प्रकार यह भी सम्भव है कि जंगली और व्यर्थ के पेड़ों पर भी ठीक तरह की पौध लगाकर, इनको लाभदायक पेड़ों में बदल दिया जा सके। यह बाहर की पौध केवल वृक्षों पर ही नहीं लगती। अब यह मनुष्यों में भी लगाई जाती है। हड्डी और चमड़े के टुकड़े तो एक जानवर से दूसरे में लगाये ही जाते थे, पर अब तो एक जानवर के ग्लैण्ड्स (Glands)—गिलटियां—निकाल कर एक दूसरे जानवर में लगाई जा सकती हैं। इसी प्रकार मनुष्य की दूषित गिलटियों को निकाल कर उनकी जगह बन्दर की गिलटियां लगादी जाती हैं, जिससे बूढ़े भी जवान बन जाते हैं। इसी तरह वीयना (जर्मनी) के एक डाक्टर ने १२ साल के अन्धे को, जिसकी आंख का कोर्निया (पुतली के सामने वाला भाग, जिसमें फोले पड़ते हैं) फोला पड़ कर छलनी हो गया था, निकाल दिया और एक दूसरे मनुष्य का कोर्निया लगा कर पुनः उसकी आंखें ठीक करदीं। आज गंजों के सिर पर बालों वाली खाल लगाई जा सकती है और स्वस्थ पुरुषों के रक्त को अस्वस्थ पुरुषों में डाल कर उन्हें स्वस्थ बनाया जा सकता है।

मृत्यु—एक फाँसी लगे हुए अपराधी का दिल, उसकी मृत्यु के ११ घण्टे के बाद निकाल कर उसे पुनर्जीवित किया जा चुका है। इस दशा में हमें कानूनी मृत्यु दंड के अर्थ न जाने क्या लेने होंगे। वस्तुतः मृत्यु तो उसे कहेंगे, जब प्राणी के विभिन्न सैल्स एक दूसरे की सम्यक्तया सहायता करना छोड़ दें। मृत्यु तो केवल

सैल्स की पूर्ण अव्यवस्था ही है। क्या मृत व्यक्ति का प्रत्येक अङ्ग मर जाता है ? वास्तव में मौत का तात्पर्य यह है कि शरीर के सम्पूर्ण सैल्स में बढ़ने की शक्ति, और बढ़ कर दो-दो हो जाने की शक्ति नहीं रही। वस्तुतः ऊंची श्रेणी के जानवरों और पौधों के सैल्स क्रमशः एक दिशा में इतने उन्नत हो जाते हैं कि वह जीवन के सारे कार्य स्वयं नहीं कर सकते। यही करण है कि यदि किसी पट्ठे के सैल्स को उचित रासायनिक घोल में रखा जाय, जैसा कि 'कैरल' ने किया था, तो ये सैल्स सदा जीवित ही रहेंगे। इनके लिये मौत कोई चीज़ नहीं रहेगी। इसी तरह उन सब सैल्स के लिये, जो अपने सब काम अपने आप कर सकते हैं, मृत्यु के कोई अर्थ नहीं। एक बूढ़ा सैल टूटकर दो नौजवान सैल बन जाता है, तो फिर मौत किस की हुई ? जिन जानवरों और वनस्पतियों के सैल्स ने एक विशेषता होते हुए भी आवश्यकता के समय जीवन के सारे कार्य करने की शक्ति नहीं खोई, वे आड़े मौके पर उन शक्तियों का प्रयोग करके जीवित रह सकते हैं। पत्थरचून के वंश के पत्ते की विशेषता है कि यदि उसे तोड़ कर फेंक दिया जाय, तो अनुकूल भूमि पाकर वह न केवल जीवित ही रहेगा, किन्तु उसी से पुनः पूरा पेड़ भी बन जायगा। इसी तरह आलू का टुकड़ा गन्ने की पोरी (आंख), अदरक की गट्ठी और गुलाब की टहनी भी बढ़ कर पूरा पेड़ बन जाते हैं।

इसलिये वस्तुतः जीवन तो इन सेल्स का है और इन्हीं सेल्स ने अपने आराम के लिये मिल-जुलकर शरीर को एक साधन-सा बनाया हुआ है, जिसे हम गौ, घोड़ा, पीपल, आम या मनुष्य कहते हैं।

मनुष्य की अमरता—तो फिर यह विचार उत्पन्न होता है कि मनुष्य के सारे सैल्स सदा जीवित रक्खे जा सकते हैं या नहीं। प्रो० 'कैरल' का कथन है कि सैल्स के जीवन को दो प्रकार से लम्बा करना पूरी तरह सम्भव है। प्रथम यह कि उन को सदा ठीक खुराक मिलती रहे और उनसे निकला हुआ 'मल' (Dirty matter) उनके आस-पास इकट्ठा न होने दिया जाय। क्योंकि यह मैल (refuse) उनके लिये ज़हरीला होता है। द्वितीय प्रकार यह है कि सैल्स के जीवित होते हुए भी उनके सब कार्यों को रोक दिया जाय, जिनके करने के लिये उसे खुराक की अवश्यकता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि लोग योगाभ्यास द्वारा अपने शरीर के सैल्स के ऐसे सब कार्यों को बन्द कर देते थे और घण्टों, दिनों, महीनों और वर्षों तक समाधि लगाकर ऐसी हालत पैदा कर लेते थे कि उनके सैल्स को किसी भी प्रकार की खुराक की आवश्यकता न होती थी। प्रो० कैरल का यह विचार है कि इस तरह मानवीय शरीर के कार्य को सदियों के लिये बन्द करके पुनः चलाया जा सकता है। यदि मनुष्य को थोड़ी देर के लिये इस तरह निर्जीव-सा बनाकर पुनर्जीवित किया जाय, तो जितने समय वह निर्जीव रहेगा, उतने समय के लिए, उस मनुष्य के जीवन का तो क्या कहना, उसके लिये तो प्रत्येक वस्तु तथा समय भी ठहर गया। और ३० वर्ष का नवयुवक ५० वर्ष की समाधि के पश्चात् फिर भी ३० वर्ष का ही होगा!

परन्तु जीवनोपयोगी सभी कार्य करते हुए दीर्घायु होना ही मनुष्य की इच्छा रही है। प्रत्येक पहलू तथा प्रत्येक संभव उपाय

से उन नियमों की खोज की जा रही है, जिससे मनुष्य साधारण जीवन बिताते हुए भी बहुत देर तक मृत्यु से बच सके। यह बात अभी तक तो ठीक है कि मृत्यु ही जीवन का अन्त है। क्योंकि अब तक किसी ऐसी विधि का ज्ञान नहीं हो सका, जिससे मनुष्य सर्वदा जीवित रहे। मनुष्य जीवन के कार्य ही ऐसे हैं कि उसके सैल्स धीरे-धीरे शरीर के अन्दर अधिक से अधिक मात्रा में 'मल' पैदा करते चले जाते हैं। और विभिन्न सैल्स अपने ही पैदा किये हुए 'मल' के अन्दर इस तरह घिरते चले जाते हैं कि उन को आवश्यक खुराक पहुँचानी भी कठिन हो जाती है। हड्डियें दृढ़ हो कर अपने सैल्स को इसी पैदा होने वाले मल से घेरती चली जाती हैं। जिसेसे वह पूरी खुराक न मिलने के कारण कमजोर हो-होकर असमर्थ से होते चले चाते हैं। खून की नाड़ियों के सैल्स अपनी ही क्रिया के कारण इस तरह कठोर और मटियाले हो जाते हैं कि बहुत बुढ़ापे में झटके खा कर वह सूखे रबड़ की तरह टूटने लगते हैं और इस तरह दिमाग़, पट्ठे, मेदा आदि के सैल्स के समीप मलिनता के सैल्स का लेप कर के, उनको कमज़ोर बना कर इन सैल्स को भी खुराक पहुँचाना मुश्किल बना देते हैं। और इसी लिए शरीर के सब भाग धीरे-धीरे अपना काम करने के अयोग्य हो जाते हैं। अन्ततोगत्व इसी खुराक के न पहुंचने पर वे मर भी जाते हैं। किन्तु मनुष्य की मृत्यु उस भाग की कमज़ोरी के कारण मानी जायगी, जिसके सैल्स खुराक न मिलने के कारण सब से पहले काम छोड़ दें।

यह कमज़ोर हो गए सैल्स रोगों के भी बड़ी सुगमता से शिकार हो जाते हैं। ये रोग मनुष्य में दो कारणों से हो सकते

हैं। एक तो उसके शरीरिक अङ्ग प्रत्यङ्ग के बाहर के कीटाणुओं के कारण निर्बल हो कर यथाविधि कार्य न करने से और दूसरा बाहर के कारणों से।

ग्लैंड्स—शरीर के सब कार्यों को चलाने के लिये स्नायुओं से भी अधिक उपयोगी विशेष ग्लैण्ड्स को माना गया है। मनुष्य के अन्दर इस प्रकार ८ ग्लैण्ड्स हैं। इन में से प्रत्येक 'गिलटी' से 'एक तरह का रस' निकलता है और यह रस ही शरीर के लिये अमृत की बूँदें हैं। इन गिलटियों में सबसे अधिक आवश्यक पिच्यूटरी ग्लैण्ड हैं, जो दिमाग के नीचे होता है और इस ग्लैण्ड का रस न केवल शरीर की सब रसायनिक क्रियाओं को अपने अधीन रखता है, अपितु शेष सब गिलटियों के काम का भी नियंत्रण करता है। इस गिलटी का रस ही अस्थियों की रचना और बौने तथा बहुत लम्बे पुरुष बनाने में कारण है। दूसरा पेरीनल ग्लैण्ड है जिस को कभी आत्मा का स्थान समझा गया था। यह भी दिमाग में ही है। यह शरीर की बनावट के साथ साथ पुरुष स्त्री के युवा या युवती बनने पर भी नियन्त्रण करता है। ३ रा—ग्लैण्ड वह है, जिस के रस के कारण खुराक पचती है और शरीर में फैलती है। ४—इस तीसरे ग्लैण्ड के पास ही दो और गेहूँ के दाने के बराबर ग्लैण्ड होते हैं, जिन का रस हड्डियों पर असर रखता है। ५—गले के नीचे छाती के ग्लैण्ड होते हैं। इस के रस का अभी ठीक तरह पता नहीं चला। पर जिन चूहों को इस के रस पर पाला गया, वे ८० से १२० दिन में सन्तान पैदा करने के स्थान पर केवल ४३ दिन में ही ८ बच्चों को पैदा करने लग गए। ६—मेदे के नीचे इसी तरह का एक और ग्लैण्ड है। इस में से तीन रस निकलते हैं, जो भोजन पचाने का काम करते हैं। इनमें से एक

इनसोलिन है, जिस की कमी से बहुमूत्र तथा मधुमेह की बीमारी हो जाती है और जिगर भी अपना काम छोड़ देता है। ७—गुर्दे के ऊपर एक और ग्लैण्ड है जिस का रस शरीर के तन्तुओं के कार्यों की देखभाल करता है। यह पट्ठे, दिल, फेफड़े आदि सब का काम सम्यक्तया चलाता है। ८—इस के बाद रज और वीर्य पैदा करने वाली गिलटियां हैं, जिन का रस पुंस्त्व और स्त्रीत्व को वश में रखता है। शरीर के सम्पूर्ण कार्य इन ८ ग्लैण्ड्स में बंटे हुए हैं। और जब भी कभी एक ग्लैण्ड के रस में कमी या आधिक्य हो जाता है या किसी और प्रकार से उन में परिवर्तन हो जाता है तो शरीर में नाना रोग और दुर्बलताएं पैदा हो जाती हैं। इन ग्लैंण्ड्स के रसों का मनुष्य के पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर इतना प्रभाव है कि—इन रसों के इन्जेक्शन से ही मनुष्यों में स्त्रियोचित गुण पैदा हो जाते हैं। स्तन बढ़ कर उन में दूध आने लगता है। वह स्त्री की वेशभूषा को पसन्द करने लगता है। घरेलू धन्धों में उस का मन लगता है। इसी तरह लड़कियों में रसों के इन्जेक्शन से उन में पुरुषों के गुण पैदा किए जा सकते हैं।

इन रसों में से कई 'रस' तो विज्ञान शाला (Laboratory) में बनाये भी जा चुके हैं। और जिन रोगियों में इन की कमी होती है, उन्हें इन्जेक्शन (injection) द्वारा दिये जाते हैं। आज हजारों लाखों मधुमेह की बीमारी के रोगी इन्सोलिन के इन्जैक्शन के सहारे जीते हैं। यह भी संभव है कि शल्य-

क्रिया के द्वारा पुरानी और कमज़ोर गिलटियों को निकाल कर नई गिलटियां लगाई जा सकें या किसी और आदमी की स्वस्थ गिलटी का छोटा-सा टुकड़ा ले कर रोगी में से उसकी पुरानी गिलटी निकल कर इस तरह लगाया जाय कि यह गिलटी का टुकड़ा बढ़ कर पूरी गिलटी बन जाय और मनुष्य को पुनः नवजीवन दे।

इति

विश्व साहित्य ग्रन्थमाला के कुछ
प्रकाशन—

कहानी संग्रह—

संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ	२)
चरागाह (तुर्गनेव)	१)
पाप (चैखव)	१)
विवाह की कहानियां (हार्डी)	१)
वसीयतनामा (मोपासां)	१)
अमावस (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)	२॥)
भय का राज्य (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)	१)
नई कहानियाँ (जैनेन्द्रकुमार)	२)
प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	१।=)
चुनी हुई कहानियां (दुनीचन्द)	२)

नाटक—

राणा प्रताप (द्विजेन्द्रलाल राय)	१।=)
सिंहल विजय (,,	१॥)
अशोक (चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)	॥।=)
रेवा (,,)	१।)
वीर पेशवा (सन्तराम)	१।)
कुन्दमाला (दिंग्नाग)	१)

कविता—

अन्तर्वेदना (पुरुषार्थवती)	१।)
निशीथ (रामकुमार वर्मा)	१।)
कल्पना (मोहनलाल महतो)	१॥)

भय का राज्य १)

अमावस २॥)

लेखक—श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

"श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार में जीवित कल्पना शक्ति और विशाल सहानुभूति की भावना है। उनकी शैली स्वाभाविक है, वह कहीं भी बँध कर नहीं चलती। हमें विश्वास है कि पाठक उनकी कहानियों को अत्यधिक पसन्द करेंगे।"—लीडर (अलाहाबाद)

"श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार में कहानी लिखने की असाधारण प्रतिभा है। उनकी कल्पना उपजाऊ है, भाषा में जीवन है।"

—ट्रिब्यून, (लाहौर)

"हिन्दी-जगत चन्द्रगुप्त जी पर नाज़ कर सकता है और वस्तुतः वह हिन्दी जगत के लिये गौरव हैं।"

—विशाल भारत (कलकत्ता)

चन्द्रगुप्त जी की कल्पना ऊर्वरा है, भाषा में भाव है, चित्रण में रंग है, कहने में ढंग है।" —हंस (बनारस)

"चन्द्रगुप्त जी से हिन्दी को बहुत आशा है।"

— सरस्वती (इलाहाबाद)

"चन्द्रगुप्त जी ने एक जगह लिखा है—'मुझे विश्वास है कि पाठक मेरी इन कहानियों को अवश्य पसन्द करेंगे।' इस अभिमान के वह पूरे अधिकारी हैं।" —"विश्वमित्र (कलकत्ता)

"हिन्दी के आठ-दस सर्वोच्च कोटि के कहानी-लेखकों में चन्द्रगुप्त जी का प्रमुख स्थान है।" —चित्रपट (दिल्ली)

साहित्य भवन ५, फेन रोड, लाहौर।